योगेश्वर कृष्ण

चमूपति एम० ए०

सूर्यकुमारी ग्रन्थावली सं० १

ओ३म्

योगेश्वर कृष्ण

श्रीकृष्ण का
महाभारत से संकलित, पुराणानुमोदित ऐतिहासिक
जीवन-चरित

लेखक
चमूपति एम० ए०
प्रोफ़ेसर, तुलनात्मक धर्म-विज्ञान, गुरुकुल विश्वविद्यालय,
हरिद्वार

मूल्य २॥)

प्रकाशक
मुख्याधिष्ठाता
गुरुकुल विश्वविद्यालय,
काँगड़ी

संवत् १९८८

मुद्रक
के० मित्रा,
इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

परिचय

जयपुरराज्य के शेखावाटी प्रान्त में खेतड़ी राज्य है। यहाँ के राजा श्रीअजीतसिंहजी बहादुर बड़े तपस्वी व विद्या-प्रेमी हुए हैं। गणित-शास्त्र में उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वे दक्ष और गुण-ग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहिले और पीछे स्वामी विवेकानन्द उनके यहाँ महीनों रहे। स्वामीजी से घंटों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराज श्रीरामसिंहजी को छोड़कर ऐसी सर्वतोमुख प्रतिभा राजा श्रीअजीतसिंहजी ही में दिखाई दी।

राजा श्रीअजीतसिंहजी की रानी आउआ (मारवाड़) चाँपा-वतजी के गर्भ से तीन संतति हुई—दो कन्या, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूर्यकुँवरि थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्रीनाहरसिंहजी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्रीउम्मेदसिंहजी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँदकुँवरि का विवाह प्रतापगढ़ के महारावल साहब के

युवराज महाराज कुमार श्रीमानसिंहजी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंहजी थे, जो राजा श्रीअजीतसिंहजी और रानी चाँपावतजी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिन्तकों के लिए तीनों की स्मृति सञ्चित कर्मों के परिणाम से दुःखमय हुई। जयसिंहजी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ। और सारी प्रजा, सब शुभचिन्तक, सम्बन्धी, मित्र और गुरुजनों का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है। अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्रीसूर्यकुँवरि बाईजी को एक मात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरान्त हुआ। श्रीचाँदकुँवरि बाईजी को वैधव्य की विषम यातना भोगनी पड़ी और भ्रातृ-वियोग और पति-वियोग दोनों का असह्य दुःख वे झेल रही हैं। उनके एक-मात्र चिरंजीव प्रतापगढ़ के कुँवर श्रीरामसिंहजी से मातामह राजा श्रीअजीतसिंहजी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्य्यकुमारीजी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्रीउम्मेदसिंहजी ने उनके जीवन-काल में दूसरा विवाह नहीं किया। किन्तु उनके वियोग के पीछे उनके इच्छानुसार कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजाव वंशांकुर श्रीसुदर्शनदेवजी विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्य्यकुमारीजी बहुत शिक्षिता थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिन्दी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिन्दी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुन्दर होते थे कि देखनेवाले चमत्कृत रह जाते। स्वर्गवास के कुछ समय पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानन्द के सब ग्रन्थों, व्याख्यानों और लेखों का प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद मैं छपवाऊँगी। बाल्यकाल से ही स्वामीजी के लेखों और अध्यात्म—विशेषत: अद्वैत वेदान्त की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निर्देशानुसार इसका कार्य-क्रम बाँधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इस सम्बन्ध में हिन्दी में उत्तमोत्तम ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए एक अक्षय निधि की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्था-पत्र बनते बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

महाराज कुमार उमेदसिंहजी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार:—

१—२०,०००) बीस हज़ार रुपये देकर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के द्वारा 'सूर्य्यकुमारी ग्रन्थमाला' के प्रकाशन की व्यवस्था की।

२—३०,०००) तीस हज़ार रुपये के सूद से गुरुकुल-विश्वविद्यालय काँगड़ी में सूर्य्यकुमारी आर्य्य भाषा गद्दी (चेअर) की स्थापना की।

३—५,०००) पाँच हज़ार रुपये से उपरोक्त गुरुकुल में चेअर के साथ ही 'सूर्यकुमारी-निधि' की स्थापना कर 'सूर्य्य-कुमारी-ग्रन्थावलि' के प्रकाशन की व्यवस्था की।

४—५,०००) पाँच हज़ार रुपये दर्बार हाई स्कूल शाहपुरा में 'सूर्य्यकुमारी-विज्ञान-भवन' के लिए प्रदान किये।

इस 'सूर्य्यकुमारी-ग्रन्थावलि' में आर्य्य भाषा के उत्तमोत्तम ग्रन्थ छापे जायँगे। और इसकी विक्री की आय इसी निधि में जमा होती रहेगी, इस प्रकार श्रीमती सूर्य्यकुमारीजी तथा श्रीमहाराज कुमार उमेदसिंहजी के पुण्य तथा यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिन्दी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों को ज्ञान लाभ होगा।

ओ३म्

भूमिका

सा विभूतिरनुभावसम्पदां भूयसी तव यदायतायति ।
एतदूढगुरुभार ! भारतं वर्षमद्य मम वर्तते वशे ॥

शिशुपालवध १४,५

"हे भारी भार सँभाले (श्रीकृष्ण) ! आपकी कृपा का यह कितना बड़ा चमत्कार है कि आज से (सारा) भारतवर्ष मेरे अधिकार में है ।"

माघ कवि ने शिशुपालवध में युधिष्ठिर से श्रीकृष्ण को इन शब्दों में संबोधित कराया है । "भारी भार सँभाले !" यह विशेषण अर्थ-गर्भित है । युधिष्ठिर के साम्राज्य का भार वस्तुतः श्रीकृष्ण ही के कन्धों पर था । कवि ने इसी भाव को लक्ष्य में रखकर इस विशेषण का अत्यन्त भावपूर्ण प्रयोग किया है । परन्तु इस इंगित को समझा टीकाकार भी तो नहीं । उसने श्रीकृष्ण पर भारत के साम्राज्य का नहीं, "विश्वंभरत्व" का भार लाद दिया है । कवि के सम्मुख युधिष्ठिर का "मन्त्री",

पाण्डव साम्राज्य का निर्माता, महाभारत का "श्रेष्ठ पुरुष"[१] श्रीकृष्ण था। टीकाकार की आँखों में विष्णु का अवतार साक्षात् परमेश्वर विश्वम्भर श्रीकृष्ण। किस भाव का सामयिक औचित्य अधिक है, किस "भार" में, स्वाभाविक धन्यवाद के उद्गारों की दृष्टि से, अधिक समयोचित "गुरुता", अधिक प्रकरणोचित "गौरव" है, साहित्य के सहृदय मर्मज्ञ स्वयं समझें और आनन्द लें। कवि का कौशल "ऊढगुरुभार!" इस संक्षिप्त से सम्बोधन में है। इस छः अक्षर की छोटो सी पदावली में श्रीकृष्ण के जीवन का सारा सार आ गया है।

महाभारत की कथा पाण्डवों के संकटमय जन्म से आरंभ होती है और उनके कण्टकाकीर्ण बालकाल तथा आपत्तियों से व्याप्त युवावस्था का वर्णन कर भारतीय कवियों की इस मर्यादा के अनुसार कि कवि की रचना सदा सुखान्त ही होनी चाहिए, सम्पूर्ण भारतवर्ष पर युधिष्ठिर के साम्राज्य की स्थापना के साथ समाप्त हो जाती है। महाभारत की सुखान्त समाप्ति का अवसर युधिष्ठिर का अश्वमेध है। वास्तविक कहानी की यहीं इतिश्रीः हुई है।

१—दुर्योधन ने कहा हैः—

त्वञ्च श्रेष्ठतमो लोके सतामद्य जनार्दन। उद्योग० ६, १४

स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं—

अहं हि तत् करिष्यामि परं पुरुषकारतः।
दैवन्तु न मया शक्यं कर्म कर्तुं कथञ्चन॥ भीष्म० ७६, ५-६

युधिष्ठिर से पूर्व जरासन्ध भारत के एक बड़े भाग का सम्राट् था। उसके साम्राज्य का साधन था पाशविक बल[१]। वह भारत में शासन की विभिन्नता को मिटाना चाहता था। घर घर का अपना राज्य हो और इस राज्य की अपनी राज्य-प्रणाली हो, यह उसे असह्य था। १८ भोजकुलों को उसने तहस-नहस कर दिया। यादवों के "संघ" को मिटा कर उसकी जगह कंस को मथुरा का एकराट् (Monarch) बनाया। कई गण-राज्य (Republics) नष्ट-भ्रष्ट कर दिये। छियासी राजाओं को इस प्रकार बन्दी बना दिया और घोषणा

१—तस्मादिह बलादेव साम्राज्यं कुरुते हि सः। सभा० १५, १८ "साम्राज्य" शब्द महाभारत में दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इसका एक अर्थ तो वही है जो अँगरेज़ी शब्द एम्पायर (Empire) का। इसमें कई राज्य परवश होकर बलात्-कार से ही किसी महान् सम्राट् के अधीन होते हैं। ऐसा साम्राज्य जरासंध का था। साम्राज्य शब्द का एक और अर्थ वह है जो अँगरेज़ी में कामनवेल्थ (Commonwealth) शब्द से प्रकट किया जाता है। शिशुपाल कहता ही है :—

हम युधिष्ठिर के डर से या लोभ से या इससे संधि होने के कारण इसे कर नहीं देते। हम इसे धर्म में प्रवृत्त जानते हैं। इसलिए कर देते हैं। सभापर्व ३७, १९-२० अर्थात् युधिष्ठिर का साम्राज्य पाशविक बल पर नहीं, किन्तु धर्म पर—समस्त राष्ट्रों की स्वसम्मति पर—आश्रित था। श्रीकृष्ण ने साम्राज्यों की इस विभिन्नता का वर्णन सभापर्व १५, १५-१६ में किया है।

को कि बन्दी राजाओं की संख्या सौ हो जाने पर इन्हें महादेव की बलि चढ़ाया जायगा।[१]

श्रीकृष्ण शिक्षा समाप्त कर अभी पितृगृह में आये ही थे कि उनके दृष्टिगोचर यह स्थिति हुई। इस अल्पवयस्क अवस्था में उन्होंने अपने घर की फूट को किस बुद्धिमत्ता से मिटाया और कंस को मार तथा जरासंध की सेनाओं को बारम्बार पराजित कर किस दूरदर्शिता तथा कार्यकुशलता से संघ की फिर से स्थापना की, संसार के राजनैतिक इतिहास में यह एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण तथा मनोरम घटना है।[२]

मागध-साम्राज्य के दाँतों तले अपनी मथुरा की राजधानी को सुरक्षित न समझ कर श्रीकृष्ण ने वृष्णियों और अन्धकों के सत्रह कुल द्वारवती में जा बसाये और वहीं यादव-संघ की राजधानी स्थापित कर दी। इस प्रकार अपने घर की चिन्ता से मुक्त होकर श्रीकृष्ण ने अपने जीवन का लक्ष्य समूचे भारत को जरासंध के पंजे से छुड़ाना और उसे आर्य-साम्राज्य या दूसरे शब्दों में आत्म-निर्णय के मौलिक सिद्धान्त पर आश्रित भारतवर्ष के छोटे बड़े एकराट्, बहुराट्, संघ, श्रेणी, सभी प्रकार के राज्यों के संगठन (Commonwealth) की छत्रच्छाया में लाना निश्चित किया। यही वह "गुरुभार" था

१—देखो अध्याय ४, ६।

२—देखो अध्याय ३।

जिसके "वाहन" का बीड़ा श्रीकृष्ण ने उठाया। इस गुरुभार कार्य के सफलतापूर्वक निबाह देने के कारण कवि ने श्रीकृष्ण को "ऊढगुरुभार" कहा।

पाँचों पाण्डव श्रीकृष्ण के फुफेरे भाई थे। उनसे इनकी पहली भेंट वन ही में हुई। अर्जुन ने ब्राह्मण के वेष में द्रौपदी का स्वयंवर जीता था। परास्त क्षत्रिय उपद्रव कर रहे थे। श्रीकृष्ण ने बीच में पड़कर झगड़े को शान्त किया। श्रीकृष्ण की आँखों में पाण्डवों की वीरता जँच गई और पाण्डवों को श्रीकृष्ण की अचूक नीति-निपुणता तथा आपत्ति में ठीक समय पर आड़े आनेवाली सहायता का पूरा भरोसा हो गया।

धृतराष्ट्र से आधा राज्य पाने, इन्द्रप्रस्थ में नई राजधानी बसाने, खाण्डव वन को जलाकर उस सारे प्रान्त को मनुष्यों के रहने योग्य बनाने इत्यादि सभी कार्यों में कृष्ण पाण्डवों के एकमात्र अगुआ, एकमात्र आधार थे। अर्जुन और सुभद्रा के विवाह ने हृदयों की इस गाँठ को और भी पक्का—नितान्त अटूट—कर दिया। अनन्य मित्रों की यह जोड़ी कृष्ण-युगल अर्थात् "दो कृष्ण" कहलाने लगी।

युधिष्ठिर ने राजसूय की ठानी। जरासन्ध का वध बिना ख़ून की एक भी अनावश्यक बूँद गिराये हो गया। इन सभी कार्यों में श्रीकृष्ण की अगाध नीति-निपुणता ने ग़ज़ब के जौहर दिखलाये। अब क्या था? पाण्डवों ने भारत का दिग्विजय

किया। दिग्-दिगन्तरों के राजा राजसूय में सम्मिलित हुए। आगे इन राज्यों की नामावली तथा चित्र दिया गया है। समस्त भारत अफ़ग़ानिस्तान तथा चीन के कुछ भाग-समेत उसमें समाविष्ट है। युधिष्ठिर सम्राट् हो गये। कृष्ण की मन:कामना पूरी हुई।

कृष्ण यज्ञ में अर्घ के पात्र माने गये। उन्हें अपनी बल-बुद्धि का भरोसा था। भीष्म ने अर्घदान के लिए इनका प्रस्ताव करते हुए स्पष्ट कहा था कि उपस्थित राजाओं में कोई वीर्य में, विद्या में, किसी भी गुण में इनके जोड़ का नहीं। इस एक उक्ति ने राजाओं को आगबगूला कर दिया। कृष्ण राजा न थे। राज-निर्माता थे। ये संभवत: राजाओं की दिव्य सत्ता (Divinity of Kings) के सिद्धान्त को नहीं मानते थे।[1] इन्होंने कंस का वध स्वयं किया था और जरासन्ध को भीमसेन से मरवा दिया था। राजा लोगों में इनकी इस उच्छृङ्खलता के कारण असन्तोष था। शिशुपाल ने इस असन्तोष का प्रकाश वहीं यज्ञ के अवसर पर ही खुले शब्दों में कर दिया। क्रोध का मारा वह शिष्टता की सभी सीमाओं का उल्लङ्घन कर गया जिसका दण्ड कृष्ण ने उसे सुदर्शन-चक्र के

१—भीष्मपर्व ९९, १०० में भीष्म के "राजा परं दैवतम्" ऐसा कहने पर कृष्ण ने उत्तर दिया:—'त्यक्तस्तु कंसो यदुभिर्हितार्थे' इत्यादि।

एक घुमाव से हाथों हाथ दे डाला। शिशुपाल सुदर्शन के एक ही वार में खेत रहा।

यज्ञ हो गया परन्तु राजाओं का विरोध चाहे उस समय के लिए दब गया हो, शान्त नहीं हुआ। उलटा तीव्र हो उठा। दुर्योधन की पाण्डवों से पुरानी लाग थी। उसने असन्तुष्ट राजाओं से मिलकर षड्यन्त्र किया। एक सभा रची। उसमें पाण्डवों को निमन्त्रित कर युधिष्ठिर और शकुनि में जुए का मैच करवा दिया। युधिष्ठिर अपना साम्राज्य, अपने भाई, यहाँ तक कि अपनी धर्मपत्नी तक को हार गया। जुआ तो ज़ाहिर का बहाना था। वास्तव में साम्राज्य उसी समय शकुनि के दाँव पर हारा जा चुका था जब श्रीकृष्ण को अर्घ-प्रदान हुआ था और शिशुपाल का वध किया गया था।

पाण्डव बारह वर्ष के लिए वनवास और एक वर्ष के लिए अज्ञात-वास में चले गये। इससे पूर्व भी वे वनवास कर चुके थे। उस वनवास की समाप्ति द्रौपदी के विवाह पर हुई थी और उसका फल द्रुपद की मैत्री था। इस बार के वनवास का अन्त अभिमन्यु और उत्तरा के विवाह में हुआ। इससे विराट ऐसा सम्पत्तिशाली राष्ट्र पाण्डवों की पीठ पर हो गया। कौरवों से राज्य लौटाने की मन्त्रणा वहीं मत्स्यराज विराट की सभा ही में हुई।

कृष्ण चाहते थे, युद्ध न हो। यह जानते हुए भी कि दुर्योधन हठी है और उसके मन्त्री शकुनि, दुःशासन और कर्ण हैं जो उसे कभी सीधे रास्ते पर आने न देंगे, ये हस्तिनापुर गये और विदुर के मेहमान हुए। कोई यह न कहे कि कृष्ण ने शक्ति रहते हुए भी युद्ध नहीं टाला, इन्होंने संधि करा देने का पूरा प्रयत्न किया। समझाया, बुझाया, डराया, धमकाया।[१] इस सारे प्रयत्न का फल केवल यह हुआ कि दुर्योधन अन्तर्राष्ट्र नीति के सभी नियमों पर पानी फेर कर उलटा इन्हें ही क़ैद करने के मनसूबे बाँधने लगा। इनकी नारायणी सेना का कुछ भाग कृतवर्मा की अध्यक्षता में हस्तिनापुर में विद्यमान था। कृतवर्मा दुर्योधन के पक्ष में था सही, परन्तु कृष्ण का पकड़ा जाना उसे भी कहाँ सह्य हो सकता था? सेना-समेत सभा के द्वार पर आ डटा। कृष्ण ने दूत के कर्तव्य का पालन किया। वे शान्त रहे। नहीं तो वहीं तलवार चल जाती। धृतराष्ट्र के सामने इन्होंने यह प्रस्ताव ज़रूर रक्खा कि दुर्योधन को उसकी चाण्डाल-चौकड़ी-समेत पाण्डवों के हवाले कर दीजिए।

दुर्योधन कृष्ण के समझाये भी नहीं समझा। लड़ाई हुई। सारा भारतवर्ष कुछ इस तरफ़, कुछ उस तरफ़, युद्ध में प्रवृत्त हो गया। बहुत ख़ून ख़राबा हुआ। सभी

१—विस्तार के लिए देखो अध्याय १२, श्रीकृष्ण की बसीठी।

राजकुल तबाह हुए। शान्ति होने पर युधिष्ठिर ने अश्वमेध किया। उसके लिए फिर दिग्विजय हुआ। इस दिग्विजय में रक्तपात न करने, विशेषतया राजाओं पर तलवार न चलाने का विशेष ध्यान रखा गया। राजसूय के अनुभव ने इस दफ़े विजेताओं को पूरा सावधान कर दिया था। यहाँ तक कि यज्ञ के आरम्भ में श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को अर्जुन का संदेश दिया कि इस बार अर्घदान का पचड़ा नहीं करना। श्रीकृष्ण की ओर से यह संदेश—वास्तव में यह उनका आदेश था—निर्ममता की पराकाष्ठा थी।[१] अश्वमेध असफल राजसूय की सफल पुनरावृत्ति थी। श्रीकृष्ण ने राजसूय में ब्राह्मणों के पाँव धोये थे और राजसभा में अर्घ लिया था। अश्वमेध में वे इस प्रकार के सभी कार्यों से तटस्थ रहे। यह थी उनकी अहंकार-शून्यता! गीता में कही पूर्ण अनासक्ति!! पूर्ण निर्लेपता!!!

महाभारत के युद्ध के ३६ वर्ष पश्चात् तक श्रीकृष्ण जीवित रहे। उन्हों ने भारत को जरासंन्ध के अत्याचार-युक्त एकसत्तात्मक साम्राज्य (Empire) से निकाल कर युधिष्ठिर के आत्मनिर्णयमूलक आर्यसाम्राज्य (Commonwealth) के सूत्र में संगठित किया। उन्होंने इस साम्राज्य को फलते-फूलते देखा। यही भुवन-भावन, हमारी दृष्टि में भारत-भावन, श्रीकृष्ण

१—देखो अध्याय २१, अश्वमेध अर्थात् पाण्डव साम्राज्य की पुनः स्थापना।

की वह अद्भुत विभूति थी जिसके आगे युधिष्ठिर, या उसे अगुआ बना कर समूचा भारत, नत-मस्तिष्क हुआ और अब तक है। इसी हेतु कवि ने उन्हें "ऊढगुरुभार" कहा।

सञ्जय ने सच कहा था:—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

४२, ७७

"जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं, जहाँ धनुर्धर अर्जुन हैं, वहाँ लक्ष्मी है, विजय है, अटूट नीति है। यह मेरी दृढ़ धारणा है।" भीष्म शान्तिपर्व में कहते हैं:—

सर्वे योगा राजधर्मेषु चोक्ताः। शान्ति० ६२, ३२

"सभी योग राजधर्म में कहे हैं।" कोष में भी कहा है:—

"योगः संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु।" महाभारत में " योग " शब्द का प्रयोग नीति तथा उपाय के अर्थ में हुआ है। स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं:—"योगः कर्मसु कौशलम्।" द्रोण ने कहा, युधिष्ठिर का निग्रह "योग" से होगा, अर्थात् उपाय से। भीष्म के शब्दों में सब योगों का एक योगराज-धर्म है। कृष्ण उसी के ईश्वर, उसी के पारंगत पण्डित, उसी की मूर्त प्रतिमा थे। वे इसी से "योगेश्वर" कहलाये। सचमुच एक साम्राज्य (Commonwealth) की स्थापना से बड़ा और कौन सा योग हो सकता था। उसी योग का फल "श्रीः, विजय, विभूति, ध्रुवनीति" है। यह है संक्षेप

में श्रीकृष्ण का सर्वजनीन जीवन जिसे महाभारतकार ने श्रीकृष्ण का योग कहा है।

श्रीकृष्ण के इसी सर्वजनीन जीवन का वर्णन ही महाभारत में किया गया है। योगेश्वर कृष्ण के इस 'योग' का लेखक ने इस पुस्तक में सप्रमाण उल्लेख किया है। जन्म, विवाह, अपने कुल में स्थिति, वानप्रस्थ, देहान्त इत्यादि निजी जीवन की बातों पर भी महाभारत में बिखरे संकेतों का संग्रह कर उनका विस्तार पुराण आदि की सहायता से किया गया है। महाभारत श्रीकृष्ण की सबसे पहली जीवनी है। वह जिन विषयों में चुप है, उनके सम्बन्ध में भी दूसरे प्रकरणों में आये निर्देशों द्वारा प्रचुर प्रकाश डालती है। हमने महाभारत के इन निर्देशों को प्रदीप बना पौराणिक वृत्तान्तों का मौलिक भाव समझने का प्रयत्न किया है। एक पृथक् अध्याय भी श्रीकृष्ण के पुराण-कथित जीवन के अर्पण कर दिया है। पुराणों ने अधिक महत्त्व श्रीकृष्ण के जन्म तथा बालकाल को दिया है। इसे उन्होंने एक चमत्कारपूर्ण अलौकिक घटना बना दिया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वास्तविक महत्त्व तो महापुरुषों के सार्वजनिक जीवन का ही हो सकता है। बालकाल इस अद्भुत प्रौढावस्था के अद्भुत चमत्कार के कारण स्वयं चमक उठा करता है। "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" की कहावत किसी के 'होनहार' सिद्ध होने पर चरितार्थ

की जाती है। श्रीकृष्ण के सार्वजनिक जीवन की छटा मानव है, बालकाल की दिव्य। ऐसा होना स्वाभाविक था।

प्रो० भाण्डारकर की इस कल्पना से कि श्रीकृष्ण का वास्तविक नाम वासुदेव था, कृष्ण उनके गोत्र का नाम था, उनके पिता के लिए वसुदेव तथा उनकी माता के लिए देवकी नाम पीछे से गढ़ लिया गया,[१] हम सहमत नहीं हो सके। पार्जिटर महाशय ने पौराणिक वंशावलियों का ऐतिहासिक महत्त्व बड़ी योग्यता से प्रमाणित किया है। उनकी सम्मति में ये वंशावलियाँ कृत्रिम नहीं हैं। यही हमारा मत है। वसुदेव का नाम पुराणों में आई प्रत्येक वंशावली में आया है। महाभारत में स्वयं वसुदेव के सम्बन्ध में कई स्वतन्त्र उल्लेख हैं और वहाँ उनका नाम वसुदेव ही है।[२] हमारे मत में कृष्ण वसुदेव के पुत्र थे, इसी लिए वे वासुदेव कहलाये। आगे चल कर वासुदेव मानो उनका निज नाम

१—Vaishnavism, P 10.

२—यथा आदिपर्व १६३-३२ में कुन्ती को "स्वसारं वसुदेवस्य," आदिपर्व २३९, १९ में सुभद्रा को "वसुदेवसुताम्" कहा है। द्रोणपर्व १४४, १० में शिनि के देवकी को स्वयंवर में जीतने और वसुदेव से उसका विवाह कराने का वर्णन इस प्रकार आया है:—तत्र वै देवकीं देवीं वसुदेवार्थमाशु वै। निर्जित्य पार्थिवान् सर्वान् रथमारोपयच्छिनिः ॥

हो गया। उसकी स्वतन्त्र व्युत्पत्तियाँ होने लगीं।[1] इसी से पीछे के साहित्य में इस नाम का अधिक उपयोग भी पाया जाता है।

श्रीकृष्ण संसार के सामने उस समय आते हैं जब वे अपने कुल की आन्तरिक फूट को मिटाकर कंस का वध करते हैं। उस समय उनकी आयु इतनी अवश्य होगी कि आहुक और अक्रूर जैसे प्रौढ पुरुषों को विवाह के नाते आपस में एकीभूत कर दें। इससे पूर्व वे क्या करते थे? हमारे विचार में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। यही कल्पना कलकत्ता-यूनिवर्सिटी के इतिहासाध्यापक श्रीयुत हेमचन्द्र राय चौधरी एम० ए० की है।[2] छान्दोग्योपनिषद् में एक कृष्ण देवकीपुत्र का वर्णन है। उसने घोर आंगिरस से उपदेश लिया था।[3] चौधरी महाशय उस उपदेश की तुलना गीता के केन्द्रीभूत उपदेश से कर कहते हैं, ये वही यादव कृष्ण हैं। इनके गुरु घोर आंगिरस नाम के ऋषि थे। शतपथ में एक स्थान पर

१—यथा महाभारत में—

वसनात् सर्वभूतानां वसुत्वाद् देवयोनितः।
वासुदेवस्ततो वेद्यो बृहत्वाद् विष्णुरुच्यते ॥ महाभारत वन० १०, ३

२—Early History of the Vaishnaua Secth 45.

३—तद्धैतद् घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाच। छान्दोग्य ३, १७, ६।

नक्षत्रों की एक विशेष स्थिति का उल्लेख है।[१] ज्योतिष शास्त्र की गणनाओं से इस स्थिति का काल वही निश्चित होता है जो अन्य साधनों से महाभारत का। शतपथ और छान्दोग्य तो समकालीन माने ही जाते हैं। इससे उक्त कल्पना को और पुष्टि मिलती है। परन्तु महाभारत में घोर आंगिरस का नाम कहीं नहीं आया। हो सकता है उपनिषत्कथित कृष्ण और हों और महाभारत के कर्णधार कृष्ण और। तो भी श्रीकृष्ण का वह आयु शिक्षोपार्जन में बीती होगी, इतना अनुमान दुरूह नहीं।

शिक्षाकाल वृन्दावन के आसपास ही बीता होगा और वृषासुर, हयासुर (पागल बैल तथा जङ्गली घोड़े) का वध उसी प्रान्त में किया गया होगा। गोवर्धनधारण की काव्य-मयी घटना—जो गोवर्धन पर्वत पर गोपों की बस्ती बसाने और सप्ताह भर रात-दिन जाग कर उसे बाढ़ में, बरसात में, मानों अपनी हथेली पर थामे रहने का कवितापूर्ण वृत्तान्त है—यहीं घटी होगी।[२]

रुक्मिणी से विवाह द्वारवती में जा बसने के पश्चात् हुआ है। भोजकट के निकट आकर रुक्मिणी का भाई रुक्मी इस विवाह में सहमत हो गया है। अतः इसे "राक्षस

१—देखो अध्याय १, वंश, स्थान और समय।

२—देखो अध्याय २, बालकाल और शिक्षा।

विवाह" नहीं कह सकते।[१] विवाह के पश्चात् पतिपत्नी का पुत्र की प्राप्ति के लिए बारह वर्ष ब्रह्मचर्य-पूर्वक हिमालय के दामन में तपस्या करना गार्हस्थ्य जीवन का आदर्श संयम है।[२]

यादव राष्ट्र में पहले तो शाल्वराज के आक्रमण के समय और अन्त में साधारण रूप से राजाज्ञा द्वारा मदिरापान का निषेध श्रीकृष्ण के नैतिक ध्येयों का उज्ज्वल प्रमाण है। श्रीकृष्ण मदिरापान के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने इसके लिए प्राणदण्ड निश्चित किया।[३]

१—विस्तार के लिए देखो अध्याय ५, रुक्मिणी।

२—ब्रह्मचर्यं महद् घोरं चीर्त्वा द्वादशवार्षिकम्।
हिमवत् पार्श्वमभ्येत्य यो मया तपसार्जितः॥
समानव्रतचारिण्यां रुक्मिण्यां योऽन्वजायत।
सनत्कुमारस्तेजस्वी प्रद्युम्नो नाम वै सुतः॥
सौप्तिक पर्व १२,३०-३१

३—आघोषितं च नगरे न पातव्या सुरेति वै। वनपर्व १५,१२
देखो अध्याय १२, सौभनगर की लड़ाई।
अघोषयंश्च नगरे वचनादाहुकस्य ते।
जनार्दनस्य रामस्य बभ्रोश्चैव महात्मनः॥
अद्यप्रभृति सर्वेषु वृष्ण्यन्धककुलेष्विह।
सुरासवो न कर्तव्यः सर्वैर्नगरवासिभिः॥
यश्च नो विदितं कुर्यात् पेयं कश्चिन्नरः क्वचित्।
जीवन् स शूलमारोहेत् स्वयं कृत्वा सबान्धवः॥
मौसलपर्व १५, २८-३०
देखो अध्याय ३०, यादववंश का नाश।

महाभारत के युद्ध की कुछ घटनाओं के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इनमें श्रीकृष्ण ने कूट—अनार्य—नीति का प्रयोग किया। उदाहरणतया शिखण्डी को आगे कर अर्जुन से उसकी ओट में भीष्म को मरवा दिया। हमने महाभारत के प्रमाणों से इस घटना पर विस्तृत विवेचन किया है। शिखण्डी वीर था। उसकी गणना पाण्डवपक्ष के महारथियों में स्वयं भीष्म ने की है। भीष्म का वध उसी ने किया था। भीष्म उसके वार का प्रतिकार करने में असमर्थ हो गये। कारण कि अर्जुन जो शिखण्डी की सहायता कर रहा था, अपनी धनुर्विद्या की अद्भुत कुशलता से उनके प्रत्येक धनुष को, ज्योंही वे उसे हाथ में लेते और उस पर चिल्ला चढ़ाते, चटपट तोड़ देता था। भीष्म ने अर्जुन की इसी चतुराई को ध्यान में रख कर कहा था कि मैं शिखण्डी के तीरों से नहीं मरा, ये तीर वास्तव में अर्जुन के हैं। यह प्रशंसा लाक्षणिक थी। भीष्म ने अर्जुन पर शक्ति का वार किया। अतः वह ओट में तो था ही नहीं। सहायता भीष्म की भी और कौरव वीर कर रहे थे।[१] ऐसा करना उस समय की लड़ाई में विहित था।

द्रोण, कर्ण तथा दुर्योधन की मृत्यु का स्पष्टीकरण भी महाभारत ही के श्लोकों से तत्तत् प्रकरण में कर दिया गया है। इन प्रसंगों में श्रीकृष्ण का दोष है या नहीं? पाठक स्वयं निर्णय करें। वे अहिंसा और सत्य के पूरे पक्षपाती

१—देखो अध्याय १८, भीष्म बाबा की शरशय्या।

थे। क्या उनका जीवन भी इन गुणों के साँचे में ढला हुआ था? इसका निश्चय घटनाओं के गंभीर अध्ययन द्वारा ही किया जा सकता है।

श्रीकृष्ण के शील का पता इस बात से लगता है कि व्यास, धृतराष्ट्र, कुन्ती तथा युधिष्ठिर आदि बड़ों से वे जब भी मिले हैं, सदा उनके चरणों को छूते रहे हैं। धृतराष्ट्र को नमस्ते कहते हैं। महाभारतकाल में "नमस्ते" शब्द का प्रयोग अभिवादन के समय अन्यत्र भी किया गया है।[१]

संध्या और हवन के श्रीकृष्ण पूरे निष्ठावान् थे। दूतकर्म पर जाते हुए रास्ते में साँझ हो गई। ये संध्या के लिए रुक गये। हस्तिनापुर में प्रातःकाल सभा में जाने से पहले सन्ध्या तथा अग्निहोत्र से निवृत्त हुए हैं। अभिमन्यु के वध के दिन सायं-काल अपने शिविर में जाने से पूर्व कृष्ण और अर्जुन दोनों ने

१—द्वारपाल धृतराष्ट्र के प्रतिः—सञ्जयोऽयं भूमिपते नमस्ते दिष्ट्या द्वारमुपागतस्ते। उद्योग० ३१, ५

सञ्जय धृतराष्ट्र सेः— सञ्जयोऽहं भूमिपते नमस्ते प्राप्तोऽस्मि गत्वा नरदेव पाण्डवान्। उद्योग० ३१, ८

श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र सेः—शिवेन पाण्डवान् ध्याहि नमस्ते भरतर्षभ। शल्य० ६३, ५१

संध्या की है।[१] युधिष्ठिर और धृतराष्ट्र की दिनचर्या में भी सन्ध्या और हवन का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। इससे उस समय की धार्मिक निष्ठा पर उज्ज्वल प्रकाश पड़ता है।

माता-पिता के प्रेम की अवस्था यह है कि युधिष्ठिर के पास रहते हुए जब भी घर जाने की इच्छा हुई है, हमेशा यात्रा का यही हेतु बताया है कि पितृपादों के दर्शन करने हैं।

इस प्रकार श्रीकृष्ण के चरित्र में निजी तथा सार्वजनिक जीवन के आदर्श उत्कर्षों का एक अद्भुत समन्वय पाया जाता है। देश की चिन्ता में कुल के हित को भी हाथ से नहीं जाने देते, और कुल के हित का सर्वोच्च साधन वैयक्तिक पवित्रता को समझते हैं। महाभारत का युद्ध ठन गया। पाण्डवों के कर्णधार श्रीकृष्ण थे। उधर यादवों की सहानुभूति दोनों पक्षों में बँट गई। बलराम ने बल दिया कि दुर्योधन की सहायता करो। कृतवर्मा आदि स्पष्ट उस ओर हो ही गये। इस

१—अवतीर्य रथात् तूर्णं कृत्वा शौचं यथाविधि ।
रथमोचनमादिश्य सन्ध्यामुपविवेश ह ॥

उद्योगपर्व ८३, २१

कृतोदकानुजप्यः स हुताग्निः समलङ्कृतः ।

उद्योगपर्व ८३, ६

ततः सन्ध्यामुपास्यैव वीरौ वीरावसादने ।
कथयन्तौ रणे वृत्तं प्रयातौ रथमास्थितौ ॥

द्रोणपर्व ७२, ८

समय श्रीकृष्ण की नीति-निपुणता काम आई। वे अर्जुन के सारथि हो गये। इससे पाण्डवों के अग्रणी बने रहे। परन्तु फिर उन्होंने निश्शस्त्र होने की प्रतिज्ञा कर ली। इससे अपनों पर हाथ उठाने का अवसर भी न आने दिया। सेना कुछ कृतवर्मा के साथ दुर्योधन की ओर हो गई, कुछ चेकितान और सात्यकि के साथ पाण्डवों की ओर। दुर्योधन और अर्जुन के सिरहाने पैताने आ बैठने की बात निरा बच्चों का बहलावा है। इस महत्त्व के राजनैतिक प्रश्नों का निर्णय सिरहाने पैताने के आकस्मिक काकतालीयों से नहीं हुआ करता। इस ज़रा से निर्णय में भी श्रीकृष्ण की अपूर्व बुद्धिमत्ता अपना पूर्ण प्रकाश दिखा रही थी।

इस नीति के पुतले, शील की प्रतिमा, सदाचार के अवतार, वेदविद्या के सागर, आदर्श साम्राज्य-निर्माता, शूरशिरोमणि, भारतभावन श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द लिखते हैं:—

श्रीकृष्णजी का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुणकर्मस्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है। जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्रीकृष्णजी ने जन्म से मरणपर्यन्त, बुरा काम, कुछ भी किया हो, ऐसा नहीं लिखा। (सत्यार्थप्रकाश १५ वीं बार, एकादश समुल्लास, पृ० ३५६)।

ऋषि के इस मार्मिक निर्देश से सबसे पूर्व क्रियात्मक रूप से लाभ उठाने का श्रेय श्रीबंकिमचन्द्र चैटरजी को है। उन्होंने

"कृष्णचरित्र" नामक पुस्तक लिखा। वह महाभारताश्रित श्रीकृष्ण की सबसे पहली जीवनी है। उसके पश्चात् कुछ छोटी मोटी और भी पुस्तकें लिखी गई हैं। परन्तु वे बंकिम की कृति को नहीं पहुँचतीं।[१] श्रीकृष्ण के जीवन-चरित्र की सामग्री के सम्बन्ध में श्रीबंकिमचन्द्र ने एक नियम निर्धारित किया। उनका कहना है:—

असल बात यह है कि जिन ग्रन्थों में निर्मूल अस्वाभाविक और अलौकिक बातें जितनी अधिक मिल गई हैं, वे उतने ही नये हैं। इसी नियम के अनुसार आलोचना करने योग्य जितने ग्रन्थ हैं, उनका क्रम इस प्रकार स्थिर होता है:— (१) महाभारत की पहला तह, (२) विष्णुपुराण का पाँचवाँ अंश, (३) हरिवंश, (४) श्रीमद्भागवत।

यह क्रम दूसरे शब्दों में उनकी प्रामाणिकता का है। बंकिम महाशय की कृति मुख्यतया श्रीकृष्ण पर लगाये गये दोषों का निराकरण है। इससे लेखक की वर्णन-शैली पर स्वभावतः एक बन्धन आ गया है। बंकिम बाबू का कृष्ण-चरित्र घटनाओं का स्वाभाविक चित्र-चित्रण इतना नहीं रहा, जितना प्रत्येक घटना के नैतिक औचित्य का पक्ष-पोषण हो गया है। सफ़ाई के वकील की वक्तृता की तरह इसका रंग स्वाभाविक

१—श्रीधीरेन्द्रनाथ पाल की अँगरेज़ी पुस्तक "श्रीकृष्ण—उनका जीवन और शिक्षा" बंकिम बाबू की तर्कणाओं और परिणामों का अँगरेज़ी में उल्था-मात्र है।

इतिहास का सा नहीं रह सका। तो भी बंकिम बाबू का अनथक परिश्रम, उनकी सुन्दर सूक्ष्म, सहेतुक ऐतिहासिक गवेषणा, सुलझा हुआ स्पष्ट चरित्र-चित्रण कुछ ऐसे गुण हैं जो प्रत्येक पाठक को उनकी कृति पर मोहित कर लेते हैं। हमारा बंकिम बाबू से बहुत स्थानों पर मतभेद है। कई घटनाओं को उन्होंने असंभव समझा। कुछ और को प्रचलित परम्परा के अनुसार सत्य स्वीकार कर सहेतुक भी सिद्ध कर दिया है। परन्तु हमने कवि की वर्णन-शैली को ध्यान में रखते हुए भिन्न-भिन्न स्थानों पर आये भिन्न-भिन्न वृत्तान्तों का समन्वय कर ऐसी कुछ घटनाओं का स्वरूप ही और स्थिर किया है। कतिपय ऐसे मतभेद पाद-टिप्पणियों में दिखा दिये गये हैं।

इतिहास के विद्यार्थियों के लाभार्थ हमने जहाँ अपनी प्रत्येक उक्ति के लिए प्रमाण उपस्थित किये हैं, वहाँ युधिष्ठिर की राज्य-प्रणाली तथा महाभारत के युद्धप्रकार पर अलग अलग अध्याय भी लिख दिये हैं। नगरों का जो चित्र महाभारत में आया है, बिन्दु-विसर्ग-सहित ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है। तत्कालीन अभिवादन, पूजा, प्रतिष्ठा आदि शिष्टाचार का भी महाभारत ही के शब्दों में उल्लेख किया है। युधिष्ठिर की सभा में लाये गये उपहारों का एक मोटा सा विवरण भी दे दिया है। इससे महाभारत की सभ्यता का एक मूर्त चित्र आँखों के सामने आ जाता है। आये हुए राजाओं में उन जातियों के अतिरिक्त जो स्पष्ट भारत की हैं, यवन, चीन, बर्बर,

रोमक भी आये हैं। युद्ध में भी इन जातियों के सम्मिलित होने का उल्लेख है। चीन तो संभवतः प्राग्ज्योतिष् (आसाम) के राजा के साथ आये हों। उसकी फ़ौज में चीन पाये जाते हैं। परन्तु बर्बर क्या अफ़्रीक़ा के थे और रोमक क्या रोम के? या यवन, बर्बर और रोमक भी भारत में आकर बस गये थे? यह प्रश्न अभी समाधान चाहता है।

अन्तिम अध्याय में हमने अन्य देशों के परम्परागत पौराणिक इतिहासों से कुछ ऐसे राजाओं की कथाएँ उद्धृत कर दी हैं, जो भारत के पुराण-कथित बाल-गोपाल की कथा से मिलती-जुलती हैं। इतिहास तथा पुराण के तुलनात्मक अध्ययन करनेवालों के लिए ये कथायें विशेष रुचिकर होंगी।

गीता का उपदेश श्रीकृष्ण के जीवन का एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण अंग है। सच तो यह है कि वह अंग महत्ता में अपने अंगी से भी कहीं आगे बढ़ गया है। संसार के इतिहास में कृष्ण के जीवन का उतना प्रभाव नहीं पड़ा, जितना उनकी गीता का। इस पुस्तक में हमने "विश्व-रूप" की व्याख्या के नाते उसकी ओर केवल संकेत-मात्र ही किया है। परिशिष्ट आदि में कुछ लिख देना तो गीता की महत्ता का अनादर करना होता। समय मिलने पर गीता के अर्पण एक स्वतन्त्र ग्रन्थ किया जायगा।

कृष्ण का जीवन किस नैतिक परिस्थिति में बीता, इसका ज्ञान महाभारत के वृत्तान्त के नैतिक अनुशीलन से प्राप्त हो

सकता है। वह एक कष्ट-साध्य कार्य है। इसकी कुछ-कुछ झाँकी इस पुस्तक के पन्नों में भी मिलेगी ही। महाभारत एक बड़े जटिल समाज का वर्णन करता है। उसमें विदुर जैसे शील के अवतार भी हैं जिनके सम्बन्ध में लिखा है कि इनके सदाचार ने संसार की इमारत को थामा हुआ है; भीष्म जैसे आत्मत्यागी, नीतितत्त्व के अथाह सागर भी हैं; और दुर्योधन जैसे हठी, मूर्त मत्सर तथा दुःशासन जैसे निर्लज्ज शालीनता के शत्रु भी। सच तो यह है कि महाभारत में सदाचार तथा दुराचार के भिन्न-भिन्न प्रकार के रंगबिरंग के नमूने हैं। गन्दी से गन्दी बुराइयाँ और प्रशस्त से प्रशस्त भलाइयाँ महाभारत में वर्णित हैं। कारण कि यह एक वास्तविक समाज का चित्र है—एक ऐसे समाज का जो सभ्य था, समुन्नत था, समृद्ध था। महाभारतकार की मानव-समाज पर दृष्टि बड़ी गहरी—वास्तविकता की थाह तक पहुँचनेवाली—प्रतीत होती है। हम उसका विस्तृत उल्लेख न कर दो ऐसे संदर्भ पाठकों के सम्मुख रखेंगे जो तात्कालिक नैतिक आदर्शों के सार हैं। पहला आदर्श संशप्तकों की शपथों का है। ये त्रिगर्त के राजा थे। इन्होंने अर्जुन को मुख्य युद्ध से हटा कर एक गौण पृथक् लड़ाई में जा जुटाया था। इस लड़ाई में प्रवृत्त होने से पूर्व इन्होंने कुछ शपथें खाईं। वे निम्न-लिखित हैं:—

कवच पहिने, घी मले, कुश उठाये, मौर्वी की मेखला बाँधे, हज़ारों और लाखों का दान देते हुए........

प्रज्वलित अग्नि के सम्मुख वे यह प्रतिज्ञा करने को खड़े हुए। जो गति झूठों, ब्रह्मघातियों, मद्य पीनेवालों, गुरुतल्पगामियों, ब्राह्मण का धन हरनेवालों, राजा की चोरी करनेवालों, याचक का हनन करनेवालों, किसी के घर को आग लगा देनेवालों, गोघातकों, अपकारियों, ब्रह्मद्वेषियों, अपनी स्त्री को ऋतुकाल में मोह-वश वीर्य-दान न देनेवालों, श्राद्ध में मैथुन करनेवालों, अमानत में ख़यानत करनेवालों, पढ़ी विद्या का नाश करनेवालों, नपुंसक से लड़नेवालों, दीन के पीछे दौड़नेवालों, नास्तिकों, अग्नि और माता का त्याग करनेवालों की होती है, वह हमारी हो यदि हम अर्जुन को मारे बिना लौट आयें या उसकी क्रूरता के डर से लड़ाई से विमुख हों।

द्रोणपर्व-अ० १७, श्लो० २२, २५-३४।

ये गतियाँ बुरी मानी जाती थीं। प्रत्येक सदाचारी वीर इन गतियों से बचता था। इनके विपरीत कुछ गतियाँ ऐसी थीं जो वीरों के लिए वाञ्छनीय थीं। उनका परिगणन सुभद्रा के आशीर्वाद में है। हतपुत्रा सुभद्रा, अपने इकलौते पुत्र अभिमन्यु की मृत्यु से व्याकुल सुभद्रा, जब ज़मीन उसके पैरों तले से निकली जाती है, आसमान कोई ठौर ठिकाना देता दिखाई नहीं देता, उस समय की अशरण सुभद्रा कृष्ण के गले लग लग कर रोती है। कृष्ण उसे ढाढ़स बँधाते हैं। कहते हैं, पिता की, पति की, पुत्र की और इन सबसे उतर

कर भाई की वीरता को लाञ्छित न कर। अभिमन्यु को वीरगति प्राप्त हुई है—वह गति जिसके लिए हम सब आकांक्षा कर रहे हैं। सुभद्रा शोक करना वहीं छोड़ देती है। क्या उसे अभिमन्यु की सुगति का सन्देह था? आख़िर माँ ही तो थी। अपने उठे हुए हाथों के सहारे के बिना पुत्र का इतने ऊँचे स्थान पर पहुँच जाना कैसे संभव समझती? यदि कोई कोर-कसर अभिमन्यु की वीरता में रही थी तो उसे सुभद्रा के उठे हाथों, अविरल आशीर्वादों ने पूरा कर दिया। कहती है:—

यज्ञ करनेवालों, दानशील, आत्मसिद्धि को प्राप्त हुए ब्राह्मणों, पुण्य तीर्थों का सेवन कर आये ब्रह्मचारियों, उपकार माननेवालों, यशस्वियों, गुरु की सेवा करनेवालों, हज़ारों का दान देनेवालों की जो गति होती है, हे मेरे लाल! वह गति तेरी हो।

युद्ध में पीठ न दिखानेवाले शूरों, शत्रु को मार कर मर जानेवाले वीरों की जो गति होती है, वह तेरी हो। यज्ञ में हज़ारों का दान करनेवालों, अशरणों को यथेच्छ शरण प्रदान करनेवालों, दीन ब्राह्मणों की सुध लेनेवालों, अहिंसकों को जो गति होती है, हे मेरे लाल! वह गति तेरी हो।

उग्रव्रतधारी मुनि ब्रह्मचर्य से जिस गति को पहुँचते हैं, या एकपत्नीव्रतों की जो शाश्वत गति होती है, चारों

आश्रमों के पुण्य आचरणों से जो गति धार्मिक राजा को होती है, दीनों पर कृपा करनेवालों, सब पर सदा दया रखनेवालों, चुग़ली से बचे हुओं की जो गति होती है, हे मेरे लाल ! वह गति तेरी हो।

व्रतियों, धर्मशीलों, गुरुपूजकों, अतिथि को ख़ाली न लौटानेवालों की जो गति होती है, हे मेरे पुत्र ! वह गति तेरी हो।

शोक की आग से जले हुए, आपत्ति के समय धैर्य धारण करनेवालों की जो गति होती है, हे मेरे लाल ! वह गति तेरी हो।

जो सदा अपने माता पिता की सेवा करते हैं, और अपनी स्त्री में रत रहते हैं, जो ऋतुकाल ही में अपनी पत्नी के साथ सहवास करते हैं और परस्त्री का ध्यान तक नहीं करते, उन (संयमियों) की गति को, हे मेरे लाल ! तू प्राप्त कर।

ईर्ष्या से बचे हुए, सब प्राणियों से दया-पूर्वक व्यवहार करनेवालों, किसी का हृदय न दुखानेवालों, क्षमाशीलों की जो गति होती है, हे मेरे लाल ! वह गति तेरी हो।

मांस, मद्य, दंभ, झूठ से बचे हुए अहिंसाशीलों की जो गति होती है, हे मेरे पुत्र ! वह गति तेरी हो।

लज्जाशील, शास्त्रों के जाननेवाले, जितेन्द्रिय और श्रेष्ठ पुरुषों की जो गति होती है, हे सुभद्रा के लाल ! वह गति तेरी हो।

द्रोणपर्व ७८, १९-३४

यह अभिमन्यु के गुणों की स्मृति थी। जो स्मृति साधारणतया एक करुण विलाप का रूप धारण करती, श्रीकृष्ण की कालोचित चेतावनी से एक अमर आशीर्वाद बन गई। सुभद्रा के उस स्वाभाविक उद्‌गार ने उस समय की वीर माताओं के हृदयों की कामनाओं को एक आदर्श मंगलेच्छा के साँचे में ढाल कर सदा के लिए सुरक्षित कर दिया है। यही आदर्श उस समय के नीतिमानों, समाज-संचालकों, नीति-तत्त्व के उपदेशकों और आचार्यों का था। श्रीकृष्ण के चरित्र को इन्हीं आदर्शों की कसौटी पर परखना होगा। पाठक! परख! निष्पक्ष होकर परख। निर्दय हो कर परख। सोना तेरे सम्मुख है। इसे जाँच। इसे आँक। खरा हो तो ले जा। नहीं तो सुवर्णकार को लौटा दे। आँकने से और नहीं, सोने का ज्ञान तो बढ़ ही जायगा।

गुरुकुल कांगड़ी
१२ आश्विन १९८८

चमूपति

— —

योगेश्वर कृष्ण

वंश, स्थान और समय

भारत में ययाति नाम के एक बहुत पुराने राजा हुए हैं। शुक्राचार्य की लड़की देवयानी उनकी धर्मपत्नी थी। उससे उनके दो पुत्र हुए—यदु और तर्वसु। यदु का वंश, जिसमें श्रीकृष्ण हुए, यादव-वंश कहलाता है। इसी वंश के एक राजा हुए मधु। उनकी सन्तान माधव कहलाई। मधु के एक वंशज सात्वत हुए। उनके पीछे उसी कुल का नाम, जिसे उनसे पूर्व यादव और माधव कहते आये थे, सात्वत पड़ा। दूसरे शब्दों में यादव, माधव और सात्वत एक ही वंश के तीन भिन्न भिन्न नाम हैं। सात्वत के पुत्रों में से अंधक और वृष्णि दो उपवंशों के चलानेवाले हुए। वृष्णि की सन्तति वृष्णि या वार्ष्णेय कहलाई। अंधक का एक और नाम महाभोज था। इससे उनके वंश का नाम भोज हुआ। अंधक के दो पुत्र हुए—कुकुर और भजमान। कुकुर की सन्तति का नाम भी कुकुर पड़ा और भजमान की सन्तति भजमान के पिता अंधक के नाम से अंधक ही कहलाती रही।

इस प्रकार यादव-वंश के दो उपवंश हो गये; एक वृष्णि दूसरे भोज। भोजों के फिर दो भेद हुए, एक कुकुर, दूसरे अन्धक।

श्रीकृष्ण वृष्णियों में से थे। इनके दादा का नाम था शूर। शूर का बड़ा लड़का वसुदेव था। वसुदेव के कई लड़के और लड़कियाँ हुईं। इस चरित्र के नायक श्रीकृष्ण उनमें से एक थे।

श्रीकृष्ण की माँ का नाम देवकी था। वह कुकुर जाति की थीं। यादवकुल का राज्य उस समय कुकुरों के हाथ में था। देवकी के पिता थे देवक, जिनका भाई उग्रसेन राज्य का अधिकारी था। उग्रसेन को उसके पुत्र कंस ने सिंहासन से उतार कर स्वयं राज्य सँभाल लिया था।

हमने ऊपर यादवों के केवल दो मुख्य उपवंशों का वर्णन किया है, क्योंकि इन दो वंशों का प्रस्तुत चरित्र से विशेष सम्बन्ध है। वास्तव में इन वंशों की संख्या सत्रह[१] थी और इन कुलों में अठारह हज़ार[२] पुरुष थे।

१—कंस को मार डालने की सलाह का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण युधिष्ठिर से कहते हैं :—मन्त्रोऽयं मन्त्रितो राजन् कुलैरष्टादशावरैः॥ सभा० १४। २५। सत्रह कुलों ने यह सलाह की। कंस को मार डालने की सलाह में सारे यादवकुल संमिलित थे।

२—आगे चलकर फिर कहा है :—अष्टादशसहस्राणि भ्रातृणां सन्ति नः कुले। सभा० १४। ५६।
प्रकरण में वर्णन सारे यादव-वंश का है, केवल वृष्णियों का नहीं।

यादवों की राजधानी मथुरा थी । जरासन्ध के निरन्तर आक्रमणों से तंग आकर श्रीकृष्ण की सलाह से इन्होंने मथुरा (मधुपुरी) छोड़ दी और समुद्र के किनारे पश्चिम में जा डेरा किया। यदि मथुरा में आम्रकुञ्जों की बहार थी तो द्वारिका में भी चारों तरफ़ हरियाली ही हरियाली नज़र आती थी। रैवतक पहाड़ ने, जिसे आजकल गिरनार कहते हैं, द्वारिका की शोभा बढ़ा रखी थी। प्रकृति की गोद में पले सौन्दर्य-प्रिय श्रीकृष्ण कहते हैं :—

"यह सोचकर हम सब पश्चिम दिशा में सुन्दर कुशस्थली में जिसे रैवत पर्वत ने और भी रमणीय बना दिया है जा बसे।" सभा० १४ । ५०, ५१ ।

इस नगर-परिवर्तन का विस्तृत वर्णन हम प्रकरण आने पर फिर करेंगे।

वृष्णियों के घरेलू व्यवहार का वर्णन महाभारत में इस प्रकार किया गया है:—

"वृद्धों की आज्ञा में चलते हैं। अपने भाई-बन्दों का अपमान नहीं करते।............ब्राह्मण, गुरु और सजातीय के धन के प्रति अहिंसा-वृत्ति रखते हैं। ....धनवान् होकर भी अभिमान-रहित हैं। ब्रह्म के उपासक और सत्यवादी हैं। समर्थों का मान करते हैं और दीनों को सहायता देते हैं। सदा देवोपासना में रत, संयमी और दानशील रहते हैं।

डींगें नहीं मारते। इसी लिए वृष्णि-वीरों का राज्य नष्ट नहीं होता।" द्रोणपर्व १४४। २४-२८।

यादवों की राज्यशैली संघ के ढङ्ग की थी। ये किसी एक राजा की आज्ञा पर न चलते थे, किन्तु सभी का राज्य के निर्णयों में मत होता था। नाम को तो उग्रसेन राजा थे परन्तु उनके पिता आहुक और वृष्णिकुल के नेता अक्रूर की आपस में बड़ी लगती थी। इन दोनों के पृथक् पृथक् पक्ष थे। एक दल दूसरे दल के साथ उलझ जाता और किसी भी कार्य का निपटारा मुश्किल हो जाता। श्रीकृष्ण इन दोनों दलों में बीच बचाव करते रहते थे।[१] इन कुलों के दूसरे वीर भी श्रीकृष्ण को चैन न लेने देते थे।[२] ये अपने चरित्र की महिमा के कारण जिसमें शूरता, दक्षता, चातुरी, निर्वैरता,

---

१—श्रीकृष्ण नारद से कहते हैं:—

स्यातां यस्याहुकाक्रूरौ किं नु दुःखतरं ततः।
यस्य चापि न तौ स्यातां किं नु दुःखतरं ततः॥
सोऽहं कितवमातेव द्वयोरपि महामुने।
नैकस्य जयमाशंसे द्वितीयस्य पराजयम्॥

शान्ति० ८१।१०,११।

२— बलं संकर्षणे नित्यं सौकुमार्यं पुनर्गदे।
रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः सोऽसहायोऽस्मि नारद॥
अन्ये हि सुमहाभागा बलवन्तो दुरासदाः।
नित्योत्थानेन संपन्ना नारदान्धकवृष्णयः॥ शान्ति० ८१।७,८।

निःस्पृहता सभी गुणों का अपना अपना स्थान था—संघ के मुख्य थे।[१]

यादव सार्वजनिक जीवन में असहिष्णु थे, यह बात तो ऊपर के वर्णन से स्पष्ट ही है। उनका राष्ट्र स्वतन्त्र था, किसी के दबाये न दब सकता था। जरासन्ध के आक्रमणों के कारण समूचे वंशों ने अपने पहिले पूर्वजों के समय से चले आये निवासस्थान को छोड़ एक दूरस्थ नये स्थान में जा बसेरा किया। जहाँ सम्पूर्ण राष्ट्र की यह दशा थी, वहाँ इस वीर जाति का प्रत्येक व्यक्ति भी अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता के छोड़ने को सहसा तैयार न था। इससे संघ के नायकों को कष्ट अवश्य होता था परन्तु क्षत्रियों की आन पर धब्बा न आता था। इस आन का सबसे उज्ज्वल आदर्श वह था जो श्रीकृष्ण के लड़के प्रद्युम्न ने सौभनगर (वर्तमान अलवर) के राजा शाल्व की लड़ाई में अपने सारथि दारुक से कहा था। वृष्णि-वीर कहता है:—

१—नारद कहते हैं:—

भेदाद्विनाशः सङ्घानां सङ्घमुख्योऽसि केशव।
यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेदयम् सङ्घस्तथा कुरु॥
नान्यत्र बुद्धिक्षान्तिभ्यां नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्।
नान्यत्र धनसन्त्यागाद्गुणः प्राज्ञेऽवतिष्ठते॥

शान्ति० ८१। २५,२६

"वह वृष्णि-कुल में नहीं पैदा हुआ जो रण में पीठ दिखाये। या जो गिरे हुए पर आक्रमण करे या उस पर जो कहता है—मैं तेरा हूँ। या जो स्त्री-बच्चे अथवा बूढ़े पर प्रहार करे। या रथ से विहीन गिर गये पर या उस पर जिसका शस्त्र टूट गया है।"[1]

ऐसे कुल और ऐसे स्थान को हमारे चरित्रनायक ने अपने देवोपम जन्म से सुशोभित किया। उनके जन्म का समय हमारी परम्परागत काल-गणना के अनुसार आज से लगभग पाँच हज़ार वर्ष पूर्व है। महाभारत का युद्ध कलियुग के आरम्भ में हुआ था,[2] और कलियुग के आरम्भ का समय भारतीय ज्योतिषियों ने आज से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व निश्चित किया है।

१—न स वृष्णिकुले जातो यो वै त्यजति संगरम्।
यो वा निपतितं हन्ति तवास्मीति च वादिनम्॥
तथा स्त्रियं च यो हन्ति बालं वृद्धं तथैव च।
विरथं विप्रकीर्णञ्च भग्नशस्त्रायुधं तथा॥

वन० १६। १३, १४।

२—वनपर्व में भीम-मारुति-संवाद में आया है:—
एतत् कलियुगं नाम अचिराद्यत्प्रवर्तते।
आदिपर्व में युद्ध का समय इन शब्दों में कहा गया है:—
अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत्।
भीम ने दुर्योधन की टाँग पर गदा मारी तो श्रीकृष्ण ने कहा:—
प्राप्तं कलियुगं विद्धि।

यूनानी यात्री मेगास्थनीज़ ने मथुरा का वर्णन करते हुए लिखा है कि यहाँ शौरसेनी लोग रहते हैं और वे हिराक्लीज़ की पूजा करते हैं। यह हिराक्लीज़ स्पष्टतया श्रीकृष्ण ही हैं। इनके समय के सम्बन्ध में यवन यात्री उस समय की साक्षियों के आधार पर लिखता है कि वह डायोनिसियस से १५ पीढ़ियाँ पीछे हुए। डायोनिसियस से चन्द्रगुप्त तक—जिसके यहाँ वह दूत बनकर आया था—उसके कथनानुसार १५३ पीढ़ियों का अन्तर है। अर्थात् श्रीकृष्ण चन्द्रगुप्त से १५३-१५=१३८ पीढ़ियाँ पूर्व हुए। ऐतिहासिकों की प्रथा का अनुसरण करते हुए प्रत्येक पीढ़ी को बीस वर्ष का समय दे दिया जाय तो यह अन्तर १३८×२०=२७६० वर्ष निश्चित होता है। यह हुआ श्रीकृष्ण से चन्द्रगुप्त तक का समय। चन्द्रगुप्त ईसा से ३१२ वर्ष पूर्व हुआ था और आज ईसवी संवत् का आरम्भ हुए १९३० वर्ष हो चुके हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण को हुए आज तक—

चन्द्रगुप्त से पूर्व के वर्ष	२७६०
चन्द्रगुप्त से ईसा तक के वर्ष	३१२
आज ईसाई संवत्	१९३०
	५,००२ वर्ष

लगभग पाँच हज़ार वर्ष ही हुए। इससे प्रतीत होता है कि उक्त परम्परागत गणना आज ही की चलाई हुई नहीं

किन्तु चन्द्रगुप्त के समय में अर्थात् आज से अढ़ाई हज़ार वर्ष पूर्व भी यही गणना प्रचलित थी। संभव है, उस समय इस गणना की कुछ और भी ऐतिहासिक साक्षियाँ रही हों जो आज उपलब्ध नहीं होतीं।

महाभारत के इस काल में साक्षियाँ और भी दी जाती हैं; यथा—

(१) शतपथब्राह्मण में लिखा है :—

"कृत्तिकास्वादधीत। एता ह वै प्राच्यै न च्यवन्ते सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते।" अर्थात् कृत्तिका नक्षत्र में अग्नि का आधान करे। यह नक्षत्र पूर्व दिशा से च्युत नहीं होता; अन्य होते हैं।

कृत्तिका नक्षत्र की आज यह स्थिति नहीं। आज की स्थिति से ऊपर कही स्थिति की ज्योतिष के नियमानुसार तुलना करने से दीक्षित महाशय ने पता लगाया है कि शतपथ की ऊपर की उक्ति का समय ३,००० वर्ष ईसा से पूर्व है। छान्दोग्य उपनिषद् शतपथ का समकालीन है और उसमें कृष्ण देवकी-पुत्र के घोर आङ्गिरस से शिक्षा पाने का उल्लेख है। यदि ये कृष्ण वही महाभारत के कृष्ण हों तो इनका समय ईसा से ३,००० वर्ष पूर्व होगा, अर्थात् आज से लगभग ५,००० वर्ष पूर्व।

(२) राजतरङ्गिणीकार कल्हण ने वराहमिहिर का यह कथन उद्धृत किया है—

"षड्द्विक् पञ्चद्वियुतः शककालस्तस्य राज्ञश्च ॥"

राजतरङ्गिणी १,५६.

अर्थात् "युधिष्ठिर का समय शककाल में २५२६ वर्ष मिलाने से निकलता है।" शककाल ईसवी संवत् से ७८ वर्ष पीछे हुआ। इस गणना से महाभारत का समय २५२६-७८=२४४८ वर्ष ईसा से पूर्व निकलेगा। यह उस समय जब कि कुरुपाण्डवों का समय कलियुग के आरम्भ से ६५३ वर्ष पीछे मानें।[१] परन्तु स्वयं कल्हण का कथन है कि मुझसे पूर्व के इतिहासकार युधिष्ठिर का समय द्वापर के अन्त में (अर्थात् कल्हण की मानी तिथि से ६५३ से अधिक वर्ष पूर्व) मानते आये हैं। दूसरे शब्दों में यह समय ईसा से २४४८+६५३=३१०१, या मोटे शब्दों में ३,००० वर्ष पूर्व हुआ[२]।

ऊपर दी गई साक्षियों का संयुक्त संकेत एक ही है। वह यह कि हमारी प्रचलित परम्परागत काल-गणना का आधार

१—शतेषु षट्सु सार्धेषु त्र्यधिकेषु च भूतले।
कलेर्गतेषु वर्षाणां अभूवन् कुरुपाण्डवाः ॥ राजत० १.५१।

२—भारतं द्वापरान्तेऽभूद्वार्तयेति विमोहिताः।
केचिदेतां मृषा तेषां कालसंख्यां प्रचक्रिरे ॥ १.४९।

वस्तुस्थिति न होकर मन-गढ़न्त हो, ऐसा नहीं। यदि इस विषय में महाभारत की अन्त:साक्षी प्राप्त हो जाय तो वह इस समस्या की निर्णायक होगी। भीष्म की मृत्यु के समय तारों की स्थिति इस प्रकार कही गई है :—

प्रवृत्तमात्रे त्वयनमुत्तरेण दिवाकरे।
शुक्लपक्षस्य चाष्टम्यां माघमासस्य पार्थिव ॥
प्राजापत्ये च नक्षत्रे मध्यं प्राप्ते दिवाकरे।
समावेशयदात्मानमात्मन्येव समाहित: ॥

शान्ति-पर्व ४६। ३,४।

अर्थात् सूर्य के उत्तरायण आते ही, शुक्लपक्ष की अष्टमी के दिन दोपहर को प्राजापत्य (रोहिणी) नक्षत्र में......।

श्रीयुत नारायण शास्त्रियर ने स्वलिखित अँगरेज़ी भाषा के पुस्तक The Age of Sankara (शंकर का काल) में इस तिथि का पूर्व-कथित श्रीकृष्ण के हस्तिनापुर प्रस्थान तथा महाभारत के आरम्भ आदि की तिथियों से मिलान कर इस कथन की यथार्थता को प्रमाणित किया है, और ज्योतिष की गणनाओं से सिद्ध किया है कि नक्षत्रों की यह स्थिति ३१३९ ई० पूर्व ही में हो सकती थी। यदि यह गणना ठीक हो तो श्रीकृष्ण का काल निश्चित ही है।

बालकाल और शिक्षा

जन्म के पश्चात् श्रीकृष्ण को मथुरा से गोकुल, जो यमुना के दूसरे किनारे कोई अढ़ाई मील की दूरी पर विद्यमान है, भेज दिया गया।[1] इससे पूर्व इनके बड़े भाई बलराम भी अपनी माँ रोहिणी के साथ वहाँ रहते थे। श्रीकृष्ण के साथ भी या तो उनकी माता देवकी गई होंगी या किसी धायी को

---

१. पुराणों में आई वसुदेव के जेल में डाले जाने, वहाँ देवकी के गर्भ से उनकी आठवीं सन्तान श्रीकृष्ण के होने, इनके चमत्कार-पूर्वक यमुना के पार ले जाये जाने और नन्द की उसी रात पैदा हुई लड़की योगमाया के साथ चुपके-चुपके परिवर्तन हो जाने इत्यादि कथाओं का संकेत भी मूल महाभारत में नहीं है। केवल एक स्तोत्र में जो स्पष्टतया पीछे मिलाया गया है योगमाया की स्तुति पौराणिक वृत्तान्त के अनुसार की गई है। इन कथाओं का मूलाधार है—आकाशवाणी, जिससे सावधान होकर कंस ने वसुदेव को जेल में डाला। वहाँ उनके आठ पुत्र तो देवकी से हुए। इसमें दस बीस वर्ष लगे ही होंगे। महाभारत में श्रीकृष्ण कंस के अपराधों का वर्णन करते हैं, परन्तु उन अपराधों में न तो वसुदेव को दस बीस वर्ष जेल में डालना और न इनके अपने ऊपर कोई वैयक्तिक अत्याचार करना वर्णित है। ये कथायें स्पष्टतया पीछे की गढ़न्त हैं।

इन्हें पालने पोसने का काम सौंपा गया होगा[१]। मथुरा में वसुदेव का नगर-गृह था और गोकुल में ग्रामगृह। यादव अपने बच्चों के बालकाल का आवास गाँव ही को बनाना अच्छा समझते थे। वसुदेव के घर में यह प्रथा रही होगी, यह बलराम, कृष्ण और संभवतः सुभद्रा के भी उदाहरणों से प्रतीत होता है। सुभद्रा का विवाह अर्जुन से हुआ और

---

१. हरिवंशपुराण में लिखा है कि वसुदेव के पुत्र कृष्ण और नन्द की पुत्री योगमाया का परिवर्तन इस प्रकार होगया कि इसका पता न वसुदेव के यहाँ किसी को लग सका न योगमाया की माता यशोदा ही को। हरिवंश में आया है—

वसुदेवस्तु संगृह्य दारकं क्षिप्रमेव च।
यशोदाया गृहं रात्रौ विवेश सुतवत्सलः॥
यशोदायास्त्वविज्ञातस्तत्र निक्षिप्य दारकम्।
प्रगृह्य दारिकां चैव देवकीशयने न्यसत्॥ विष्णुपर्व ४। २५,२६।

वायु तथा लिङ्गपुराण हरिवंश का साथ देते प्रतीत नहीं होते। वहाँ यह परिवर्तन यशोदा के ज्ञान के साथ हुआ लिखा है। पौराणिक वर्णनों के भेदों के लिए देखो अन्तिम से पूर्व का अध्याय "पुराणों का बालगोपाल"। यशोदा ने हरिवंश के वर्णनानुसार उसे अपना ही लड़का समझा। यह बात संभवतया पाठकों की समझ में न आ सके। महाभारत में यशोदा का नाम तक नहीं। हाँ! और स्त्रियों की तरह कृष्ण की माता देवकी को "यशस्विनी" विशेषण दिया है। यथा:—

आहुकं पितरं वृद्धं मातरञ्च यशस्विनीम्। सभा. २। ३४।

वह ग्वालिन के वेष में ससुराल गई।[1] यह वेष उसे इतना प्यारा क्यों था ? संभवतः इसलिए कि उसकी बचपन की सहेलियाँ ग्वालिनें थीं और यह उनकी और बातों के साथ

संभव है, इस विशेषण को ही कुछ समय पीछे यशोदा नाम की एक और माता का रूप मिल गया हो। देवकी के लिए पुत्र के छिपाने का कोई कारण नहीं। संभव है, रोहिणी की तरह "यशस्विनी" देवकी कृष्ण को स्वयं पालती रही हो। यह भी संभव है कि यशोदा नाम की धायी रखी गई हो। उसकी लड़की उन्हीं दिनों पैदा होकर मर गई हो। इस अवस्था में उसकी माता के लिए कृष्ण को पालना सुगम होगा, और वह उसकी उपयुक्त धायी रही होगी। कंस का योगमाया को मारने का यत्न करना और उसका हवा में उड़ जाना चमत्कार है, इतिहास नहीं।

महाभारत में कृष्ण के बाल-काल के संबन्ध में इतना ही आया है कि:—

संवर्धता गोपकुले बालेनैव महात्मना।
विख्यापितं बलं बाह्वोस्त्रिषु लोकेषु सञ्जय॥

द्रोण. ११।२।

गोपों के कुल में बढ़ रहे बच्चे (कृष्ण) ने ही अपनी भुजाओं का बल तीनों लोकों में प्रसिद्ध कर दिया था।

शिशुपाल ने कृष्ण को अर्घ देने का विरोध करते हुए कहा है:—

तमिमं ज्ञानवृद्धः सन् गोपं संस्तोतुमिच्छसि। सभा. ४१।-६।

१—अर्जुन कृष्ण की बहिन सुभद्रा से विवाह कर उसे घर लाया तो उस समय—

पार्थः प्रस्थापयामास कृत्वा गोपालिकावपुः

सभा. २१३।१६।

उसने उसे ग्वालिन के रूप में द्रौपदी के पास भेजा। संभवतः

उनके वेष से भी स्नेह करती थी। बचपन में उनकी देखा-देखी कभी कभी उनका वेष भी धारण कर लेती होगी और अब इस युवावस्था में उन बचपन की सखियों का स्वाँग भर तथा उस भोले भाले समय की प्यारी प्यारी स्मृतियों को मूर्त कर ख़ुश होती होगी।

होनहार बिरवान के होत चीकने पात। कृष्ण अपने आनेवाले चमत्कारी जीवन का पूर्व परिचय माता की गोद में देने लगे। इनकी बालावस्था का सबसे पहिला कारनामा है पूतना को मारना[1]। पूतना एक स्त्री थी जिसका दूध पीते ही बच्चे मर जाते थे[2]। जैसा उसके नाम से प्रतीत होता है, उसके स्तनों में पस थी। अपनी स्वाभाविक दुष्टता के कारण उसने एक रात कृष्ण को गोदी में लेकर

कृष्ण और बलराम की तरह वह भी बचपन में गोपों में रही थी, और ग्वालिन का रूप उसे रुचिकर था।

१—शिशुपाल ने इनको अर्घ दिये जाने का विरोध करते हुए कहा था:—

पूतनाघातपूर्वाणि कर्माण्यस्य विशेषतः।
त्वया कीर्तयतास्माकं भीष्म प्रव्यथितं मनः॥ सभा० ४१।४।

२—विष्णुपुराण में लिखा है:—

वसतां गोकुले तेषां पूतना बालघातिनी।
सुप्तं कृष्णमुपादाय रात्रौ संप्रददौ स्तनम्॥
यस्मै यस्मै स्तनं रात्रौ पूतना संप्रयच्छति।
तस्य तस्य क्षणेनांगं बालकस्योपहन्यते॥
अंश ५. अ. ५. श्लोक ७, ८

यहाँ पूतना को स्पष्ट गोकुल की रहनेवाली कहा है। हरिवंश में

अपने स्तनों में लगा लिया। कृष्ण ने उसका स्तन मुँह में लेने के स्थान में उसे दोनों हाथों में लेकर भींच दिया[१]। इससे उसकी पस निकल गई। फिर जो इन्होंने उसे मुँह में लेकर बलपूर्वक चूसा तो रक्त का स्राव बड़े वेग से आरम्भ हो गया। पूतना चीखें मार मार कर वहीं मर गई। बालक ने रक्त को तो क्या पीना था, थूक ही दिया होगा। परन्तु इससे स्राव की क्रिया झट शुरू होगई, जो पूतना की मृत्यु का कारण हुई।

एक दिन माता इन्हें सोया छोड़कर कहीं चली गई। ये पीछे जग गये और लुढ़कते लुढ़कते गाड़ी के नीचे जा पड़े। गाड़ी बिगड़ी हुई थी। सहारे से खड़ी होगी। इनकी लात

उसे कंस की धायी बना दिया गया है। ब्रह्मवैवर्त्त में जाकर वह कंस की बहिन बन गई है। देखो अन्तिम से पूर्व का अध्याय।

१—कृष्णस्तस्याः स्तनं गाढं कराभ्यामतिपीडितम्।
गृहीत्वा प्राणसहितं पपौ कोपसमन्वितः॥
सा विमुक्तमहारावा विच्छिन्नस्नायुबन्धना।
पपात पूतना भूमौ म्रियमाणातिभीषणा॥

अंश० ५. अ० ५. श्लोक ९, १०

विष्णुपुराण में इतना ही उल्लेख है। अन्य पुराणों में इसी को एक भयङ्कर कथा बना दिया गया है।

पूतना सुश्रुत में एक बालरोग का नाम भी है। चक्रपाणिदत्त ने इसे एक मातृका बताया है जो तीसरे दिन या तीसरे मास या

लगने से उलट गई। ग्वालों में इसकी खूब चर्चा हुई[1]। जब कृष्ण बड़े हुए और वास्तव में बड़े बड़े काम करने लगे तो लोग इनकी बालकपन की इन लीलाओं को स्मरण कर कहते, अजी! ये तो जन्म-काल से ही चमत्कार दिखाते आये हैं। लुढ़कते लुढ़कते गाड़ी उलट दी थी।

तीसरे वर्ष बच्चों को होती है। कल्पना यह भी की जा सकती है कि संभवतः गोकुल में यह रोग फैला हो, और दूसरे बच्चे तो उससे बच न सके हों, अकेले कृष्ण बच गये हों। आलंकारिक भाषा में इस बच जाने को ही पूतना का वध कह दिया गया हो कि देखो दूसरे बच्चों को तो पूतना मार गई पर कृष्ण ने स्वयं पूतना को मार दिया। हमें यह कल्पना इसलिए मान्य नहीं कि आगे चल कर वहीं महाभारत ही में शिशुपाल ने फिर कहा है :—

गोघ्नः स्त्रीघ्नश्च सन् भीष्म कथं संस्तवमर्हति।

सभा० ४१।१६।

गोघातक और स्त्रीघातक होकर कृष्ण किस तरह स्तुति का पात्र हो सकता है?

कृष्ण के जीवन में पूतना को छोड़ कर और किसी स्त्री के मारने की घटना नहीं हुई। अतः पूतना स्त्री ही है। और जो रूप पूतना का विष्णुपुराण में दिया है, वह असंभव भी नहीं।

१—शिशुपाल वहीं कहते हैं—

चेतनारहितं काष्ठं यद्यनेन निपातितम्।
पादेन शकटं भीष्म तत्र किं कृतमद्भुतम्॥

सभा० ४१।८।

जड़ लकड़ी की गाड़ी यदि इसने पांव से गिरा दी तो हे भीष्म! इसमें विचित्र बात क्या हुई?

चलने फिरने लगे तो इन्होंने एक पक्षी मार दिया। वह पक्षी या चील था या गिद्ध या इसी प्रकार का कोई और हिंस्र-जन्तु[१]।

जब कुछ सयाने हुए तो इनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। वह भी उस गोकुल ही के पास। कृष्ण और बलदेव की आयु में कुछ महीनों ही का अन्तर था। इकट्ठे पले

१—शिशुपाल की उसी वक्तृता में है:—

यद्यनेन हतो बाल्ये शकुनिश्चित्रमत्र किम्।

सभा० ४१,७

यदि इसने बालपन में गिद्ध (या चील) मार दी तो इसमें आश्चर्य क्या?

हरिवंशपुराण में पूतना को प्रथम कंस की धायी, फिर राक्षसी बना कर अन्त में पक्षी का रूप दे दिया गया है। लिखा है:—

कस्यचित्त्वथ कालस्य शकुनीवेषधारिणी।
धात्री कंसस्य भोजस्य पूतनेति परिश्रुता॥

वि० प० ६,२२

महाभारत में स्पष्टतया शकुनि और पूतना अलग अलग वर्णित हैं। यहाँ तक कि शिशुपाल की वक्तृता में तो इनका वर्णन एक ही श्लोक में नहीं भी हुआ। एक और स्थल पर इनका इकट्ठा वर्णन किया है। परन्तु वहाँ भी ये दोनों एक वस्तु नहीं।

अनेन हि हता बाल्ये पूतना शकुनी तथा।

उद्योग० १२६,४५

यहाँ "तथा" समुच्चयार्थ में है। ऊपर दी गई शिशुपाल की उक्ति के प्रकाश में यहाँ भी पूतना और शकुनी को दो भिन्न जीव मानना होगा।

और इकट्ठे ही बड़े हुए थे। इनकी शिक्षा भी एक साथ होने लगी। यहाँ तक कि दोनों स्नातक हो गये। दोनों भाई शारीरिक बल में अतुलनीय थे। कृष्ण वेद-वेदाङ्ग के भी अद्वितीय पण्डित हुए। फिर दान, दया, बुद्धि, शूरता, शालीनता, चतुराई, नम्रता, तेजस्विता, धैर्य, सन्तोष, सभी गुणों में इन्होंने अनुपम ख्याति लाभ की[१]। शस्त्रास्त्र चलाने में दोनों भाई निपुण थे। इस विद्या की शिक्षा ये आगे चलकर औरों को भी देते रहे।[२] युद्ध-विद्या की कुछ एक महत्त्व-पूर्ण शाखाओं के ये विशेष उस्ताद समझे जाते थे।

---

१. भीष्म शिशुपाल को उत्तर देते हुए कहते हैं:—

वेदवेदाङ्गविज्ञानं बले चाप्यधिकं तथा।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते ॥
दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्त्तिर्बुद्धिरुत्तमा।
सन्नतिः श्रीधृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते ॥

सभा० ३८,१९-२०

ऋत्विग्गुरुर्विवाह्यश्च स्नातको नृपतिः प्रियः।
सर्वमेतद्धृषीकेशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः। सभा० ३८,२२

२. श्रीकृष्ण का गुरु कौन था इस विषय में महाभारत चुप है। पुराणों में सान्दीपनि को इनका गुरु बताया गया है, परन्तु उनके पास ये ६४ ही दिन रहे और विष्णुपुराण के कथनानुसार उनसे केवल धनुर्वेद सीखा।

पढ़ते गुरुकुल में थे, परन्तु साथ लगते ग्रामों के जीवन में लगे हाथ भाग लेते ही रहते थे। गोकुल के लोगों को इन्होंने कई बार बड़ी भयंकर आपत्तियों से बचाया।

ततः सान्दीपनिं काश्यमवन्तिपुरवासिनम्।

अस्त्रार्थे जग्मतुर्वीरौ बलदेवजनार्दनौ ॥ अं० ५, अ० २१ श्लो० १९

अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या तदद्भुतमभूद् द्विजः। श्लो० २१

... ...

अस्त्रग्राममशेषञ्च प्रोक्तमात्रमवाप्य तौ। श्लो० २२

यह शिक्षा भी कंसवध के पश्चात् पाई है। परन्तु जैसे हम आगे चलकर दिखायेंगे, उस समय इनकी शिक्षा समाप्त हो चुकी थी। फिर महाभारत में तो इन्हें स्नातक कहा गया है। स्नातक गुरु के पास नियमपूर्वक रहने से ही हो सकता है। भागवतकार ने कंसवध के समय इनकी आयु ११ वर्ष बताई है। आगे चल कर हम देखेंगे कि उस समय इनकी आयु इससे बहुत बड़ी थी। इसके अतिरिक्त इनके जीवन के कुछ कारनामे ऐसे हैं जो इसी चढ़ती जवानी के समय के ही हो सकते हैं। वे कारनामे हुए भी गोकुल ही के पास हैं। इन सब संकेतों को ध्यान में रखते हुए हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि कृष्ण का गुरुकुल भी गोकुल के आसपास ही था। ये विद्यार्थीदशा में गोकुल में आते जाते थे और अपने देवोपम गुणों के कारण ग्वालों तथा ग्वालिनों के प्यारे बने हुए थे।

एक दफ़े एक बड़ा बैल पागल हो गया।[१] वह गौवों के लिए मानों मूर्त यम बना हुआ था।[२] आँखें लाल-लाल, सींग कसे हुए। खुरों से धरती को उखाड़ता फिरता था। जिह्वा बाहर लटकाये हुए होठों को दबाता और चाटता था।[३] ग़रीब ग्वालों की जान पर आ बनी थी। कृष्ण को पता लगा तो वे झट वहाँ पहुँचे और अपनी बलवान् भुजाओं से पकड़ कर उस वृषासुर को उन्होंने नीचे पटक दिया और गिरा कर झट मार डाला। इस बैल का नाम अरिष्ट था।

---

१. शिशुपाल कृष्ण के इस कर्म को भी उन पर दोषारोपण का हेतु बनाते हैं। पहले तो उन्होंने इतना ही कहा कि :—

तौ वाश्ववृषौ भीष्म यौ न युद्धविशारदौ। सभा० ४१,७

वह घोड़ा और बैल जो युद्ध करना न जानते थे, हे भीष्म!

(यदि उन्हें इन्होंने मार दिया तो क्या हुआ ?) फिर,

गोघ्नः स्त्रीघ्नश्च सन् भीष्म कथं संस्तवमर्हति। ४१,१६

गोघातक और स्त्रीघातक हो कर ....।

२. दानवं घोरकर्माणं गवां मृत्युमिवोत्थितम्।
वृषरूपधरं बाल्ये भुजाभ्यां निजघान ह॥

महाभा० द्रोण० ७७,४.

३. सतोयतोयदच्छायस्तीक्ष्णश्रृङ्गोऽर्कलोचनः।
खुराग्रपातैरत्यर्थं दारयन् वसुधातलम्॥
लेलिहानः सनिष्पेषं जिह्वयौष्ठं पुनः पुनः॥

विष्णुपुराण अं० ५ अ० १४ श्लो० २-३

ऐसे ही केशी नाम का लम्बे लम्बे बालोंवाला घोड़ा यमुना के जङ्गल में फिरता था।[१] वह था तो बड़ा मोटा ताज़ा परन्तु नितान्त बनेला। किसी को पास न आने देता था। आते जाते पर दौड़ता था। खुरों से पृथ्वी को खोदता था।[२] कृष्ण उसके पास गये तो वह उन पर झपटा। इन्होंने उसे भी निहत्थे ही मार गिराया। इससे इनका नाम केशिसूदन हुआ।

इससे कुछ समय पूर्व गोकुल में भेड़िये आ पड़े थे।[३] उनसे ग्वालों को बहुत कष्ट होता था। कृष्ण ने गोपों को समझा कर उनसे गोकुल छुड़वा दिया और उन्हें वृन्दावन में जा बसाया। ग्वालों की सम्पत्ति गायें ही तो थीं। उन्हें हाँका और छकड़ों पर सामान लाद कर दूसरे स्थान में जा बसे, जो अधिक सुरक्षित था।

---

१. जघान हयराजानं यमुनावनवासिनम्।

द्रोणपर्व ११,३

२. सखुरक्षतभूपृष्ठः सटाक्षेपधुताम्बुदः।
द्रुतविक्रान्तचन्द्रार्कमार्गो गोपानुपाद्रवत् ॥२॥
विवृतास्यश्च सोऽप्येनं दैतेयः प्रत्युपाद्रवत् ॥८॥

विष्णुपुराण अं० ५, अ० १६.

३. विनिष्पेतुर्भयकराः सर्वतः शतशो वृकाः ॥
निष्पतन्ति स्म बहवो व्रजस्योत्सादनाय वै ॥

हरिवंश विष्णुपर्व अ० ८ श्लो० ३१-३२

वहाँ एक तालवन था। ताड़ के वृक्षों में फल पक गये थे। ग्वाल-बाल उन्हें देखते और उनका जी ललचाता। परन्तु कुछ जङ्गली गधों ने वहाँ वास कर रखा था। वे किसी को उन वृक्षों की छाया में फटकने तक न देते थे। कृष्ण बलराम वहाँ से गुज़रे तो बालकों ने उनसे शिकायत की। इन्होंने फल तोड़ दिये। इस पर गधों से इनकी झपट होगई। इन्होंने खेल खेल में वृक्षों के नीचे ही उन जङ्गली जानवरों को गिरा दिया। फिर गधों को वहाँ क्या ठहरना था? बड़े गधे का नाम लोगों ने धेनुक रख छोड़ा था। वह गर्दभराज आगे आगे और दूसरे गधे पीछे पीछे। बस! अब जहाँ ग्वाल-बाल मज़े से तालफल उड़ाने लगे, वहाँ गायों को भी उस वन की हरी हरी घास चरने में बाधा न रही।[1]

---

१. अरिष्टो धेनुकश्चैव चाणूरश्च महाबलः। उद्योग० १२६, ४६
अश्वराजश्च निहतः कंसश्चारिष्टमाचरन्। उद्योग० १२६, ४७
फलानि पश्य तालानां गन्धामोदितदिशाम्।
वयमेतानभीप्स्यामः पात्यन्तां यदि रोचते ॥५॥
इति गोपकुमाराणां श्रुत्वा संकर्षणो वचः।
कृष्णश्च पातयामास भुवि तालफलानि वै ॥६॥
अन्यानप्यस्य वै ज्ञातीनागतान् दैत्यगर्दभान्।
कृष्णश्चिक्षेप तालाग्रे बलभद्रश्च लीलया ॥११॥
ततो गावो निराबाधास्तस्मिंस्तालवने द्विज।
नवशष्पं सुखं चेरुर्यन्न भुक्तमभूत् पुरा ॥१२॥
विष्णुपुराण अं० ५, अध्याय ८

इस प्रकार गोपों और गोपियों को हिंस्र जन्तुओं से बचा कर और ग्वालबालों को तालफल खिलाकर कृष्ण बलदेव गाँव भर के दुलारे बन गये। इतने में गोपों का एक उत्सव आ गया। उस उत्सव में वे पुरानी प्रथा के अनुसार कृषियज्ञ किया करते थे। संभवत: उनके पूर्वज कभी कृषक रहे होंगे। परन्तु अब उनका धंधा गोपालन था। कृष्ण ने उन्हें समझाया, "अब हमें हल और जुए की पूजा से क्या लेना?[1] हमारे देवता तो अब गायें हैं या गोवर्धन पर्वत। गोवर्धन पर घास होती है। उसे गायें खाती हैं और दूध देती हैं। इससे हमारा गुज़ारा चलता है। चलो गोवर्धन और गौओं का यज्ञ करें। गोवर्धन का यज्ञ यह है कि उत्सव के रोज़ सारी बस्ती को वहीं ले चलें। वहाँ होम करें। ब्राह्मणों को भोजन दें। स्वयं खायें, औरों को खिलायें। कार्त्तिक का महीना है। पहाड़ फूलों से लद रहा है। हम इन फूलों से

---

१. न वयं कृषिकर्त्तारो वाणिज्यजीविनो न च।
गावोऽस्मद् दैवतं तात वयं वनचरा यतः ॥२६॥
मन्त्रयज्ञपरा विप्रा सीरयज्ञाश्च कर्षकाः।
गिरिगोयज्ञशीलाश्च वयमद्रिवनाश्रयाः ॥३७॥
सर्वघोषस्य सन्दोहो गृह्यतां मा विचार्यताम्।
भोज्यन्तां तेन वै विप्रास्तथा ये चाभिवाञ्छकाः ॥३९॥
शरत्पुष्पकृतापीडाः परिगच्छन्तु गोगणाः ॥४०॥

विष्णुपु० अं० ५, अ० १०.

गायों को सजाएँ। इन्हें फिराएँ, खिलाएँ, घुमाएँ। यह गौओं की पूजा है।" ग्वालों ने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया। इस यज्ञ के ऋत्विक् कृष्ण हुए।[१] इस पुण्य घटना के स्मरण में गोपाष्टमी का उत्सव अब भी मनाया जाता है। इस यज्ञ का एक अंश था खेलना। श्रीकृष्ण उस रोज़ मज़े से खेलते फिरे और गोपजनों के साथ मिलकर इन्होंने ख़ूब खाया पिया।[२] कैसा आनन्द का अवसर था! भोग यज्ञ का अंग होकर स्वयं यज्ञ हो गया।

इसके कुछ समय अनन्तर वृन्दावन में बड़ी वर्षा हुई। नदी नाले सब ओर से भर भर कर बहने लगे। यमुना में बाढ़ आ गई और ग्वालों का बस्ती में रहना असंभव हो गया। कृष्ण जो सभी भीड़ों में ग्रामवालों के आड़े आते थे, इस समय भी उनकी एक-मात्र ओट बने। सारी बस्ती की बस्ती को गाँव से निकाल कर उसी गोवर्धन पर्वत पर ले

---

१. भीष्म संभवतः इसी यज्ञ को लक्ष्य में रखकर इन्हें ऋत्विक् कहते हैं:—

ऋत्विग् गुरुर्विवाह्यश्च स्नातको नृपतिः प्रियः।

सभापर्व अ० ३८, ३२

२. शिशुपाल आक्षेप करते हैं:—

भुक्तमेतेन बह्वन्नं क्रीडता नगमूर्धनि। सभा० ४१, १०

गोपों ने इन्हें खिलाया तो होगा ही और सबने चाहा होगा कि अपने यहा का अच्छे से अच्छा भोजन इन्हें दें। ये भी उनके प्रेम पर मस्त होकर कुछ अधिक खा गये होंगे। खेलना इनके यज्ञ का अंग ही था।

चले। पर्वत की खुदाई कराई गई। वृक्ष गिराये गये। साँप, बिच्छू, चीता आदि हिंस्र जन्तुओं से वन को ख़ाली किया गया और सारी बस्ती का गायों के गल्लों-समेत वहीं आवास करा दिया गया।[१] सात दिन लगातार वर्षा होती रही। कृष्ण ने अपना डेरा इसी आवास में जा लगाया। ये गोपों की छावनी को सँभाले रात-दिन वहीं डटे रहे। यही इनका गोवर्धन का उठाना था। सचमुच उन दिनों सारा आवास ही—या यों कहिए कि सारा पर्वत ही—इनकी हथेली पर थमा खड़ा था।[२] वर्षा थमी, बाढ़ उतरी, गोप-गोपियों ने

---

१. अंधकारीकृते लोके वर्षद्भिरनिशं घनैः।
अधश्चोर्ध्वञ्च तिर्यक् च जगदाप्यमिवाभवत् ॥९॥
गोपांश्चाह जगन्नाथः समुत्पाटितभूधरः।
विशध्वमत्र सहिताः कृतं वर्षनिवारणम् ॥१०॥
विष्णुपुराण अं० ५, अ० ११
विवृद्धिं निम्नगा याताः प्लवगाः संप्लवं गताः। १८
वारिणा मेघमुक्तेन मुच्यमानेन चासकृत्।
आबभौ सर्वतस्तत्र भूमिस्तोयमती यथा ॥१७॥
हरिवंश वि० प० अ० १८.

२, इसी का उपहास शिशुपाल ने इन शब्दों में किया:—
वल्मीकमात्रः सप्ताहं यद्यनेन घृतोऽचलः।
तथा गोवर्धनो भीष्म न तच्चित्रं मते मम ॥
सभा० ४१, ९.

विदुर ने कहा है:—गोवर्धनो धारितश्च गवार्थे भरतर्षभ ॥
उद्योग० १२९, ४९

कृष्ण को मानों अपनी आनन्द से भरी, मूक धन्यवादों से परिपूर्ण, आँखों में बिठा लिया।[1] कृष्ण गाँव भर की आँखों के तारे हो गये। इस कड़े काल में यादववीर की बुद्धि, यादववीर का साहस, यादववीर का परिश्रम, उनको अपना, अपने बच्चों तथा गैयों का प्राणदाता प्रतीत हो रहा था। वे सौ जान से वृष्णिवीर पर न्यौछावर होने लगे।

---

१. महाभारत में गोपियों के श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम का वर्णन एक ही स्थल पर है और वह भी केवल संकेत-मात्र। जब द्रौपदी को एक-वस्त्रा अवस्था ही में दुर्योधन की सभा में ले गये हैं तो उसने वहाँ के भीष्म, द्रोण आदि गुरुजनों तथा युधिष्ठिर आदि घनिष्ठ आत्मीयों से सर्वथा निराश होकर श्रीकृष्ण का ध्यान इन शब्दों में किया है:—

गोविन्द द्वारिकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय।

सभापर्व ६७, ४१

ऊपर ६६वें अध्याय में उसे "विसंज्ञकल्पा" कह आये हैं। यदि इस घोर आपत्ति में कृष्णा वास्तव में विसंज्ञा हो गई हो और अन्य आश्रय न देखकर उसने कृष्ण का स्मरण किया हो और उसे यह प्रतीत भी हुआ हो कि वे उसकी रक्षा कर रहे हैं—उसके शरीर पर का कपड़ा बढ़ाते जा रहे हैं तो कुछ आश्चर्य नहीं। इस अवस्था में उसे गोपी-जनों की उसी प्रियता का ध्यान आ सकता है जो श्रीकृष्ण ने अबलाओं की संकट में रक्षा कर अपने खरे, आग में कुन्दन के समान उज्ज्वल, चरित्रबल से कमाई थी। उस कलुषित प्रेम का ध्यान कभी नहीं आ सकता जो पुराणों के पन्नों में लेखकों के अपनेही हृदयों को प्रतिबिंबित कर रहा है। महाभारत में इस प्रेम की गंध भी नहीं। और तो और, किसी प्रसंग में कृष्ण की रासलीला या गान का भी तो वर्णन नहीं। यहाँ

श्रीकृष्ण ने गोवर्धन की गोदी में पाई तो शिक्षा ही थी परन्तु अपने चारित्र्यबल से आस पास की सारी बस्ती को अपना श्रद्धालु शिष्य—अनन्य भक्त बना लिया था। गोवर्धन की तलहटी अब सचमुच उनकी हथेली पर नाचती थी। उस प्रान्त भर को इनकी आज्ञा शिरोधार्य थी। आगे जाकर इनकी सेना में मुख्य स्थान गोपालों तथा आभीरों का हुआ। यह फल उसी बालकाल के वात्सल्यमय सेवाव्रतपूर्ण ब्रह्मचर्य ही का था।

———

तक कि महाभारतकार ने कृष्ण के होंठों से वंशी तक न छुवाने की क़सम खा ली है। महाभारत का कृष्ण चक्रधर है, गदाधर है, असिधर है। मुरलीधर नहीं।

गोपीरूप में जैसे हम ऊपर कह आये हैं, श्रीकृष्ण की बहिन सुभद्रा अपनी ससुराल जाती हैं। इसका हेतु हम ऊपर बता चुके हैं। सो यह वेष तो इनकी बहिन का है—हां! बहिनों का।

कंस का वध और संघ की पुनः स्थापना

स्नातक होने के पश्चात् श्रीकृष्ण मथुरा में आये। जैसे हम ऊपर कह आये हैं, उस समय मथुरा के राज्य-सिंहासन पर कंस बलात्कार से आरूढ़ था। इसे यादवों के संघ ने अपनी रीत्यनुसार राजा स्वीकार नहीं किया था। किन्तु मगध के राजा जरासंध की दो लड़कियों—अस्ति और प्राप्ति—से विवाह कर यह उसी जरासन्ध के बल-बूते से ही मथुरा का स्वच्छन्द एकराट् राजा बन गया था। न यादवों के संघ ने इसे राजा बनाया न इसने फिर संघ की रीति-नीति चलने ही दी। संघ तो इसके पिता उग्रसेन को ही अपना अधिपति मानता था। परन्तु संघ की और उसकी अब चल न सकती थी। इतने यादवों के रहते एक पराये राष्ट्र का नियुक्त किया राजा मथुरा पर राज्य कर रहा था। इसका कारण यादवों की अपनी आपस की फूट थी। कंस के दादा आहुक और वृष्णियों में बड़े अक्रूर, ने यादवों के दो दल बना रखे थे जो कंस के विरोध में भी एक न हो सकते थे। ऐसे समय में श्रीकृष्ण का मथुरा के राजनैतिक जगत् में प्रवेश हुआ। कंस का राजा होना इन्हें अखरा। इन्होंने यह भी देखा कि कंस यादव-वीरों पर मनमाने अत्याचार कर रहा है। पर यादव हैं कि चुपचाप सह

रहे हैं। कारण कि उनकी आपस में बनती नहीं। आहुक और अक्रूर की अनबन ने ही सारा खेल बिगाड़ रखा था। इन्होंने इन दोनों को मिला देने का एक अनूठा ढङ्ग निकाला। आहुक की लड़की सुतनू का, जो उग्रसेन की बहिन होने से उग्रसेनी भी कहलाती थी, अक्रूर से विवाह करा दिया। इस प्रकार ये दोनों दल अब झटपट एक हो गये।[१]

१—कस्यचित्त्वथ कालस्य कंसो निर्मथ्य यादवान्।
बार्हद्रथसुते देव्यावुपागच्छद्वृथामतिः ॥३०॥
अस्ति प्राप्तिश्च नाम्ना ते सहदेवानुजेऽबले।
बलेन तेन सज्ञातीनभिभूय वृथामतिः ॥३१॥
श्रैष्ठ्यं प्राप्तः स तस्यासीदतीवापनयो महान्।
भोजराजन्यवृद्धैश्च पीड्यमानैर्दुरात्मना ॥३२॥
ज्ञातित्राणमभीप्सद्भिरस्मत् संभावना कृता।
दत्त्वा क्रूराय सुतनुं तामाहुकसुतां तदा ॥३३॥
संकर्षणद्वितीयेन ज्ञातिकार्यं मया कृतम्।
हतौ कंससुनामानौ मया रामेण चाच्युत ॥३४॥

सभापर्व १४

इस संदर्भ में श्रीकृष्ण कंस के वध को "ज्ञातिकार्यं मया कृतम्" कहते हैं, अर्थात् मैंने बान्धवों का काम कर दिया। अपने किसी वैर के कारण कंस को नहीं मारा। भोजों और वृष्णियों की "संभावना"—एकता आहुक की लड़की सुतनु और वृष्णि-वीर अक्रूर के विवाह द्वारा कराई गई है। यह नीतिमत्ता ११ वर्ष के बालक की नहीं हो सकती।

कृष्ण ने यह विचार पक्का कर लिया कि कंस को मार ही देना चाहिए। जब तक यह जीता है, जरासंध इसकी पीठ पर रहेगा और मथुरा में संघ की फिर से स्थापना न हो सकेगी। संघ यादवों की जान था। संघ-प्रणाली के रहते ही उनका नैतिक विकास हो सकता था। जरासन्ध के साम्राज्य का एक भाग बनकर उनकी स्वाभाविक स्वतन्त्रता का नाश हो रहा था। परन्तु अब कंस को मारे कौन ? संभव है, इसी बात पर नये झगड़े खड़े हो जायँ। कृष्ण ने यह जोखों का कार्य अपने ऊपर लिया।

उद्योगपर्व में श्रीकृष्ण फिर कहते हैं:—

भोजराजस्य वृद्धस्य दुराचारो ह्यनात्मवान्।
जीवतः पितुरैश्वर्यं हृत्वा मृत्युवशङ्गतः ॥३७॥
उग्रसेनसुतः कंसः परित्यक्तः स्वबान्धवैः।
ज्ञातीनां हितकामेन मया शस्तो महामृधे ॥३८॥
आहुकः पुनरस्माभिर्ज्ञातीभिश्चापि सत्कृतः।
उग्रसेनः कृतो राजा भोजराजस्य वर्द्धनः ॥३९॥

उद्योगपर्व १२७

द्रोणपर्व में धृतराष्ट्र कहते हैं:—

तथा कंसो महातेजा जरासंधेन पालितः।
विक्रमेणैव कृष्णेन सगणः पातितो रणे ॥६॥
सुनामा रणविक्रान्तः समग्राक्षौहिणीपतिः।
भोजराजस्य मध्यस्थो भ्राता कंसस्य वीर्य्यवान् ॥७॥

द्रोणपर्व ११

जरासन्ध की तरह कंस ने भी कुछ पहलवान अपनी रक्षा के लिए रख छोड़े थे। एक दिन कृष्ण ने उनमें से एक, चाणूर, के साथ मल्लयुद्ध करना मान लिया।[१] चाणूर के साथी मुष्टिक के जोड़ बलराम हुए। कंस ही की अध्यक्षता में यह मल्लयुद्ध रचा गया। कंस को अपने पहलवानों की शक्ति और युद्ध-कौशल का अभिमान था। परन्तु इधर कृष्ण और बलराम भी इस विद्या के उस्ताद थे। कंस को इन वृष्णि-वीरों के षड्यन्त्र का पता था और वह इन्हें अपने रास्ते में कण्टक समझता ही था। इस दङ्गल की आयोजना उसी ने की थी। और अपने पहलवानों को समझा भी दिया था कि बस चले तो इन युवकों का काम तमाम कर दें[२]। कसर इतनी रही कि उसने इन वृष्णिकुमारों के बल का अनुमान ठीक नहीं किया। दंगल का परिणाम उसकी आशा के ठीक विपरीत हुआ। कृष्ण ने चाणूर को और बलदेव ने मुष्टिक को एक दो दाँवों में ही पछाड़ दिया। उनके घातक दाँव तो इन पर नहीं

१—अरिष्टो धेनुकश्चैव चाणूरश्च महाबलः ॥४६॥
अश्वराजश्च निहतः कंसश्चारिष्टमाचरन् ॥४७॥
उद्योगपर्व १२६

१—भग्नं श्रुत्वाथ कंसोऽपि प्राह चाणूरमुष्टिकौ ॥१७॥
गोपालदारकौ प्राप्तौ भवद्भ्यां तौ ममाग्रतः।
मल्लयुद्धे निहन्तव्यौ मम प्राणहरौ हि तौ ॥१८॥
विष्णुपुराण अं० ५, अ० २०

चले परन्तु इन्होंने कंस की इस इच्छा को कि दंगल का परिणाम मृत्यु में हो, स्वयं उनको झँझोड़ कर—निष्प्राण करके—पूरा कर दिया।

वे पहलवान कंस के आश्रयभूत थे। उन्हें मरा देख कंस को जोश आ गया। कृष्ण ने लगे हाथ कंस पर भी वहीं हाथ साफ़ कर दिया। कंस का भाई सुनामा कृष्ण की ओर झपटा परन्तु बलराम ने उसे भी दबोच कर यमलोक की राह दिखा दी।[१]

कृष्ण इस दंगल का विजेता था। उसने कंस के सिर से उतरा मुकुट उसके पिता उग्रसेन के सिर पर जा रखवाया। संघ भी तो उसी को चाहता था। उसी से राज्य की समृद्धि की आशा थी[२]। उपद्रव की संभावना थी भी तो वह तत्काल दूर हो गई। राज्य भोजों के अपने ही घर में रहा।

श्रीकृष्ण की शिक्षोत्तर काल की यह पहली विजय है कि नष्ट हुए संघ को उन्होंने पुनरुज्जीवित कर दिया। यादवों की खोई हुई स्वतन्त्रता अपनी अद्भुत बुद्धि तथा बाहुओं के अनुपम बल से फिर से स्थापित कर दी।

१—कंसे गृहीते कृष्णेन तद्भ्राताऽभ्यागतो रुषा।
सुनामा बलभद्रेण लीलयैव निपातितः॥
विष्णुपुराण अं० ५, अ० २०. श्लोक ७७

२—उग्रसेनः कृतो राजा भोजराज्यस्य वर्द्धनः।
उद्योग० १२७,२६

जरासन्ध के आक्रमण
और
यादवों का द्वारका-प्रस्थान

जरासन्ध मगध (बिहार) का राजा था। उसने बल-पूर्वक और भी बहुत से राज्य अपने अधीन कर लिये थे। इससे वह सम्राट् बन गया था। अधीनस्थ राज्य अपनी आन्तरिक नीति में स्वतन्त्र होते थे, परन्तु सम्राट् को उन्हें समय समय पर कर देना पड़ता था। करूष (वर्तमान रेवा) का राजा वक्र (अथवा दन्तवक्र) जो बड़ा बलशाली था और लड़ाई के वैज्ञानिक ढंगों से भी परिचित (मायायोधी) था, उसका शिष्य सा बना हुआ था। ऐसे ही करभ का राजा मेघवाहन जिसकी ख्याति एक दिव्य मणि के कारण बहुत फैली हुई थी, जरासन्ध के इशारे पर चलता था। प्राग् ज्योतिष (वर्तमान पूर्वीय बंगाल और कुछ कुछ आसाम) का राजा भगदत्त, जिसके अधीन मुरु और नरक नाम के दो राजा थे, केवल वाणी से नहीं, क्रियात्मकरूप से जरासन्ध के वश में था। युधिष्ठिर का मामा पुरुजित्, जो कुन्तिभोज का लड़का था, जरासन्ध की ओर जा चुका था। इसकी राजधानी मालवे में थी। चेदिकुल का वासुदेव जिसका राज्य वंग (ब्रह्मपुत्र और पद्मा के बीच का देश), पुण्ड्र (उत्तर बंगाल) और किरात

(सिलहिट और आसाम) पर फैला हुआ था, और जो अपने आपको पुरुषोत्तम प्रसिद्ध कर श्रीकृष्ण का प्रतिस्पर्धी बन रहा था, वह भी जरासन्ध का साम्राज्य स्वीकार कर चुका था। यही हाल भीष्मक का था, जिसने पाण्ड्य (तिन्नावली और मदुरा) और क्रथकैशिक (बरार, ख़ान्देश, निज़ाम का राज्य और कुछ कुछ मध्यप्रदेश) पर विजय प्राप्त की थी। इसके राज्य को विदर्भ कहते थे।[1]

१—तमेव च महाराज शिष्यवत् समुपस्थितः।
वक्रः करूषाधिपतिर्मायायोधी महाबलः ॥११॥
दन्तवक्रः करूषश्च करभो मेघवाहनः।
मूर्ध्ना दिव्यमणिं बिभ्रद् यमद्भुतमणिं विदुः ॥१३॥
मुरुञ्च नरकञ्चैव शास्ति यो यवनाधिपः।
अपर्य्यन्तबलो राजा प्रतीच्यां वरुणो यथा ॥१४॥
भगदत्तो महाराज वृद्धस्तव पितुः सखा।
स वाचा प्रणतस्तस्य कर्मणा च विशेषतः ॥१५॥
मातुलो भवतः शूरः पुरुजित् कुन्तिवर्धनः।
स ते सन्नतिमानेकः स्नेहतः शत्रुसूदनः ॥१७॥
जरासंधं गतस्त्वेव पुरा यो न मया हतः।
पुरुषोत्तमविज्ञातो योऽसौ चेदिषु दुर्मतिः ॥१८॥
आत्मानं प्रतिजानाति लोकेऽस्मिन् पुरुषोत्तमम्।
आदत्ते सततं मोहात् यः स चिह्नं च मामकम् ॥१९॥
वंगं पुण्ड्रं किरातेषु राजा बलसमन्वितः।
पौण्ड्रको वासुदेवेति योऽसौ लोकेऽभिविश्रुतः ॥२०॥

इनके अतिरिक्त कुछ राजवंश ऐसे थे जो जरासन्ध की अधीनता स्वीकार न करते थे। इन्हें उत्तर भारत छोड़ पश्चिम आदि दिशाओं में भाग जाना पड़ा था।[१] ऐसे अठारह कुल तो भोजों के थे। शूरसेन[२], भद्रकार, बोध,

---

चतुर्थभाङ् महाराज भोज इन्द्रसखो बली।
विद्याबलाद् यो व्यजयत् स पाण्ड्यक्रथकैशिकान् ॥२१॥
भ्राता यस्याकृतिः शूरो जामदग्न्यसमोऽभवत्।
स भक्तो मागधं राजा भीष्मकः परवीरहा ॥२२॥

सभा० १४

१—उदीच्याश्च तथा भोजाः कुलान्यष्टादश प्रभो।
जरासन्धभयादेव प्रतीचीं दिशमाश्रिताः ॥२५॥
शूरसेना भद्रकारा बोधाः शाल्वाः पटच्चराः।
सुस्थलाश्च मुकुट्टाश्च कुलिन्दाः कुन्तिभिः सह ॥२६॥
शाल्वायनाश्च राजानः सोदर्यानुचरैः सह।
दक्षिणा ये च पाञ्चालाः पूर्वाः कुन्तिषु कोशलाः ॥२७॥
तथोत्तरां दिशञ्चापि परित्यज्य भयार्दिताः।
मत्स्याः सन्न्यस्तपादाश्च दक्षिणां दिशमाश्रिताः ॥२८॥
तथैव सर्वपाञ्चाला जरासन्धभयार्दिताः।
स्वराज्यं संपरित्यज्य विद्रुताः सर्वतो दिशम् ॥२९॥

सभा० १४

२—यह वंश संभवतः अन्धकों का था जो कंस के मारे जाने के पश्चात् जरासन्ध के हमलों से तंग आकर द्वारका चले गये। द्रोणपर्व ११. ८ में कंस के भाई सुनामा को जिसे बलराम ने मारा था "अक्षौहिणीपति" और "शूरसेनराट्" कहा गया है।

शाल्व[१], पटच्चर[२], सुस्थल, मुकुट्ट, कुलिन्द[३], कुन्ति[४], शाल्लायन, दक्षिण पांचाल[५], पूर्व कोशल[६]—ये सब वंश अपने अपने पुराने स्थानों को छोड़ कर अन्यत्र भाग गये थे। मत्स्य[७] लोग दक्षिण की ओर चले गये थे। समस्त पांचालों ने अपने पुराने राज्य को तिलाञ्जलि दे इधर उधर दूसरे राज्यों में शरण ढूँढ़ ली थी।

जिन राजाओं ने जरासन्ध के अधीन रहना नहीं माना, उन्हें जरासन्ध ने कारावास में डलवा दिया।[८] धमकी यह भी

१—इनका नया स्थान शाल्वपुर (वर्तमान अलवर) हो गया। शाल्व राजा के साथ कृष्ण के युद्ध का वर्णन आगे किया जायगा।

२—इनका स्थान प्रयाग और बाँदा के ज़िलों में था। इन्हें दिग्विजय के समय सहदेव ने जीता। सभा० ३१, ४

३—गढ़वाल और सहारनपुर। अर्जुन ने इन्हें जीता।

सभा० ३१, ४

४—एक कुन्ति मालवा में रहते थे। वहाँ तो युधिष्ठिर की ननिहाल थी और वह जरासन्ध के अधीन हो गये थे। ये कुन्ति कोई और हैं।

५—दक्षिण पांचाल द्रुपदादि थे। ये गंगा और चर्मण्वती के बीच के प्रदेश में जा बसे थे।

६—इनका स्थान उत्तरीय अयोध्या था। फिर संभवतः ये मध्यप्रदेश में चले गये।

७—विराटादि राजा मत्स्यकुल के थे। विराटपर्व १, १६ में आता है "मत्स्यो विराटो बलवान्।"

८—तेन रुद्धा हि राजानः सर्वे जित्वा गिरिव्रजे ॥६३॥
कन्दरे पर्वतेन्द्रस्य सिंहेनेव महाद्विपाः।
स हि राजा जरासन्धो यियक्षुर्वसुधाधिपैः ॥६४॥

दी कि जब ऐसे राजाओं की संख्या पूरी एक सौ हो जायगी तो इन्हें महादेव की बलि चढ़ा दिया जायगा।[१]

यादवों को अपने साम्राज्य में इस प्रकार ले लिया कि वहाँ के राजकुमार कंस से अपनी दो लड़कियों का विवाह कर दिया और उसके भाई सुनामा को 'अक्षौहिणी-पति[२]' बना कर यादवों के संघ को जो आन्तरिक फूट के कारण खोखला हो रहा था झट कुचल दिया। कंस वहाँ का एकराट् (Monarch) हो गया। परन्तु यह सारा खेल तो, जैसे हम ऊपर देख चुके हैं, कृष्ण ने अपनी नीति-निपुणता से बिगाड़ दिया। कंस और सुनामा दोनों मारे गये और मथुरा में फिर से संघ की स्थापना होगई।

महादेवं महात्मानमुमापतिमरिन्दम।
आराध्य तपसोग्रेण निर्जितास्तेन पार्थिवाः ॥६५॥
स हि निर्जित्य निर्जित्य पार्थिवान् पृतनागतान् ॥६६॥
पुनरानीय बद्ध्वा च चकार पुरुषव्रजम् ॥६७॥

सभा० १४

१—नरबलि भारतवर्ष में कभी दी नहीं गई। इससे प्रतीत होता है कि यह केवल धमकी थी। संभव है, उसका वास्तविक निश्चय ही ऐसा करने का हो। तात्कालिक राजा इसे उसका वास्तविक संकल्प ही समझ रहे थे। महाभारत में भी ऐसी बलि और कहीं नहीं मिलती।

२—द्रोणपर्व के ११वें अध्याय के ८वें श्लोक में इसे "अक्षौहिणीपतिः" कहा गया है।

जरासन्ध यादवों की इस ढिठाई को चुपके चुपके कैसे देख सकता था ? इन्होंने एक हो वार में इधर तो उसके जामाता को मार कर उसकी एक नहीं, दो लड़कियों को एक साथ विधवा कर दिया, उधर अपना मथुरा का राष्ट्र जरासंध के साम्राज्य से ही निकाल लिया। जरासन्ध ने यादवों पर लगातार सत्रह आक्रमण किये।[१] भला ये उसके सामने थे ही क्या ? एक ओर एक पूरे साम्राज्य की शक्ति और दूसरी ओर इने गिने यादव, जिनकी सारी संख्या ही अठारह हज़ार से अधिक न थी।[२] श्रीकृष्ण एक स्थान पर यादवों की इस मन्त्रणा का वर्णन करते हैं कि यदि हम तीन सौ वर्ष तक निरन्तर जरासन्ध की सेना को मारते जायँ तो भी वह समाप्त होने में न आयगी।[३] यह विषम अनुपात रहते भी इन स्वतन्त्रता के परवाने यादवों का युद्ध-कौशल देखिए कि इन्होंने सत्रहों बार जरासन्ध की अनगिनत सेनाओं को निष्फल लौटाया।

जरासन्ध के पास दो पहलवान थे, हंस और डिम्भक। वे उसे बहुत प्यारे थे। अपनी निजी रक्षा का भार उसने उन

१—संग्रामेऽष्टादशावरे। सभा० १४, ४०

२—अष्टादशसहस्राणि भ्रातॄणां सन्ति नः कुले। सभा० १४, ५६

३—भये तु समतिक्रान्ते जरासन्धे समुद्यते।
मन्त्रोऽयं मन्त्रितो राजन् कुलैरष्टादशावरैः ॥३५॥
अनारमन्तो निघ्नन्तो महास्त्रैः शत्रुघातिभिः।
न हन्यामो वयं तस्य त्रिभिर्वर्षशतैर्बलम् ॥३६॥

पर छोड़ रखा था। सत्रहवीं लड़ाई में जरासन्ध के साथ एक राजा आया था जिसका नाम हंस था। उसे बलराम ने मार दिया। डिम्भक ने यह समाचार सुना तो वह समझा कि उसका साथी हंस मारा गया है। साथी से उसे अनन्य प्रेम था। उसकी मौत का वृत्तान्त सुनते ही वह यमुना में कूद पड़ा और डूब कर मर गया। हंस ने यह ख़बर सुनी तो उसने भी साथी से वियुक्त होकर जीना व्यर्थ समझ उसी प्रकार आत्महत्या कर ली। यमुना की गोदी में वह दो बिछुड़े पहलवान फिर से इकट्ठे हो गये। जब जरासन्ध को पता लगा कि उसके दोनों प्रधान रक्षक मर चुके हैं तो उसकी हिम्मत टूट गई और वह युद्ध को बन्द कर मगध लौट गया।[1] हो सकता है कंस की

१—तस्य ह्यमरसङ्काशौ बलेन बलिनां वरौ।
नामभ्यां हंसडिम्भकावशस्त्रनिधनावुभौ ॥३७॥
अथ हंस इति ख्यातः कश्चिदासीन् महान् नृपः।
रामेण स हतस्तत्र संग्रामेऽष्टादशावरे ॥४०॥
हतो हंस इति प्रोक्तमथ केनापि भारत।
तच्छ्रुत्वा डिम्भको राजन् यमुनाम्भस्यमज्जत ॥४१॥
विना हंसेन लोकेऽस्मिन्नाहं जीवितुमुत्सहे।
इत्येतां मतिमास्थाय डिम्भको निधनं गतः ॥४२॥
तथा तु डिम्भकं श्रुत्वा हंसः परपुरञ्जयः।
प्रपेदे यमुनामेव सोऽपि तस्यां न्यमज्जत ॥४३॥
तौ स राजा जरासंधः श्रुत्वा च निधनं गतौ।
पुरं शून्येन मनसा प्रययौ भरतर्षभ ॥४४॥
सभा० १४

मौत जो इसी तरह उसके दो पहलवानों के मरने के पश्चात् हुई थी, जरासन्ध की हतोत्साहता का कारण बनी हो। कुछ हो, यादवों की बन आई। उन्हें संग्राम में और अधिक नहीं लड़ना पड़ा।

स्वतन्त्र-स्वभाव यादवों के लिए इन विजयों का आनन्द ही बहुत था। बड़े मज़े से अपने बाहुबल से जीती हुई मथुरा-पुरी में आनन्द-विहार करते थे। परन्तु फिर इन्होंने सोचा कि इस प्रकार शत्रु के जबड़ों में कब तक निश्चिन्त रह सकेंगे? जरासंध की अक्षौहिणियाँ भले ही इन्हें जीत न सकें परन्तु तंग तो सदैव करती रहेंगी। यादवों में इतनी शक्ति न थी कि उनका झट से उन्मूलन कर दें। कंस की विधवा पत्नियाँ अपने पिता को नित्य उकसाती थीं कि हमारे मरे पति का अवश्य बदला लीजिए। वह पिता भी था सम्राट् भी। दोनों स्थितियों से यादवों का जी-जान से वैरी था। रोज़ की चिन्ता-चिता से मुक्त होने का उपाय सयाने यादवों ने यही सोचा कि उस क्रूर की आँखों से दूर हो जाओ। समूचे यादव मथुरा को छोड़ द्वारका चले गये। वहाँ इन्होंने एक दृढ़ दुर्ग बनाया। उसकी बनावट ऐसी रखी कि पुरुष तो पुरुष, यदि कभी उसमें केवल स्त्रियाँ ही रह जायँ तो वह भी आक्रमण-कारी वैरियों के दाँत खट्टे कर सकें।[1]

१—ततो वयं महाराज तन्मन्त्रं पूर्वमन्त्रितम्।
संस्मरन्तो विमनसो व्यथमाना नराधिप ॥४८॥

द्वारका के एक ओर बीचि-विहार करता समुद्र, दूसरी ओर रैवतक पहाड़। शस्यश्यामिला भूमि। जिधर देखो हरियाली लहलहा रही है। गोवर्धन की तलहटी में पले वृष्णि-कुमार गोकुल के आम्रकुञ्जों का मज़ा रैवतक (जिसका दूसरा नाम गोमान् था) की कुशस्थलियों में लेने लगे। सुरक्षित स्थान ने आक्रमण की चिन्ता ही मिटा दी। संघ का रास्ता बाह्य आपत्तियों से निष्कण्टक हो गया।[1]

प्रतीत होता है, द्वारका में इससे पूर्व भी वृष्णि रहते थे।[2] अब अन्धक-भोज भी जिनकी प्रधानता पहले मथुरा में थी, यहाँ आ गये। आख़िर थे तो ये सब भाई-बन्द ही।

इति संचिन्त्य सर्वे स्म प्रतीचीं दिशमाश्रिताः।
कुशस्थलीं पुरीं रम्यां रैवतेनोपशोभिताम् ॥५०॥
तथैव दुर्गसंस्कारं देवैरपि दुरासदम् ॥५१॥
स्त्रियोऽपि यस्यां युध्येयुः किमु वृष्णिमहारथाः ॥५२॥
त्रियोजनायतं सद्मत्रिष्कन्धं योजनावधि।
योजनान्ते शतद्वारं वीर विक्रमतोरणम् ॥५५॥

१—एवं वयं जरासन्धादभितः कृतकिल्विषाः।
सामर्थ्यवन्तः सम्बन्धाद् गोमन्तं समुपाश्रिताः ॥५४॥

२—वज्रसंहनना वीरा वीर्यवन्तो महारथाः ॥६०॥
स्मरन्तो मध्यमं देशं वृष्णिमध्ये व्यवस्थिताः ॥६१॥
सभा० १४

——

रुक्मिणी

जरासन्ध के साम्राज्य को स्वीकार करनेवाले राजाओं में हम विदर्भ के राजा भीष्मक का उल्लेख कर चुके हैं। उसका कुल भी ऊँचा था, वह बलशाली भी बड़ा था। राज्य का विस्तार मध्यप्रदेश, बरार, ख़ान्देश, निज़ाम की रियासत तथा मदुरा और तिन्नावली (या यदि उस समय की संज्ञाओं का प्रयोग करना हो तो क्रथ, कैशिक और पाण्ड्य) इन सब प्रदेशों पर फैला हुआ था। उसकी लड़की थी रुक्मिणी। वह कृष्ण के गुणों पर मुग्ध थी और उन्हीं से विवाह करना चाहती थी। उसके प्रति कृष्ण की भी यही मनोवृत्ति थी। परन्तु जरासन्ध को अपने जामाता के घातक, यादवों को मागध-साम्राज्य से निकाल ले जानेवाले कृष्ण से अपने एक वशवर्ती राजा की लड़की का पाणिग्रहण होना स्वीकार न था[1]।

---

१. रुक्मिणीं चकमे कृष्णः सा च तं चारुहासिनी।
न ददौ याचते चैनां रुक्मीद्वेषेण चक्रिणे ॥२॥
ददौ च शिशुपालाय जरासन्धप्रचोदितः।
भीष्मको रुक्मिणा सार्धं रुक्मिणीमुरुविक्रमः ॥३॥

विष्णुपुराण अं० ५ अ० २६

कृष्ण की एक और फूफी का लड़का था शिशुपाल। चेदिराट् दमघोष उसका पिता था। वह भी जरासन्ध के गुट में था। शिशुपाल जरासन्ध का सेनापति था[1]। जरासन्ध के कहने से भीष्मक ने अपनी लड़की का सम्बन्ध शिशुपाल से करना निश्चित किया।

विवाहोत्सव पर मागध साम्राज्य के सारे राजा निमन्त्रित हुए। कृष्ण यह कहाँ सहन कर सकते थे कि इनसे प्यार करनेवाली, इनकी चहेती, रुक्मिणी का लगन इनके रहते किसी दूसरे से हो जाय? विवाह-दिवस से एक दिन पूर्व ये भी उचित समारोह के साथ वहाँ जा पहुँचे और अवसर पाकर रुक्मिणी को निकाल लाये। विवाह पर आये राजाओं ने रास्ता रोका, परन्तु कृष्ण सबको परास्त कर चलते बने।[2] पीछे बलराम आदिकों ने सेनाओंसहित शत्रुओं का मुक़ाबिला किया।[3]

---

१. तं स राजा जरासन्धं संश्रित्य किल सर्वशः।
राजन् सेनापतिर्जातः शिशुपालः प्रतापवान्॥
सभा० १४,१०

२. यो रुक्मिणीमेकरथेन भोजानुत्साद्य राज्ञः समरे प्रसह्य।
उवाह भार्यां यशसा ज्वलन्तीं यस्यां जज्ञे रौक्मिणेयो महात्मा॥
उद्योग० ४७,७६

३. श्वो भाविनि विवाहे तु तां कन्यां हृतवान् हरिः।
विपक्षभारमासज्य रामाद्येष्वथ बन्धुषु॥६॥
वि० पु० अं० ५ अ० २६

रुक्मिणी का भाई रुक्मी जो उस समय के अद्वितीय वीरों में से था, इस कुलापमान को न सह सका। वह पहले से ही कृष्ण से अपनी बहिन का पाणिग्रहण होने का विरोधी था। उसने अपनी चतुरङ्गिणी सेना साथ ले कृष्ण का पीछा किया। कृष्ण जानते थे कि वह वीर है। इन्होंने उसे पास आने दिया। इससे पूर्व उसने इनके दर्शन न किये थे। इन योगिराज को देखते ही उसके हृदय पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने झट अपनी हार स्वीकार कर ली।[1]

यह दूसरे शब्दों में विदर्भों की ओर से रुक्मिणी का लगन कृष्ण से होने की स्वीकृति थी। जहाँ कृष्ण की सुन्दर छबि और प्रभावशाली शील से रुक्मी परास्त हुआ था, वहाँ उसने एक नये नगर की स्थापना की, जिसका नाम भोजकट

---

१. नामृष्यत पुरा योऽसौ स्वबाहुबलगर्वितः।
रुक्मिण्या हरणं वीरो वासुदेवेन धीमता ॥११॥

कृत्वा प्रतिज्ञां नाहत्वा निवर्तिष्ये जनार्दनम्।
ततोऽन्वधावत् वार्ष्णेयं सर्वशस्त्रभृतांवरम् ॥१२॥

सेनया चतुरङ्गिण्या महत्या दूरपातया।
विचित्रायुधवर्मिण्या गङ्गयेव प्रवृद्धया ॥१३॥

स समासाद्य वार्ष्णेयं योगिनामीश्वरं प्रभुम्।
व्यंसितो व्रीडितो राजन्नाजगाम स कुण्डिनम् ॥१४॥

रखा गया।[1] इस प्रकार रुक्मिणी का विवाह एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना बन गई। स्थिर स्मारक ने इन कुलों के मेल को इतिहास में अमर कर दिया।

कृष्ण रुक्मिणी को साथ ले घर लौट आये और उससे विधिपूर्वक विवाह किया।

जैसा कृष्ण ने फिर एक बार शिशुपाल से भरी सभा में कहा था, रुक्मिणी उनकी दृष्टि में वेद की ऋचा थी, जिसे शिशुपाल जैसा "मूढ़ शूद्र" प्राप्त ही नहीं कर सकता था। परवशवर्ती क्षत्रिय शूद्र नहीं तो क्या है[2] ?

उन दिनों क्षत्रिय-कन्याओं के विवाह तीन प्रकार से होते थे। सबसे उत्तम ढंग तो स्वयंवर का था। सभी विवाहार्थी

---

१. यत्रैव कृष्णेन रणे निर्जितः परवीरहा।
तत्र भोजकटं नाम कृतं नगरमुत्तमम् ॥१५॥

उद्योग० १५७

२. शिशुपाल से उन्होंने कहा थाः—
रुक्मिण्यामस्य मूढस्य प्रार्थनासीन् मुमूर्षतः।
न च तां प्राप्तवान् मूढः शूद्रो वेदश्रुतीमिव ॥

सभा० ४५,१५

शिशुपाल इसका उत्तर देते हुए कहते हैं:—
मत्पूर्वां रुक्मिणीं कृष्ण संसत्सु परिकीर्तयन्।
विशेषतः पार्थिवेषु व्रीडां न कुरुषे कथम् ॥१८॥
मन्यमानो हि कः सत्सु पुरुषः परिकीर्तयेत्।
अन्यपूर्वां स्त्रियं जातु त्वदन्यो मधुसूदन ॥१९॥

कन्या के घर एकत्र हुए। जिसने विवाह की शर्त भी पूरी कर दी और कन्या को भी वह वीर स्वयं या उसका चुना हुआ वर इष्ट हुआ, उसको इच्छानुसार उस राजकुमारी का पाणिग्रहण हो गया। विवाह का दूसरा ढंग कन्या को वीर्य-शुल्का उद्घोषित करने का था। यह दूसरे शब्दों में क्षत्रिय वीरों को निमन्त्रण होता था कि कन्यागृह में एकत्र होकर आपस में युद्ध करें और जो सब प्रतिद्वंद्वियों को जीत जाय, वह कन्या की इच्छा से उसका विवाह अपने साथ या किसी और के साथ कर दे। यदि कन्या का पिता इन दो में से किसी विधि का अवलंबन कर ले तो ठीक। इसमें सबको अपना बल पराक्रम दिखाने का अवसर था और कन्या को भी अपनी मति के अनुकूल वर प्राप्त हो सकता था। परन्तु यदि कोई पिता इन विधियों को छोड़ केवल अपनी इच्छा से अपनी लड़की का सम्बन्ध करने लगे तो वह बलात्कारी समझा जाता। किसी और विवाहेच्छु के लिए कन्या-हरण के सिवा अब और कोई रास्ता ही न था। वह अपनी इच्छा कन्या पर कैसे प्रकट करता? वह आता और कन्या को रथ में बिठाकर अपने साथ ले जाता। कन्या की अनुमति लेना विवाह के लिए तीनों विधियों में आवश्यक था। बलात्कार से उससे विवाह नहीं होता था।

उदाहरणतया द्रौपदी का स्वयंवर हुआ। उसने कर्ण से विवाह नहीं करना चाहा तो चाहे कर्ण कितना भी वीर था

और विवाह की शर्त भी पूरी कर सकता था, परन्तु द्रौपदी का विवाह उससे नहीं हुआ, नहीं हुआ। यहाँ तक कि कर्ण उसी समय विवाहार्थियों की श्रेणी से ही पृथक् हो गया। भीष्म अंबा, अम्बिका और अम्बालिका को, जो वीर्यशुल्का उद्घोषित हुई थीं, अपने बाहुबल से जीत लाये। इनमें से अम्बिका और अम्बालिका ने भीष्म के भाई विचित्रवीर्य से विवाह करना स्वीकार कर लिया। परन्तु अंबा ने इनकार किया। उसके उस समय के वह शब्द उस समय के वीरों के शील तथा क्षत्रिय-कुलों की मर्यादा पर एक सुन्दर प्रकाश डालते हैं। क्षत्रिय-कन्या ने कहा:—

हे भीष्म! आप धर्म को जानते हैं। सब शास्त्रों के आप पण्डित हैं। मेरी बात सुन लीजिए। फिर जो धर्म हो वही कीजिए। मैं पहले अपने मन में शाल्वराज को ही वर चुकी हूँ और वे मुझे वर चुके हैं। मेरे पिता इस रहस्य को जानते थे। क्षत्रियवीर! आप किस तरह मुझे, जो एक और को दिल दे चुकी हूँ, अपने घर में बसायेंगे? इससे आप धर्म का उल्लंघन करेंगे। और फिर आप कौरव हैं[1]।

---

१. भीष्म त्वमसि धर्मज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः।
श्रुत्वा च वचनं धर्म्यं मह्यं कर्तुमिहार्हसि ॥५॥
मया शाल्वपतिः पूर्वं मनसाभिवृतो वरः।
तेन चास्मि वृता पूर्वं रहस्यविदिते पितुः ॥६॥

भीष्म ने यह सुनते ही अंबा को अनुमति दे दी कि वह जिस वीर के हृदय से अपने हृदय की गाँठ बाँध चुकी है उसी के पल्ले से अपना पल्ला बाँधे।

यही बात हरण में थी। दूसरे शब्दों में हरण अपनी इच्छा किसी युवती कन्या पर प्रकट करने का बलपूर्वक अवसर प्राप्त करना था। बलपूर्वक उस समय जब इसके बिना काम न चलता हो। बल का प्रयोग परिवार के प्रति था, कन्या के प्रति नहीं। फिर विवाह उसी समय हो सकता था, जब कन्या स्वयं उस वर को स्वीकार कर ले। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि चाहे कोई लड़की वीर्यशुल्का हो चाहे यों ही उसका हरण हुआ हो, उसकी मान-मर्यादा क्षत्रियवीरों के हाथ में सर्वथा सुरक्षित थी। आवश्यकता पड़ने पर वह दो हाथ किसी बलात्कारी नरपिशाच से स्वयं भी कर सकती थी। श्रीकृष्ण ने द्वारका के दुर्ग की रक्षा की संभावना अपनी जाति की स्त्रियों से भी तो की थी। हरण में और किसी पर बलात्कार हो, बालिका पर बलात्कार न होता था। वह तो उसका एक क्षत्रिय योद्धा की कोमल प्रार्थना सुनने के लिए जाना मात्र था, जिसको वह सुनने से पूर्व भी ठुकरा सकती थी, सुन कर भी लौटा सकती थी।

कथं सामन्यकामां त्वं राजन् धर्ममतीत्य वै।
वासयेथा गृहे भीष्म कौरवः सन् विशेषतः ॥७॥

उद्योगपर्व १७३

उस समय की विवाह-विधियों का उपर्युक्त विवरण यहाँ इसलिए दे दिया गया है कि श्रीकृष्ण का रुक्मिणी-हरण अपने ठीक रूप में पाठकों के सम्मुख आ जाय। आगे सुभद्राहरण की बात आयेगी। उस समय भी हरण का यह रूप ध्यान में रखना घटनाओं का ठीक वास्तविक स्वरूप समझने के लिए आवश्यक होगा। दुरुपयोग किसी भी शैली का हो सकता है। परन्तु किसी भी प्रथा का वास्तविक रहस्य उसके उत्तम स्वरूप में निहित होता है। कृष्ण और अर्जुन उस समय के महापुरुष थे। इन्होंने अपने समय की शैली का अनुसरण उत्तम ढंग से किया।

हम ऊपर यह तो देख ही चुके हैं कि कृष्ण और रुक्मिणी का विवाह-संयोग हार्दिक प्रेम का संवंध था। उत्तम सन्तान की उत्पत्ति के लिए दोनों ने बारह वर्ष ब्रह्मचर्यपूर्वक तप किया।[1] इस तपस्या का फल-स्वरूप प्रद्युम्न पैदा हुआ, जो क्या रूप और क्या शील दोनों में दूसरा कृष्ण था। कृष्ण को इस सन्तान का इतना अभिमान था कि जहाँ कहीं ये उसका वर्णन करते, उसे "मे सुतः" मेरा पुत्र कहते। कृष्ण कितने तपस्वी थे, कितने संयमी, कितने सदाचारी थे, इसी एक घटना से स्पष्ट है।[2]

---

१. श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं:—

ब्रह्मचर्यं महद्घोरं चीर्त्वा द्वादशवार्षिकम्।
हिमवत्पार्श्वमभ्येत्य यो मया तपसार्जितः ॥२०॥

समानव्रतचारिण्यां रुक्मिण्यां योऽन्वजायत ।
सनत्कुमारस्तेजस्वी प्रद्युम्नो नाम मे सुतः ॥३१॥

सौप्तिकपर्व अ० १२

२. श्रीकृष्ण ने केवल रुक्मिणी से विवाह किया या वे एक से अधिक रानियों के पति हुए, इस विषय का विचार बंकिमचन्द्र ने अपने लिखे "कृष्ण-चरित्र" में किया है। उनका मत है कि केवल रुक्मिणी ही कृष्ण की रानी थी। महाभारत में प्राग्ज्योतिष के राजा नरक को जीतकर सोलह हज़ार स्त्रियाँ उसके यहाँ से लाने की कथा बार-बार दोहराई गई है। संभवपर्व में कहा है:—

गणस्त्वप्सरसां यो वै मया राजन् प्रकीर्तितः ॥१५४॥
तस्य भागः क्षितौ जज्ञे नियोगाद् वासवस्य ह ।
तानि षोडश देवीनां सहस्राणि नराधिप ॥१५५॥
बभूवुर्मानुषे लोके वासुदेवपरिग्रहाः ॥१५६॥

श्रीकृष्ण इस पर्व में विष्णु के अंशावतार कहे गये हैं, यथा—

यस्तु नारायणो नाम देवदेवः सनातनः ॥१५१॥
तस्यांशो मानुषेष्वासीद् वासुदेवः प्रतापवान् ॥१५२॥

उनकी स्त्री लक्ष्मी का अंश ही हो सकती हैं। इस सम्बन्ध में लिखते हैं:—

श्रियस्तु भागः संजज्ञे रत्यर्थं पृथिवीतले ॥१५६॥
भीष्मकस्य कुले साध्वी रुक्मिणी नाम नामतः ॥१५७॥

और रानियों का नाम यहाँ नहीं आया। प्रतीत यह होता है कि इस अंशावतार की कल्पना के समय तक कृष्ण की रानी एक ही मानी जाती थी, रुक्मिणी। सोलह हज़ार तो स्पष्ट परिचारिकायें हैं। उनसे "रति" का सम्बन्ध नहीं लिखा। "रत्यर्थम्" रुक्मिणी के विषय में ही आया

है। वह ही कृष्ण के घर की लक्ष्मी थी और ये उसी के हृदयमन्दिर के ठाकुर—विष्णु थे।

रुक्मिणी से कृष्ण का पुत्र हुआ प्रद्युम्न। वह इनका अनुरूप ही था। पुराणों ने इस अनुरूपता को इतना बढ़ाया है कि स्वयं रुक्मिणी को प्रद्युम्न में श्रीकृष्ण का धोखा हो जाने का वृत्तान्त भागवत में मिलता है। शाल्व राजा के साथ प्रद्युम्न की लड़ाई बड़ी मार्मिक है। उसका वर्णन आगे आयगा। कृष्ण के वंश का वर्णन करते हुए वृष्णि-वंश की आन का दिग्दर्शन हम इसी वृष्णिवीर की एक उक्ति से पहले अध्याय में करा आये हैं। इसके अतिरिक्त कृष्ण का एक और पुत्र शाम्ब महाभारत में स्थान स्थान पर वर्णित है। वह भी बलवान् है, शूर है। परन्तु कृष्ण की प्रतिमा उसे किसी ने नहीं कहा। कृष्ण भी जिस ममत्व से प्रद्युम्न का वर्णन करते हैं, वैसे शाम्ब का नहीं। वह जाम्बवती का लड़का था। जाम्बवती का परिचय महाभारत में तो कहीं मिलता नहीं। हाँ! पुराण उसे एक रीछ की कामरूपिणी कन्या बताते हैं। सम्भव है किसी अज्ञात-कुल के बालक को किसी रीछनी ने पाला हो। ऐसी घटनाएँ प्रायः और इतिहासों में भी मिलती हैं। श्रीकृष्ण ने मृगया में इसे पाया हो और अपना पुत्र बनाकर इसे पाला-पोसा हो। रीछनी को आदरार्थ जाम्बवती कहते हों। कुछ हो, जाम्बवती का पता महाभारत से नहीं मिलता कि वह कौन थी।

श्रीकृष्ण के गान्धारराज की कन्या को स्वयंवर में जीतने का संकेत निम्नलिखित श्लोकों में पाया जाता है:—

> तथा गान्धारराजस्य सुतां जित्वा स्वयंवरे।
> निर्जित्य पृथिवीपालानवहत् पुष्करेक्षणः॥
> अमृष्यमाणा राजानो यस्य जात्या हया इव।
> रथे वैवाहिके युक्ताः प्रतोदेन कृतव्रणाः॥

द्रोणपर्व ११, १०—११

केवल इस ढिठाई के कारण कि और राजा उस स्वयंवर में गये क्यों, कृष्ण ने उन्हें क्षमा न किया हो, उलटा घोड़ों की तरह रथ में जोत कर उन्हें हंटर मारे हों और ज़ख़्मी कर डाला हो, यह बात कृष्ण-चरित्र के सर्वथा प्रतिकूल है। जैसे हम आगे चल कर देखेंगे, कृष्ण अत्यन्त क्षमा-शील थे। इस गान्धारी अथवा कृष्ण की किसी और रानी का पता अंशावतार की कल्पना करनेवाले तक को तो हुआ ही नहीं, यह हम ऊपर दिखा चुके हैं। बंकिम की यह तर्कणा भी युक्तियुक्त है कि गान्धार के राजा उस समय शकुनि थे जो दुर्योधन के मामा थे। परन्तु कृष्ण का उनसे कोई सम्बन्ध है, इसकी गन्ध भी महाभारत के वृत्तान्त में नहीं मिलती। शकुनि महाभारत-युद्ध में कौरवपक्ष के महारथियों में से हैं। उन्होंने कृष्ण के पकड़वाने की सलाह दी है। कृष्ण ने भी उनके पकड़े जाने का प्रस्ताव किया है। इससे इनका आपस में ससुर-जामाता या इस प्रकार का कोई और सम्बन्ध तो इंगित नहीं होता। हाँ! इसके विपरीत शत्रुता या उदासीन विपक्षता का संकेत ज़रूर मिलता है।

महाभारत में कृष्ण के किसी और विवाह की ओर निर्देश नहीं किया गया। लक्ष्मी का अंश केवल रुक्मिणी को बताने से यह भी ध्वनित होता है कि इनकी कोई और स्त्री न थीं। कम से कम अंशावतार की कल्पना तक इनके बहु-विवाह की किसी को ख़बर तक नहीं हुई।

इस विषय का विस्तृत विवेचन बंकिम ने अपने ग्रन्थ "कृष्ण-चरित्र" में किया है। हमने केवल महाभारत में आये संकेतों पर ही दृष्टि डाली है। कुछ बातें बंकिम की आलोचना से रह गई थीं, वह भी ऊपर लिख दी हैं।

द्रौपदी का स्वयंवर

कृष्ण की एक फूफी थी पृथा। उसे बचपन में ही इनके दादा शूर ने अपने मित्र कुन्तिभोज को जो मालवे की ओर का राजा था और जिसके अपनी सन्तान न थी, दे दिया था।[1] पृथा दूसरे शब्दों में भोजराज कुन्ति की गोद ली हुई कन्या थी। इसी से पृथा का नाम कुन्ती हुआ। वह अब वृष्णि-कुल की न रह कर कुन्ति के कुल की हो गई। वही इसका गोत्र हुआ और वही इसका पिण्ड। कुन्तिभोज ने पृथा का स्वयंवर रचा जिसे पाण्डु ने जीता। पाण्डु की युधिष्ठिर आदि सन्तान इसी पृथा (जिसका दूसरा नाम कुन्ती था) के पेट से हुई।

दुर्योधन के बनवाये लाक्षागृह से बचकर पाण्डव अपनी माता कुन्ती के साथ जंगलों में छिपते फिरते थे कि इन्हें पांचालराज द्रुपद की कन्या यज्ञसेनी के स्वयंवर की ख़बर मिली। ये ब्राह्मणों का वेष धारण कर स्वयंवर में पहुँचे। श्रीकृष्ण भी इस पुण्य उत्सव को देखने के लिए पांचाल पहुँचे थे। द्रुपद ने एक कड़ी कमान बनवा रखी थी, जिस पर चिल्ला चढ़ाना बहुत कठिन था। आकाश में एक यन्त्र लगवा दिया था। उस यन्त्र में लक्ष्य था। शर्त यह थी कि जो कमान

---

१. अग्रजातेति तां कन्यां शूरोऽनुग्रहकांक्षया।
अददत्कुन्तिभोजाय स तां दुहितरं तदा॥ आदि० ६७,३१.

पर चिल्ला चढ़ा कर तीर से लक्ष्य को वेध दे, यज्ञसेनी उसी की होगी[१]।

राजसभा में से बहुतों ने कमान खींचने का प्रयत्न किया, परन्तु घुटनों से ऊपर उसे कोई न ले जा सका। कर्ण बढ़ा ही था कि द्रौपदी ने कह दिया, मैं इस सूत-पुत्र से विवाह न करूँगी। अब ब्राह्मण-दल से अर्जुन निकला। उसने धनुष उठाया, खींचा, निशाना जमाया, और लक्ष्य की ओर तीर छोड़ा जो सीधा निशाने को वेध गया। द्रौपदी उसके पीछे हो ली।

राजा लोग यह कैसे सहन कर सकते थे कि उनके स्वयंवर का विजेता एक ब्राह्मण हो। उन्होंने शोर मचाया और लड़ने को तैयार हुए। इधर भीम ने पास खड़े किसी वृक्ष को उखाड़ा और उसी की चटपट गदा बना ली।

यह सब कौतुक श्रीकृष्ण एक ओर खड़े देख रहे थे। उन्होंने इससे पूर्व पाण्डवों को कभी देखा न था। उनकी केवल प्रसिद्धि सुनी थी। यह भी सुन रखा था कि दुर्योधन ने उन्हें लाख के घर में ठहरा कर जलवा दिया है। इसके पश्चात्

---

१. दृढं धनुरनायम्यं कारयामास भारत ॥९॥
यन्त्रं वैहायसं चापि कारयामास कृत्रिमम्।
तेन यन्त्रेण समितं राजा लक्ष्यं चकार सः ॥१०॥
इदं सज्जं धनुः कृत्वा सज्जैरेभिश्च सायकैः।
अतीत्य लक्ष्यं यो वेद्धा स लब्धा मत्सुतामिति ॥११॥

आदि० १८७

फूफी पृथा और उसके पुत्रों का क्या हुआ, इसका उन्हें पता न था। सब राजाओं को इस प्रकार निष्फल और एक ब्राह्मण-कुमार को सारे क्षात्रमण्डल के कान कतरता देख कृष्ण ताड़ गये, हो न हो यह अपूर्व धनुर्धारी अर्जुन ही है। और जब उसके पास उसी के एक भाई को वृक्ष उखाड़ते और उससे गदा का कार्य लेने को उद्यत खड़े देखा तो उन्हें निश्चय हो गया कि भीम भी साथ है। और फिर इन दोनों की ओर बढ़ते एक गोरे, लम्बे, सुन्दर, कमलाक्ष, सिंह की तरह चलनेवाले परन्तु विनम्र वीर को देखा तो समझ गये, निश्चय यह युधिष्ठिर है। कार्त्तिकेय-स्वरूप और दो कुमारों को भी इन पाँच ब्राह्मणों की टोली में देखा तो सन्देह का अवसर ही न रहा। अपने भाई बलराम से बोले, बधाई हो ! पृथा जीती है। ये उसी के विजयी कुमार हैं।[१]

---

१. तत् प्रेक्ष्य कर्मातिमनुष्यबुद्धिर्जिष्णोः सह भ्रातुरचिन्त्यकर्मा ।
दामोदरो भ्रातरमुग्रवीर्यं हलायुधं वाक्यमिदं बभाषे ॥१९॥
स एष सिंहर्षभखेलगामी महद्धनुः कर्षति तालमात्रम् ।
एषोऽर्जुनो नात्र विचार्यमस्ति यद्यस्मि संकर्षण वासुदेवः ॥२०॥
यस्त्वेष वृक्षं तरसा विभज्य राज्ञां निकारे सहसा प्रवृत्तः ।
वृकोदरान्नान्य इहैतदद्य कर्तुं समर्थः समरे पृथिव्याम् ॥२१॥
यो ह्यसौ पुरस्तात् कमलायताक्षस्तनुर्महासिंहगतिर्विनीतः ।
गौरः प्रलम्बोज्ज्वलचारुघोणो विनिसृतः सोऽच्युत धर्मपुत्रः ॥२२॥
यौ तौ कुमाराविव कार्तिकेयौ द्वावश्विनेयाविति मे वितर्कः ।
मुक्ता हि तस्माज्जतुवेश्मदाहान्मया श्रुताः पाण्डुसुताः पृथा च ॥२३॥
आदिपर्व १९१

इतने में कर्ण ने अर्जुन से धनुर्विद्या के दो दो वार किये; परन्तु वह इसके शरों की शक्ति और निशाने की सीध को देख कर मान गया कि इसे जीता नहीं जा सकता। यह तो जैसे मूर्त धनुर्वेद है। उधर शल्य और भीम में मल्लयुद्ध हो गया। ये भी दो चार बार आपस में गुत्थमगुत्था हुए। फिर तो भीम ने जैसे शल्य को ऊपर उठाया और नीचे पटक दिया। सारे राज-समाज में सन्नाटा छा गया। क्षत्रियों को क्रोध भी था, विस्मय भी। श्रीकृष्ण को डर हुआ, कहीं सब राजा मिल कर इन दो कुन्ती-कुमारों पर आक्रमण न कर दें। और तो जो हो, कहीं इनका भेद ही न खुल जाय। कृष्ण की उस समय के क्षत्रियों में धाक थी। इनकी बात सुनी जाती थी। ये बढ़े और उन्मत्त राजाओं को समझाने लगे—भाई! वह बाज़ी ले तो धर्म ही से गया है। फिर इस होहल्ले से लाभ क्या? अपनी वीरता का फल उसे भोगने दो[१]। बात सची थी और अपने ही एक भाई-बन्द के मुँह से निकली थी। सबके हृदय में बैठ गई। राजा लोग अपने अपने डेरों में चले गये और पाण्डव वीरों ने अपनी कुटी का रास्ता लिया।

कृष्ण के आनन्द का पारावार न था। खोई हुई फूफी, खोये हुए फुफेरे भाई फिर से मिल गये। जिन भाइयों के बल-पराक्रम की कहानियाँ सुनी हैं, पर मिलने का अवसर इससे

---

१. निवारयामास महीपतींस्तान् धर्मेण लब्धेत्यनुनीय सर्वान्।

आदिपर्व १९२,३६

पूर्व कहीं नहीं हुआ, उनसे भेंट होगी। और वह होगी कहाँ ? जंगल में, जहाँ वे वेश बदल कर परिचित-मात्र से छिपते फिर रहे हैं। आज उनका विजयोत्सव है, परन्तु है कहाँ ? भृगुपुत्र की पर्णकुटी में—एक कुम्हार के घर। जब उनसे कहूँगा, "चोरो ! पकड़े गये हो" तो वे कैसे चकित होंगे ? यह सोचते-सोचते कृष्ण कुम्हार के आँवे पर जा पहुँचे। युधिष्ठिर के पाँव पकड़ कर बोले,—मैं कृष्ण हूँ। तत्पश्चात् पृथा के पाँवों में झुक कर अभिवादन किया। युधिष्ठिर ने पूछा, भाई ! पहिचाना कैसे ? कृष्ण ने उत्तर दिया—आग को लाख छिपाइए, उसकी लपटें उसे प्रकट कर ही देती हैं। यह बल, यह विक्रम पांडवों के सिवा और किसका हो सकता है ? इस प्रकार की प्रेम की बातें कर श्रीकृष्ण अपने डेरे पर लौट आये[1]।

स्वयंवर हुए पीछे विवाह में कितनी देर लगनी थी ? विवाह हो जाने पर श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर के पास बहुमूल्य पुरस्कार भेजे। कई प्रकार के मोती, हीरे, लाल, जवाहर, देश-देश से आये हुए बहुमूल्य वस्त्र, सुंदर कंबल, कोमल खालें, बिछौने, तख़्त, गाड़ियाँ, बर्तन, मोतियों से जड़े चित्र, देश-विदेश की

---

१. कृष्णोऽहमस्मीति निपीड्य पादौ युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः ॥२०॥
पितृष्वसुश्चापि यदुप्रवीरावगृह्णतां भारतमुख्य पादौ ॥२१॥
तमब्रवीद्वासुदेवः प्रहस्य गूढोऽप्यग्निर्ज्ञायत एव राजन्।
तं विक्रमं पाण्डवेयानतीत्य कोऽन्यः कर्त्ता विद्यते मानुषेषु ॥२३॥
आदिपर्व १९२

सुन्दर सेविकायें, सधाये हुए घोड़े, सजे हुए हाथी, सुनहरे कपड़ों से मढ़े हुए हाथी-दाँत के रथ, ढेरों खरा सोना और सोने के भूषण इत्यादि बहुविध पुरस्कार प्रस्तुत किये। युधिष्ठिर ने यह प्रेम की भेंट अत्यन्त प्रेमपूर्वक स्वीकार की[1]।

अर्जुन और कृष्ण की मित्रता का यहीं से आरम्भ होता है। एक सूरमा को दूसरे सूरमा से प्रीति होते क्या देर लगनी थी? युधिष्ठिर तो फिर आयु में बड़े थे। उनमें पूजा-बुद्धि रखना ही उचित था। अर्जुन इनके अपने वयस के थे। उनकी इनकी झट एकात्मता हो गई। कृष्ण के एक इशारे-मात्र से स्वयंवर के समय का समस्त राजसमाज, जो एक ब्राह्मण-वेषधारी ब्रह्मचारी की कर्तूत से अपने आपको अपमानित अनुभव कर

---

१. वैदूर्यमणिचित्राणि हैमान्याभरणानि च ॥१३॥
वासांसि च महार्हाणि नानादेश्यानि माधवः।
कंबलाजिनरत्नानि स्पर्शवन्ति शुभानि च ॥१४॥
शयनासनयानानि विविधानि महान्ति च।
वैदूर्यवज्रचित्राणि शतशो भाजनानि च ॥१५॥
रूपयौवनदाक्षिण्यैरुपेताश्च स्वलङ्कृताः।
प्रेष्याः संप्रददौ कृष्णो नानादेश्याः सहस्रशः ॥१६॥
गजान् विनीतान् भद्रांश्च सदश्वांश्च स्वलङ्कृतान्।
रथांश्च दान्तान् सौवर्णशुभ्रैः पट्टैरलङ्कृतान् ॥१७॥
कोटिशश्च सुवर्णञ्च तेषामकृतकं तथा।
वीथीकृतममेयात्मा प्राहिणोन्मधुसूदनः ॥१८॥

आदि० २०१

क्रोधान्ध हो रहा था, तुरन्त शान्त हो गया। इनकी मित्रता पाकर पाण्डवों ने अपने आपको धन्य माना और अपने सभी कार्यों में इन्हीं की आज्ञा के अधीन रहने लगे।

द्रुपद से सम्बन्ध हो जाने के पीछे पाण्डवों की शक्ति बढ़ गई। इन्हें अब अपने आपको छिपाने की भी आवश्यकता न रही। कौरवों ने पहिले तो कुछ ननु नच किया परन्तु फिर स्वयं ही आधा राज्य इन्हें दे दिया। खांडव-प्रस्थ का इलाक़ा इनके हिस्से आया[१]। ये बाजे गाजे के साथ वहाँ गये तो कृष्ण इनके अगुआ थे।[२] इन्होंने इन्द्रप्रस्थ (वर्तमान देहली) को अपनी राजधानी बनाकर इस नई पाण्डवपुरी को उस समय की सभ्यता का केन्द्र बना दिया। प्राकारों का निर्माण हुआ। परिखायें खोदी गईं, सुरक्षा के लिए तलवारें लगाये योद्धा लोग सर्पाकार शक्तियाँ सजाये नगर के चारों ओर नियत हुए। तरह तरह के यन्त्र-जाल रचे गये। नगर को सुन्दर क्रम-पूर्वक बाज़ारों में बाँटा गया। पर्वताकार शीशे की तरह चमकते, विमल तीन तीन मञ्ज़िल के मकान निर्मित हुए। आकाशचुम्बी ऊँचे ऊँचे महल बने।

---

१. धृतराष्ट्र युधिष्ठिर से कहते हैं:—

अर्धं राज्यस्य संप्राप्य खाण्डवप्रस्थमाविश ॥२५॥

आदि० २०६

२. ततस्ते पाण्डवास्तत्र गत्वा कृष्णपुरोगमाः ॥२७॥

आदि० २०६

उनके द्वारों पर गरुड़ आदि की मूर्तियाँ ख़ूब शोभा दिखाने लगीं। स्थान स्थान पर बावलियाँ और सरोवर खुदवाये गये। उनके चारों ओर पुष्पवाटिकायें थीं। जलीय प्राणी किलोल कर रहे थे। कृत्रिम पहाड़ बनवाये गये। सुन्दर कुञ्ज-निकुञ्ज सजाये गये। वनों से घिरे ताल बनवाये गये। सड़कों पर और उद्यानों में वृक्ष लगाये गये। दिग्दिगन्तों के वणिकों की कोठियाँ खुलीं। सब प्रकार के शिल्पकार बसे। वेदवेदाङ्ग के जाननेवाले और देश-विदेश की भाषाओं के विशेषज्ञ आर्य संस्कृति के सुरक्षक ब्राह्मण लोग अपने सरस्वती-मन्दिरों सहित विराजमान हुए। राजभवन के मुहल्ले की विशेष शोभा इन्हीं से थी। नगर की स्थापना उस काल के ब्राह्मणप्रवर श्रीव्यासजी के हाथों कराई गई।[१] कुरुकुल के वृद्ध भीष्म

---

१. सागरप्रतिरूपाभिः परिखाभिरलङ्कृतम् ॥२९॥
प्राकारेण च सम्पन्नं दिवमावृत्य तिष्ठता ॥३०॥
शक्तिभिश्चावृतं तद्धि द्विजिह्वैरिव पन्नगैः।
तल्पैश्चाभ्यासिकैर्युक्तं शुशुभे योधरक्षितम् ॥३३॥
तीक्ष्णांकुशशतघ्नीभिर्यन्त्रजालैश्च शोभितम्।
आयसैश्च महाचक्रैः शुशुभे तत् पुरोत्तमम् ॥३४॥
सुविभक्तमहारथ्यं देवताबाधवर्जितम्।
विरोचमानं विविधैः पाण्डुरैर्भवनोत्तमैः ॥३५॥
द्विपक्षगरुडप्रख्यैर्द्वारैः सौधैश्च शोभितम् ॥३१॥
वापीभिर्विविधाभिश्च पूर्णाभिः परमाम्भसा।
सरोभिरतिरम्यैश्च पद्मोत्पलसुगन्धिभिः ॥ ४६ ॥

अपने भाई विचित्रवीर्य के पोतों, पाण्डु की सन्तान, कुन्ती और माद्री के लालों को आशीर्वाद देने आये। युधिष्ठिर राजा हुए और द्रौपदी उनकी महिषी। श्रीकृष्ण ने द्रौपदी को

हंसकारण्डवयुतैः चक्रवालोपशोभितैः।
रम्याश्च विविधास्तत्र पुष्करिण्यो वनावृताः।
तडागानि च रम्याणि बृहन्ति सुबहूनि च ॥४७॥
गृहैरादर्शविमलैर्विविधैश्च लतागृहैः।
मनोहरैश्च त्रिगृहैस्तथाऽजगतिपर्वतैः ॥४५॥
वणिजश्चाप्ययुस्तत्र नानादिग्भ्यो धनार्थिनः।
सर्वशिल्पविदस्तत्र वासायाभ्यागमंस्तदा ॥३६॥
तत्र रम्ये शिवे देशे कौरवस्य निवेशनम् ॥३७॥
तत्रागच्छन् द्विजा राजन् सर्ववेदविदांवराः।
निवासं रोचयन्ति स्म सर्वभाषाविदस्तथा ॥३८॥
उद्यानानि च रम्याणि नगरस्य समन्ततः।
आम्रैराम्रातकैर्नीपैरशोकैश्चम्पकैस्तथा ॥४०॥
पुन्नागैर्नागपुष्पैश्च लकुचैः पनसैस्तथा।
शालतालतमालैश्च बकुलैश्च सकेतकैः ॥४१॥
मनोहरैः सुपुष्पैश्च फलभारावनामितैः।
प्राचीनामलकैर्लोध्रै रंकोलैश्च सुपुष्पितैः ॥४२॥
जम्बुभिः पाटलाभिश्च कुब्जकैरतिमुक्तकैः।
करवीरैः पारिजातैरन्यैश्च विविधैर्द्रुमैः ॥४३॥
नित्यपुष्पफलोपेतैर्नानाद्विजगणैर्युतैः।
मत्तबर्हिणसंघुष्टकोकिलैश्च सदामदः ॥४४॥
नगरं स्थापयामासुर्द्वैपायनपुरोगमाः ॥२६॥

आदि० २०५

अपने सखित्व में ले लिया।[१] अर्जुन से तो उन्हें प्यार था ही।

इन्द्रप्रस्थ में इस प्रकार युधिष्ठिर और द्रौपदा के सिंहासनारूढ़ हो चुकने के पश्चात् श्रीकृष्ण द्वारका लौट आये।

———

१ द्रौपदी कहती है:—

वासुदेवस्य च सखी पार्थिवानां सभामियाम्।

सभा० ६९,१०

सुभद्रा का विवाह

तीर्थयात्रा के उद्देश्य से घर से निकले हुए अर्जुन पश्चिम समुद्र के किनारे प्रभास पहुँचे। प्रभास श्रीकृष्ण के राज्य में का एक स्थान था। आज तो वहाँ सोमनाथ का मन्दिर है और श्रीकृष्ण के देहावसान का पुण्यस्थान होने से उसे और भी अधिक महत्त्व प्राप्त हो चुका है। उस समय समुद्र के किनारे खड़ा यह एक अत्यन्त रमणीय नगर था। श्रीकृष्ण को पता लगा कि अर्जुन प्रभास आये हैं तो ये उन्हें वहीं मिलने गये। दोनों वीर एक दूसरे से प्रेम-पूर्वक गले मिले। दोनों ने एक दूसरे का कुशल-समाचार पूछा।[१] प्रभास से श्रीकृष्ण अर्जुन को रैवतक पहाड़ पर लाये। कुछ समय पर्वत की सैर की। फिर सुनहरी रथों में सवार हो द्वारका पहुँचे। द्वारकावासियों ने अर्जुन की वीरता के सुसमाचार सुन रखे थे। द्रौपदी के स्वयंवर का विजेता श्रीकृष्ण का प्यारा सखा आ रहा है, उसके स्वागत के लिए द्वारका नई दुलहिन की तरह सँवारी गई। पुरवासियों ने राजमार्ग पर आकर

---

१. तावन्योऽन्यं समाश्लिष्य पृष्ट्वा च कुशलं वने।

आदि० २२०, ९

पांडववीर का अभिनन्दन किया।[१] अर्जुन बड़ों से अभिवादन-पूर्वक, समवयस्कों से गले मिलकर और छोटों को प्यार कर करके मिले और फिर आनन्दपूर्वक श्रीकृष्ण के पास रहने लगे।

इतने में अन्धक-वृष्णियों का एक त्यौहार आ गया। रैवतक पर्वत को सजाया गया। पर्वत के चारों ओर इन राजा लोगों के भवन थे।[२] वहाँ से सुन्दर अलंकृत सवारियों में सात्वत सर्दार निकले। चारों ओर बाजे बज रहे थे। नर्तक नृत्य कर रहे थे। गायक गीत गा रहे थे। बलराम रेवती के साथ, अन्य सात्वत लोग अपनी अपनी धर्मपत्नियों सहित चारों ओर भ्रमण कर रहे थे। गाने बजानेवाले पुरुष तथा स्त्रियाँ उनके पीछे पीछे फिर रही थीं। कृष्ण अर्जुन को साथ लिये इस मङ्गलोत्सव का अवलोकन करते फिरते थे। श्रीकृष्ण की बहिन सुभद्रा अपनी सखियों सहित मौज मङ्गल मना रही थी।[३] अर्जुन की दृष्टि ज्यों ही उस पर पड़ी, ये प्रेम-पाश में

---

१. रथेन काञ्चनाङ्गेन द्वारकामभिजग्मिवान् ॥१५॥
अलङ्कृता द्वारका तु बभूव जनमेजय ॥१६॥
नरेन्द्रमार्गमाजग्मुस्तूर्णं शतसहस्रशः ॥१७॥
आदि० २२०

२. प्रासादैः रत्नचित्रैश्च गिरेस्तस्य समन्ततः ॥३॥
आदि २२१

३. पौराश्च पादचारेण यानैरुच्चावचैस्तथा।
सदाराः सानुयात्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥६॥
ततो हलधरः क्षीबो रेवतीसहितः प्रभुः।
अनुगम्यमानो गन्धर्वैरचरत्तत्र भारत ॥७॥

बँध गये । कृष्ण ने भाव-भङ्गी से जान लिया कि अर्जुन का हृदय अब अपने क़ाबू में नहीं रहा। उनकी दृष्टि उत्सव में न जाकर एक ही दृष्टिबिन्दु पर पड़ती है। वे हँसते हुए बोले:— "तीर्थयात्रा में भी काम के बाण चलते हैं क्या ?[१] इच्छा हो तो पिता से बात करूँ ।[२] सुभद्रा कुल भर की प्यारी लड़की है।" अर्जुन ने आँखें झुकाते हुए कहा, सबकी प्यारी यदि मुझे भी प्यारी लगे तो इसमें कौतूहल की बात क्या ? और यदि मनुष्य इसे प्राप्त कर सकते हों तो मैं इसे प्राप्त करने का प्रयत्न तो करूँगा ही।[३] कृष्ण बोले:—क्षत्रिय-कन्या या तो स्वयंवर में जीती जाती है या उसका हरण होता है। स्वयंवर का क्या फल होगा ? क्या शर्त रहेगी ? किस बात को पसन्द किया जायगा ? इसका कुछ ठीक नहीं। तुम सुभद्रा का हरण कर जाओ।[४] पाठक ! देखिए, लड़की का बड़ा भाई स्वयं हरण की

तत्र चङ्क्रममाणौ तौ वसुदेवसुतां शुभाम् ।
अलङ्कृतां सखीमध्ये सुभद्रां ददृशतुस्तदा ॥१४॥

आदि० २२१

१. अब्रवीत् पुरुषव्याघ्रः प्रहसन्निव भारत ।
वनेचरस्य किमिदं कामेनालोड्यते मनः ॥१६॥

२. यदि ते वर्तते बुद्धिर्वक्ष्यामि पितरं स्वयम् ॥१७॥

३. आस्थास्यामि तदा सर्वं यदि शक्यं नरेण तत् ॥२०॥

४. स्वयंवरः क्षत्रियाणां विवाहः पुरुषर्षभ ।
स च संशयितः पार्थ स्वभावस्यानिमित्ततः ॥२१॥
प्रसह्य हरणं चापि क्षत्रियाणां प्रशस्यते ।
विवाहहेतुः शूराणामिति धर्मविदो विदुः ॥२२॥

सलाह दे रहा है। यदि हरण बलात्कार होता और इसमें लड़की की मान-मर्यादा का भङ्ग सम्भावित होता तो संसार भर की नारियों के मान-रक्षक कृष्ण क्या अपनी ही बहन की मान-मर्यादा के पीछे लठ लेकर पड़े थे ? यह तो जैसे हम एक बार ऊपर कह आये हैं, अर्जुन को अपनी प्रार्थना सुभद्रा के सम्मुख रख देने का अवसर प्रदान करना था। यह अवसर वे अपने घर के बड़ों की अनुमति से ही दिलवा देते, जैसे पहले-पहल उन्हें सूझा भी था कि यदि अर्जुन चाहें तो वे अपने पिता से बातचीत करें। परन्तु संभवत: अपने भाई बन्दों के स्वभाव से उन्हें इनके आपस में ही असहमत हो जाने की आशङ्का थी। फिर किसी क्षत्रिय वीर के लिए बिना बल-प्रदर्शन के अपनी हृदयेश्वरी का हृदय हरना शायद उसकी वीरता पर भी लाञ्छन हो।

यह बात कृष्ण और अर्जुन में ठीक हो चुकने पर युधिष्ठिर की अनुमति लेने के लिए दूत भेजे गये। जब उधर से भी हाँ आगई तो अर्जुन सुभद्रा को रथ में बिठाकर चलते बने। सुभद्रा के बड़े भाई का यह प्रस्ताव ही था। इनका अपना बड़ा भाई युधिष्ठिर भी इसमें सहमत था। रही स्वयं सुभद्रा, वह हँसती हुई रथ में बैठ गई।[१] अब शेष रही उसके अन्य

---

१. ततः स पुरुषव्याघ्रस्तामादाय शुचिस्मिताम्।

आदि० २२२. ८

सम्बन्धियों की ओर से रोक-टोक। इसके लिए इन्होंने पूर्व ही से पूरी शस्त्र-सुसज्जा कर ली थी।

रैवतक पर खड़े सैनिकों ने यह दृश्य देखा तो वे तुरन्त द्वारका में आये और सभा (Assembly Hall) की ओर, जिसका नाम सुधर्मा था, दौड़े। सभापाल को सूचना हुई। उसने भेरी बजवा दी। भेरी-नाद किसी आकस्मिक आपत्ति का सूचक होता था। उसे सुनते ही वृष्णि, अंधक, भोज सब सभा की ओर भागे।[1] वहाँ उनके लिए सुनहरी, मणियों से जड़े, कोमल सुन्दर गदेलों से सुशोभित आसन बिछे थे। वे उन पर बैठ गये।[2] सभापाल ने विचार का विषय पेश किया तो झट उनकी आँखें लाल होगईं। एकदम धनुष, बाण, फरसे,

---

१. ह्रियमाणान्तु तां दृष्ट्वा सुभद्रां सैनिका जनाः।
विक्रोशन्तोऽद्रवन् सर्वे द्वारकामभितः पुरीम् ॥९॥
ते समासाद्य सहिताः सुधर्मामभितः सभाम्।
सभापालस्य तत् सर्वमाचख्युः पार्थविक्रमम् ॥१०॥
तेषां श्रुत्वा सभापालो भेरीं सान्नाहिकीं तदा।
समाजघ्ने महाघोषां जाम्बूनदपरिष्कृताम् ॥११॥
क्षुब्धास्तेनाथ शब्देन भोजवृष्ण्यन्धकास्तदा।
अन्नपानमपास्याथ समापेतुः समन्ततः ॥१२॥

२. तत्र जाम्बूनदाङ्गानि स्पर्द्ध्यास्तरणवन्ति च।
मणिविद्रुमचित्राणि ज्वलिताग्निप्रभाणि च ॥१३॥
भेजिरे पुरुषव्याघ्रा वृष्ण्यन्धकमहारथाः।
सिंहासनानि शतशो धिष्ण्यानीव हुताशनाः ॥१४॥

कवच, रथ, घोड़े—रण-सामग्री की तैयारी के हुक्म दिये जाने लगे। मानों अभी अकेले अर्जुन पर सारे का सारा वृष्ण्य-न्धक-संघ चढ़ाई कर देगा। कृष्ण अब तक चुप थे। बलराम ने कहा, भाई! इनकी सुन लो। करना तो वही होगा जो ये कहेंगे।[१] सब ओर से आवाज़ आई:—ठीक है। ठीक है। इनका मत जानना ही चाहिए। बलराम ने अब कृष्ण को सम्बोधन करते हुए कहा:—यह सब स्वागत जो पार्थ महोदय का हुआ, आपके कारण था। परन्तु आपका सखा ऐसा कृतघ्न, ऐसा कुलाङ्गार निकला कि जिन बर्तनों में उसे भोजन मिला वह उन्हीं में थूक गया। मुझे तो एकाएक ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे सिर पर किसी ने लात मारी है। जैसे साँप के फन पर किसी की लात आ जाय तो वह क्रोध से उन्मत्त हो जाता है, यही मेरी अवस्था हो रही है। अब यदि मैंने अकेले ही इस पृथिवी को कौरवों से ख़ाली न कर दिया तो मैं सात्वत ही नहीं।

इस ओजस्वी भाषण का वृष्णियों, अन्धकों, भोजों सबने समर्थन किया।

अब श्रीकृष्ण को उत्तर देना था। इन्होंने धैर्य से कहा:—मेरी समझ में अर्जुन ने सुभद्रा का और सुभद्रा के द्वारा हम

---

१. आचख्यौ चेष्टितं जिष्णोः सभापालः सहानुगः ॥१२॥

२. यदस्य रुचितं कर्तुं तत् कुरुध्वमतन्द्रिताः।

आदि० २२२. २२

सबका मान ही किया है। आर्यपुरुष न अपनी कन्या को बेचते हैं, न दान करते हैं। राजकुमारियों का उपहार है वीरता।[1] अर्जुन ने सुभद्रा के हरण से विरोधियों को युद्ध का आह्वान दिया है। अर्जुन अपनी अजेयता का सिक्का सुभद्रा पर बिठा उसके हृदयासन पर गौरवान्वित हो विराजमान होगा। आख़िर वह किसी छोटे कुल का तो है नहीं कि उसके हरण से हमारी कन्या का अपमान हो गया। भरत का वंशज है। शन्तनु का प्रपौत्र है। कुन्तिभोज का दोहता है। इसके साथ विवाह होने से हमारी कन्या का अपमान कैसे होता है? अजेय वह है। मेरा रथ ले गया है और शस्त्रास्त्र से सुसज्जित है। मेरी मानो तो बिना लड़ाई के ही उसे अजेय मान लो। वह हमारी कन्या के अनुरूप वर है। तुमने बिना युद्ध के यह स्वीकार कर लिया तो दोनों कुलों की आन रहेगी और प्रीतिपूर्वक सुभद्रा और अर्जुन का पाणिग्रहण हो जायगा।

यह विचार सबने पसन्द किया। वृष्णि-वीर स्वयं गये और अर्जुन को लौटा लाये। बड़े आदर-सम्मान से सुभद्रा का उससे विवाह किया गया।[2]

---

१. प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत् कोऽनुमन्यते।
विक्रयं चाप्यपत्यस्य कः कुर्यात् पुरुषो भुवि ॥४॥
अतः प्रसह्य कन्यां हृतवान् धर्मेण पाण्डवः ॥५॥

२. तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य तथा चक्रुर्जनाधिप।
निवृत्तस्त्वर्जुनस्तत्र विवाहं कृतवान् प्रभुः ॥१२॥

अर्जुन की तीर्थयात्रा अभी शेष थी। वे द्वारका से पुष्कर चले गये। वहाँ कुछ समय रह कर इन्द्रप्रस्थ लौटे। द्रौपदी ने कटाक्षपूर्वक कहा:—जब नई गाँठ बँधती है तो पुराने सम्बन्ध ढीले हो जाते हैं। अजी! आप वहीं रहिए जहाँ आपकी हृदयेश्वरी है। अर्जुन उसे सान्त्वना देकर नई बहू को ग्वालिन के वेष में घर लाये। इस वेष पर हम ऊपर टिप्पणी कर चुके हैं। सुभद्रा ने पृथा को प्रणाम किया, फिर वह द्रौपदी से मिलकर बोली:—रानी! मैं तो दासी हूँ। द्रौपदी ने गले लगाते हुए आशीर्वाद दिया, सुभगे! तेरा सौभाग्य बना रहे। तेरा पति अनन्य जेता हो।

अर्जुन के इन्द्रप्रस्थ पहुँच जाने पर कृष्ण, बलराम और अन्य वृष्णि, अन्धक तथा भोज वीर दहेज लेकर इन्द्रप्रस्थ आये। नकुल और सहदेव ने वरपक्ष की ओर से बाहर जा कर इनका स्वागत किया। सड़कों पर छिड़काव था। ठण्डे ठण्डे चन्दनरस की सुगंध उठ रही थी। अगर, तगर तथा कर्पूर आदि के जलने की महक का आनन्द अपूर्व था। युधिष्ठिर ने कृष्ण और बलराम का सिर चूम उन्हें छाती से लगाया। दहेज के दो भाग थे, एक हरण, दूसरा पाणि-ग्रहणिक। हरण श्रीकृष्ण ने दिया, पाणिग्रहणिक बलराम ने। हरण में बहुमूल्य रत्न थे, वस्त्र थे, मथुरा की गायें और बैल, बाह्लीक (भंग) के घोड़े, पर्वताकार हाथी, ख़च्चर, हज़ारों

परिचारिकायें, रथ, यान आदि अनगिनत सामग्री थी। ऐसे ही पाणिग्रहणिक में[1]।

कुछ दिन इन्द्रप्रस्थ के आतिथ्य का आनन्द ले सात्वत सर्दार द्वारका लौटे। पांडवों ने इन्हें अनेक बहुमूल्य रत्न उपहार में दिये। उन्हें स्वीकार कर ये अपने अपने घरों को वापस आ गये[2]।

श्रीकृष्ण अर्जुन के पास ठहर गये। इनके वहाँ रहते रहते ही सुभद्रा के लड़का हुआ, लम्बी भुजाओंवाला, विशाल छातीवाला, बैल की सी आँखोंवाला। देखने में मूर्त मन्यु प्रतीत होता था। श्रीकृष्ण के रहते उसका नामकरण संस्कार हुआ। नाम रखा गया अभिमन्यु।

---

१. संमृष्टसिक्तपन्थानं पुष्पप्रकरशोभितम्।
चन्दनस्य रसैः शीतैः पुण्यगन्धैर्निषेवितम् ॥३५॥
दह्यताऽगुरुणा चैव देशे देशे सुगन्धिना ॥३६॥
मूर्ध्नि केशवमाघ्राय बाहुभ्यां परिषस्वजे ॥३९॥
तेषां ददौ हृषीकेशो जन्यार्थे धनमुत्तमम्।
हरणं वै सुभद्राया ज्ञातिदेयं महायशाः ॥४२॥
रामः पाणिग्रहणिकं ददौ पार्थाय लाङ्गली ॥४४॥
सहस्रं प्रददौ कृष्णो गवामयुतमेव च।
श्रीमान्मथुरादेश्यानां दोग्ध्रीणां पुण्यवर्चसाम् ॥४५॥
पृष्ट्यानामपि चाश्वानां बाह्लीकानां जनार्दनः।
ददौ शतसहस्राख्यं कन्याधनमनुत्तमम् ॥५०॥

२. रत्नान्यादाय शुभ्राणि दत्तानि कुरुसत्तमैः ॥६१॥

आदि० २२३.

कृष्ण और अर्जुन उस समय के चोटी के वीर थे। अभिमन्यु में दोनों के गुण पाये जाते थे।[१] अभिमन्यु जहाँ वेदवेत्ता था, वहाँ शस्त्रास्त्र की विद्या के चारों विभागों और दसों प्रकारों पर उसे पूरा आधिपत्य था।[२] अर्जुन को वह कृष्ण प्रतीत होता था और कृष्ण को अर्जुन। दोनों को उस पर बराबर गर्व था।

---

१. ये च कृष्णे गुणाः स्फीताः पाण्डवेषु च ये गुणाः।
अभिमन्यौ किलैकस्था दृश्यन्ते गुणसंचयाः॥

द्रोणपर्व ३४. ८

कृष्णस्य सदृशं शौर्ये वीर्ये रूपे तथाकृतौ।
ददर्श पुत्रं बीभत्सुर्मघवानिव तं यथा॥

आदि २२३. ७६

२. चतुष्पादं दशविधं धनुर्वेदमरिन्दमः।
अर्जुनाद् वेदवेदज्ञः सकलं दिव्यमानुषम् ॥७१॥

आदि० २२३.

खाण्डवदाह

इन्द्रप्रस्थ के पास खाण्डव नाम का एक विस्तृत जङ्गल था। नये राज्य की स्थापना के साथ साथ नई भूमियों का साफ़ किया जाना भी स्वाभाविक था। श्रीकृष्ण और अर्जुन अब इस वन की सफ़ाई पर लगे। इन्होंने जङ्गल में आग लगवा दी। आग्नेय अस्त्र साथ ले गये थे, जिनका यथावसर प्रयोग होता रहा।[1] जङ्गल हिंस्र पशुओं तथा बड़े बड़े साँपों और अजगरों का घर था। वन को आग लगते ही वे बाहर भागे। डर यह था कि यदि ये कहीं मनुष्यों के आवास में जा पड़ें तो बेचारे आराम से रहते लोगों की जान पर बन आयगी। नई बस्तियाँ बनती बनें, पुरानी बस्तियाँ उजड़ जायेंगी। रथ पर चढ़े हुए कृष्ण वन के एक ओर जा खड़े हुए, अर्जुन दूसरी ओर। अन्य अनेक वीर भी इनके साथ होंगे ही। प्रतीत यह होता है कि ये दो उस दाहक सेना के नेता थे। जो जन्तु धधकते हुए जङ्गल से बाहर निकला, उसे इनके जलते तीरों ने धर लिया। हाथी, चीते, बाघ, शेर,

---

१. वज्रनाभं ततश्चक्रं ददौ कृष्णाय पावकः।
आग्नेयमस्त्रं दयितं स च कल्योऽभवत्तदा॥ २२७. २३
ततोऽर्जुनो वेगवद्भिर्ज्वलनाग्रैरजिह्मगैः।
आदि० २२६-५०

अजगर झुलसे हुए भागे और वन से बाहर आते ही तीरों से बेध दिये गये।[१] पंद्रह दिन लगातार यह अग्निकाण्ड जारी रहा। इसमें वर्षा भी हो जाती रही। ओले भी पड़ जाते रहे।[२] कभी कभी ऐसा भी प्रतीत होता रहा कि मूसलाधार मेंह इस अग्निक्रिया को आगे चलने न देगा। परन्तु क्षत्रियों के अदम्य उत्साह और न बुझने, बल्कि यों कहिए कि वर्षा तक को सुखा देनेवाले आग्नेय बाणों के सामने इन्द्रदेव की चल कुछ न सकी।[३]

वन जले हुए प्राणियों के पञ्जरों से भर गया। वसा ने अग्निदेव की जाठर-शक्ति को और चमकाया। उसे मांस और

---

१. तौ रथाभ्यां रथिश्रेष्ठौ दावस्योभयतः स्थितौ।
दिक्षु सर्वासु भूतानां चक्राते कदनं महत्॥
आदि० २२७. १
द्विपाः प्रभिन्नाः शार्दूलाः सिंहाः केशरिणस्तथा।
समुद्विग्ना विसस्रुपुस्तथान्या भूतजातयः॥२३०. २
तथैवोरगसंघाताः पाण्डवस्य समीपतः।
उत्सृजन्तो विषं घोरं निपेतुर्ज्वलिताननाः। २२६. २२।

२. ततो नमुचिहा क्रुद्धो भृशमर्चिष्मतस्तदा।
पुनरेव महामेघैरंभांसि व्यसृजद् बहु॥ २२८. २१
ततोऽश्मवर्षं सुमहद् व्यसृजत् पाकशासनः॥ २२६. ४५

३. चोदिता देवराजेन जलदाः खाण्डवं प्रति॥ १६॥
असंप्राप्तास्तु तां धारास्तेजसा जातवेदसः।
ख एव समशुष्यन्त न काश्चित् पावकं गताः॥२०॥
आदि० २२८

रुधिर अपरिमेय मिला। पावकदेव को और चाहिए ही क्या था?

उसी वन के किनारे नागजाति का तक्षकनामा कोई जङ्गली मनुष्य रहता था। वह तो उस समय कुरुक्षेत्र गया हुआ था। उसकी स्त्री और पुत्र इस भयानक आग और जलते हुए तीरों की वर्षा में मर ही जाते परन्तु इन्द्रदेव की कृपा से वे बच गये। उन्हीं के घर से मय नाम का एक विदेशी पुरुष निकला[1]। श्रीकृष्ण ने समझा, यह जङ्गल के जलाने में बाधक होगा। उन्होंने अपना सुदर्शनचक्र उठाया। मय ने एक ओर धधकती आग देखी, दूसरी ओर कृष्ण को चक्र घुमाते देखा। उसने अर्जुन को आवाज़ दी, बचाना, बचाना। अर्जुन को दया आ गई। वासुदेव ने चक्र रख दिया। आग ने उधर रुख़ ही न किया।

पन्द्रह दिन जंगल में आग लगी रही। छः दिन उसे शान्त होते लगे।[2] तब जले हुए जङ्गल के चारों

---

१. तक्षकस्तु न तत्रासीन्नागराजो महाबलः।
दह्यमाने वने तस्मिन् कुरुक्षेत्रे गतो हि सः॥ २२६. ४ ॥
अश्वसेनोऽभवत्तत्र तक्षकस्य सुतो बली॥ ५॥
तं मुमोचयिषुर्वज्री वातवर्षेण पाण्डवम्।
मोहयामास तत्कालमश्वसेनस्त्वमुच्यत॥६॥
तथासुरं मयं नाम तक्षकस्य निवेशनात्।
विप्रद्रवन्तं सहसा ददर्श मधुसूदनः॥ २३०. ३६ ॥

२. पावकश्च तदा दावं दग्ध्वा समृगपक्षिणम्।
अहानि पंच चैकञ्च विरराम सुतर्पितः॥२३६. १५॥

ओर फिर कर कृष्ण, अर्जुन और मय नदी के किनारे आ गये।

यहाँ मय ने अर्जुन के आगे हार्दिक कृतज्ञता का प्रकाश किया, और कहा, आपने मेरी जान बचाई है। मैं मय-जाति का विश्वकर्मा (इंजीनियर) हूँ।[१] मेरे योग्य कोई सेवा बताइए। अर्जुन ने माना ही नहीं कि इस जीवन-प्रदान में कोई कृपा थी। तो भी मय की भावना का निरादर न हो, इसलिए उसे कृष्ण की कोई सेवा कर देने का आदेश किया। कृष्ण ने गहरे विचार के पश्चात् अन्त को उससे यह सेवा चाही कि वह युधिष्ठिर के लिए सभा का निर्माण कर दे। मय ने इस आज्ञा को स्वीकार किया। युधिष्ठिर को इस सेवा-व्रत का पता लगा तो वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने म का बड़ा सत्कार किया और एक पुण्य दिवस दस हज़ार किंष्कु (हाथ) परिधि की विमानाकार सभा[२] की आधार-शिला रखी गई[३]।

---

१. मय-जाति की भवन-निर्माण-कला के भग्नावशेष इस समय मध्य अमेरिका में प्राप्त हो रहे हैं। संभवतः इसी जाति का कोई मनुष्य यहाँ आया हुआ था, और जंगल में नाग के यहाँ जा ठहरा था।

२. विमानप्रतिमां चक्रे पाण्डवस्य सभां शुभाम् ॥ सभा० १. १३॥
दश किंष्कुसहस्रां तां मापयामास सर्वतः ॥ सभा० १. २० ॥

३. महाभारतकार ने इस घटना को एक विचित्र आलंकारिक कथा का रूप दिया है। अग्नि ब्राह्मण के वेष में कृष्ण और अर्जुन के पास आता है और अधिक खाने के कारण अजीर्ण रोग की शिकायत करता है और फिर बताता है कि ब्रह्मा ने इस व्याधि का उपाय और

यह सब कार्य कर कृष्ण ने पाण्डवों से बिदा ली। फूफी के पाओं पर सिर रखा। पृथा ने इनका माथा चूमा और इन्हें छाती से लगाया। ये सुभद्रा से छुट्टी लेने गये तो इनकी आँखों में आँसू आ गये। इन्होंने उसके हित की मीठी मीठी दो चार शिक्षायें दीं। सुता-सदृश भगिनी का प्रणाम ले तथा द्रौपदी से मिलकर पाण्डव-कुल के पुरोहित धौम्य की वन्दना की। अन्त में पाण्डवों से घिरे हुए कृष्ण बाहर के आँगन में ब्राह्मणों के सम्मुख आये। उनके स्वस्तिवाचन सुन, दही, अक्षत, फल आदि की भेंट प्राप्त कर तथा उनकी प्रदक्षिणा कर रथ में बैठे।[१] युधिष्ठिर ने स्वयं सारथि का स्थान लिया।

खाना बताया है। यदि खांडव-वन की आहुति उसके जठर में पड़े तो वह चंगा हो जायगा। खांडव जलाया गया है। इन्द्र ने अपने देव-संघ के साथ इसका विरोध किया है। कभी पानी बरसाया है कभी पत्थर। परन्तु क्षत्रिय योद्धाओं के बाण इन्द्र के वृष्टि-बाणों को पराभूत कर जाते हैं। खांडव जल जाता है। अग्नि तृप्त हो इन्हें आशीर्वाद तथा वर देकर चला जाता है। कथा रोचक है और इसका अर्थ स्पष्ट है।

१. ववन्दे चरणौ मूर्ध्ना जगद्वन्द्यः पितुःष्वसुः।
स तया मूर्ध्न्युपाघ्रातः परिष्वक्तश्च केशवः॥ सभा० २. ३
ददर्शानन्तरं कृष्णो भगिनीं स्वां महायशाः।
तामुपेत्य हृषीकेशः प्रीत्या बाष्पसमन्वितः॥४॥
तया स्वजनगामीनि श्रावितो वचनानि सः।
संपूजितश्चाप्यसकृच्छिरसा चाभिवादितः॥६॥

अर्जुन चँवर डुलाने लगे। डेढ़ मील दूर जाकर कृष्ण ने युधिष्ठिर के पाँव छू उनसे विदा माँगी। पौर-जन ठहर गये और जब तक रथ आँखों से ओझल न हो गया, दर्शन के प्यासे नेत्र पीछे से ही उस महावीर की अर्चना करते रहे।

द्वारका पहुँच कर श्रीकृष्ण सात्वत-वृद्ध आहुक और यशस्विनी माता से मिले। सबका यथायोग्य सत्कार करने और छोटों को गले लगा लगा कर प्यार करने के पश्चात् गुरुजनों की अनुज्ञा ले रुक्मिणी के महल में चले गये[1]।

ववन्दे च यथान्यायं धौम्यं पुरुषोत्तमः ॥८॥
स्वस्तिवाच्यार्हतो विप्रान् दधिपात्रफलाक्षतैः।
वसुप्रदाय च ततः प्रदक्षिणमथाकरोत् ॥१४॥
ततोऽभिवाद्य गोविन्दः पादौ जग्राह धर्मवित्।
उत्थाप्य धर्मराजस्तु मूर्ध्न्युपाघ्राय केशवम् ॥२४॥

१. आहुकं पितरं वृद्धं मातरञ्च यशस्विनीम् ॥३४॥
स वृद्धैरभ्यनुज्ञातो रुक्मिण्या भवनं ययौ ॥३६॥

युधिष्ठिर का राजसूय

(१)

जरासन्ध का वध

युधिष्ठिर ने अपने राज्य का प्रबन्ध ख़ूब किया। प्रजा-जनों के लिए महाराज पितृ-समान हो गये। राज्य की समृद्धि बढ़ गई। वर्षायें पर्याप्त और समय पर होने से कृषि ख़ूब होती थी। व्यपारियों को वाणिज्य से उत्तरोत्तर अधिक लाभ होने लगा। ग्वालों का गोधन बढ़ गया। घर-घर यज्ञ होते थे। कर की प्राप्ति समय पर हो जाती थी। इसमें अनुकर्ष (ऋण) नहीं रहता था। न कर की प्राप्ति में बलात्कार ही करना पड़ता था। स्वास्थ्य का सुप्रबन्ध था। रोग नहीं फैलते थे। आग न लगने दी जाती थी। अधिक ब्याज लेने की मनाई थी। चोरों, डाकुओं, ठगों की नहीं चल सकती थी। राजा के प्रेम ने लोगों के दिलों में घर कर लिया था। भिन्न भिन्न स्थानों के व्यापारियों के साथ साथ उन स्थानों के राजा लोग भी कर देने और युधिष्ठिर का कहा करने को उद्यत थे। माण्डलिक राजा लोगों का आपस में कलह मिट गया था। उनका आपस में सन्धि-विग्रह आदि इनके कहने से हो रहा था। कोई कामना के अधीन, कोई प्यार से, कोई स्वार्थवश, इनके अधीन हो गया था। इस प्रकार इनके

शासन का विस्तार बढ़ रहा था। दिग्दिगन्तरों के प्रजावर्ग के हृदयों में इनके लिए अनुराग पैदा हो गया था। प्रेम के विजय से तो ये सर्वराट् हो ही चुके थे।[1]

राज्य की यह अवस्था हो जाने पर इनका विचार हुआ कि राजसूय यज्ञ कर अपने आपको सम्राट् उद्घोषित करें। इससे अन्य राजा भी जो इनके अनुरक्त हैं, एक संगठन के अन्तर्गत हो जायँगे। युधिष्ठिर की नीति इनके छोटे से राज्य में परिमित न रह कर इनके धर्मशासन का क्षेत्र नियमित रूप से अधिक

---

१. निकामवर्षाः स्फीताश्चासन् जनपदास्तथा ।
वार्द्धुषी यज्ञसत्त्वानि गोरक्षं कर्षणं वणिक् ॥१२॥
विशेषात् सर्वमेवैतत् संजज्ञे राजकर्मणा ।
अनुकर्षञ्च निष्कर्षं व्याधिपावकमूर्छनम् ॥१३॥
सर्वमेव न तत्रासीत् धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ।
दस्युभ्यो वञ्चकेभ्यश्च राज्ञः प्रति परस्परम् ॥१४॥
राजवल्लभतश्चैव नाश्रूयत मृषाकृतम् ।
प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वकर्मजम् ॥१५॥
अभिहर्तुं नृपाः षट्सु पृथक् जातैश्च नैगमैः ॥
ववृधे विषयस्तत्र धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ॥१६॥
कामतोऽप्युपयुञ्जानै राजसैर्लोभजैर्जनैः ।
सर्वव्यापी सर्वगुणी भूत्वा सर्वसाहः स सर्वराट् ॥१७॥
यस्मिंश्चाधिकृतः सम्राट् भ्राजमानो महायशाः ।
यत्र राजन् दशदिशः पितृतो मातृतस्तथा ।
अनुरक्ताः प्रजा आसन्नागोपाला द्विजातयः ॥१८॥

सभा० १३

विस्तृत हो जायगा। इस विषय में इन्होंने अपने मन्त्रिमण्डल तथा मित्र-बन्धुओं से मन्त्रणा की। सबने इस विचार का समर्थन किया। अन्त में श्रीकृष्ण को द्वारका से बुलवाया। उनके सम्मुख राजसूय का प्रस्ताव रख कहा—कई लोगों ने मित्रता-वश मेरे दोषों पर दृष्टि नहीं डाली। कई स्वार्थ के मारे सच नहीं कहते। आप इन निर्बलताओं से ऊपर उठे हुए हैं। काम-क्रोध-रहित हैं। जिस बात से अधिक लोक-हित हो वही आप कहेंगे[१]।

श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—गुणों की दृष्टि से तो आप सम्राट् बनने के योग्य हैं ही। परन्तु इस समय एक महान् सम्राट् मग-धेश जरासन्ध पहले से विद्यमान है। वह अपने बल-पराक्रम से सम्राट् बना है। ऐल तथा ऐक्ष्वाकु-वंश की इस समय एक सौ एक शाखायें हैं[२]। अत्याचार से चाहे जरासन्ध ने उन्हें नीचा दिखा दिया हो, परन्तु उनके हृदयों पर उसका राज्य नहीं[३]। ८६ राजा तो उसने क़ैद ही कर रखे हैं और फिर घोषणा कर रखी है कि जब इन क़ैदियों की संख्या सौ हो जायगी, तो

---

१. त्वं तु हेतूनतीत्यैतान् कामक्रोधौ व्युदस्य च।
परमं यत् क्षमं लोके यथावद् वक्तुमर्हसि॥ सभा० १३, ५१॥

२. ऐलवंश्याश्च ये राजंस्तथैवैक्ष्वाकवो नृपाः।
तानि चैकशतं विद्धि कुलानि भरतर्षभ॥ सभा० १४, ५॥

३. न चैनमनुरुध्यन्ते कुलान्येकशतं नृपाः।
तस्मादिह बलादेव साम्राज्यं कुरुते हि सः॥ १४. १८॥

महादेवजी के आगे इनकी बलि चढ़ा दी जायगी[१]। हमने अब तक यह नहीं सुना था कि किसी राष्ट्र के अभिषिक्त राजा को कोई सम्राट् पकड़ रखे[२]। परन्तु इस नृशंस ने यह क्रूरता भी कर दिखाई है। क्षत्रिय का धर्म है रण में मरना। यह इन्हें बलि के पशु बना कर मारेगा। आओ हम सब मिल कर जरासन्ध की इस क्रूर इच्छा का प्रतिरोध करें[३]। आज यश का, ख्याति का मार्ग ही यही है। इस समय वही सम्राट् बनने का अधिकारी है जो सरासन्ध को युद्ध में जीते[४]।

सम्राट् बनने की यह कड़ी शर्त सुनकर युधिष्ठिर ने कानों पर हाथ धर लिया। जिसे यम नहीं जीत सकता, उसे हम कैसे जीत लेंगे। और फिर इतना जन-क्षय! लड़ाई का अर्थ है मनुष्यों को मारना और मरवाना। ऐसे सम्राट् बनने से तो साधु हो जाना अच्छा। युधिष्ठिर ने स्पष्ट कहा, महाराज! मुझे यह सम्राट्-पद अभीष्ट नहीं।

---

१. षडशीतिः समानीताः शेषा राजंश्चतुर्दश।
जरासन्धेन राजानस्तदा क्रूरं प्रवत्स्यते ॥२४॥

२. मूर्धाभिषिक्तं नृपतिं प्रधानपुरुषो बलात्।
आदत्ते न च नो दृष्टोऽभागः पुरुषः क्वचित् ॥२०॥

३. क्षत्रियः शस्त्रमरणो यदा भवति सत्कृतः।
ततः स मागधं संख्ये प्रतिबाधेम संगताः ॥२३॥

४. प्राप्नुयात् सो यशो दीप्तं तत्र यो विघ्नमाचरेत्।
जयेद् यश्च जरासन्धं सम्राट् स नियतं भवेत् ॥२५॥

श्रीकृष्ण अपनी मन्त्रणा को इस सुगमता से टलने थोड़ा देने लगे थे ? कहा, भरत की सन्तान, कुन्ती का पुत्र ऐसा निरुत्साह हो, यह आश्चर्य की बात है। जरासन्ध की सेनायें बड़ी हैं और संग्राम में ख़ून-ख़राबा भी बहुत होगा। इन दोनों अनिष्टों का उपाय है नीतिमत्ता। साँप भी मर जाय, लाठी भी न टूटे, ऐसी सुनीति कम देखने में आती है। यदि हम चुपके से बिना शोर मचाये उसके महलों में जा खड़े हों और उसे द्वंद्व-युद्ध के लिए ललकारें तो इष्ट की सिद्धि भी हो जायगी और व्यर्थ की जनहत्या भी न होगी। या हमने उसे लड़ाई में मार लिया या हम स्वयं मारे गये। यदि क्षत्रिय बन्धुओं की रक्षा में हमने अपने प्राण दे दिये तो सीधा स्वर्ग का रास्ता लिया।[१] यों भी जीवन का भरोसा किसे है ? दिन को मारे जायँ या रात को। युद्ध न करें तो मौत न होगी, यह भी तो नहीं कहा जा सकता[२]। जरासन्ध के रक्षक दो पहलवान थे—हंस और डिंभक। वे मर गये। अब तो मुझे जरासन्ध की अपनी बारी आई प्रतीत होती है। रण में उसे जीतना असंभव है। पर हाँ ! द्वंद्व-युद्ध में हम उसे मार लेंगे। मेरी नीति और भीम की शक्ति उसके प्राण लेके रहेंगी। आप अर्जुन और भीम को मुझे

---

१. अथवैनं निहत्याजौ शेषेणापि समाहताः।
प्राप्नुयाम ततः स्वर्गं ज्ञातित्राणपरायणाः ॥१७, १०॥

२. न चापि कश्चिदमरमयुद्धेनानुशुश्रुम ॥ सभा० १७, २ ॥

अमानतरूप में दे दीजिए। फिर देखिए, हम तीनों क्या कर दिखाते हैं।

युधिष्ठिर अमानत का शब्द सुन खिसियाना हो गया। कहा, महाराज! पाण्डवों के आप नाथ हैं। हम आपके आश्रय से जी रहे हैं। जरासन्ध भी मारा गया, राजा लोग भी छूट गये, राजसूय भी मैंने कर लिया। मेरा संकल्प अभी से सफल हुआ। हमने तो उसका सहारा लिया है, जो न्याय और नीति के सब विधान जानता है, जो लोक-प्रसिद्ध नीतिज्ञ है[१]। फिर हमारे काम सिद्ध क्यों न हों? मेरे दोनों भाई आपके अर्पण हैं। ले जाइए।

अर्जुन और भीम दोनों प्रसन्न थे[२]। क्षत्रिय को धर्म-युद्ध मिले, उसे और क्या चाहिए? झट चलने को तैयार हो गये। श्रीकृष्ण ने जरासन्ध के साम्राज्य का वर्णन करते हुए उसके अधीनस्थ राजाओं के नाम भी लिये। अपने साथ उसके युद्धों की ओर संकेत भी किया। यह भी कहा कि जरासन्ध ही के उपद्रवों के डर के मारे हम द्वारका चले गये हैं[३]। तो भी इस, अपने संघ के, वैमनस्य को जरासन्ध से लड़ाई का हेतु नहीं

---

१. तस्मान्नयविधानज्ञं पुरुषं लोकविश्रुतम्।
वयमाश्रित्य गोविन्दं यतामः कार्यसिद्धये॥ सभा० २०, १८॥

२. भीमार्जुनौ समालोक्य संप्रहृष्टमुखौ स्थितौ॥ २०, ८॥

३. वयं चैव महाराज जरासन्धभयात् तदा॥१४, ६७॥
मथुरां सम्परित्यज्य गता द्वारवतीं पुरीम्॥६८॥

बनाया। इनके अपने संघ की आपत्ति तो कभी की दूर हो चुकी। अन्धक-वृष्णि अब मौज से रहते हैं[1]। इस समय प्रश्न किसी कुल-विशेष का नहीं, सारी क्षत्रिय-जाति का है। युधिष्ठिर को सम्राट् बनना चाहिए इसलिए कि उसका राज्य-प्रसार धर्मानुकूल है। छोटे-छोटे राष्ट्र एक दूसरे से सर्वथा पृथक् रहें, इससे यह अच्छा है कि वे एक सूत्र में बँध जायें। फिर बँधना भी उन्हें प्रीति के सूत्र में चाहिए, न कि किसी के अत्याचार के कारण उसके अधीन होना। भिन्न भिन्न राष्ट्रों के राजाओं को क़ैद कर उन्हें बलि चढ़ाया जाय, इसलिए कि वे अधीनता स्वीकार नहीं करते या निर्बल हैं, यह इन क्षत्रिय वीरों को सह्य न था। इसी लिए जरासन्ध को मारने और युधिष्ठिर को सम्राट् बनाने का सारा उपक्रम हो रहा था। द्वारका में संघ काम कर ही रहा था। यादव जरासन्ध की अधीनता से छुटकारा पाकर स्वराज्य का सुख भोग ही रहे थे। परन्तु वे तथा अन्य भारतीय राष्ट्र स्वेच्छा से किसी दयालु सम्राट् के अधीन हो जायँ जो राजा-प्रजा सबके हित के लिए पितृतुल्य हो तो यह उनके लिए अधिक श्रेयस्कर है। किसी राष्ट्र की आन्तरिक नीति में ऐसे सम्राट् का हस्तक्षेप नहीं होता था, उनके पारस्परिक संबन्धों पर ही उसकी दृष्टि रहती थी[2]।

---

१. आलोक्य गिरिमुख्यं तं मागधं तीर्थमेव च।
माधवाः कुरुशार्दूल परां मुदमवाप्नुवन् ॥१४, २३॥

२. राज्ञः प्रति परस्परम् ॥ सभा० १३०, १४ ॥

जरासन्ध को मारने के निश्चय से श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीम इन्द्रप्रस्थ से मगध की ओर चले। जरासन्ध का यह व्रत प्रसिद्ध था कि कोई ब्राह्मण अथवा स्नातक उससे मिलना चाहे तो चाहे आधी रात हो वह उससे मिल सकता था[१]। इन तीनों ने स्नातकों का वेष धारण कर लिया। मगध की राजधानी उन दिनों गिरिव्रज (राजगृह) थी। वहाँ पहुँच कर इन्होंने एक माली से पुष्पमालायें छीनीं[२]। उपद्रव पर तो तुले ही हुए थे। एक मौज यह भी सही। गिरिव्रज के चारों ओर पर्वत-शृङ्ग थे, जो अब भी विद्यमान हैं। उनमें से एक को एक ओर से तोड़ इन्होंने नगर में प्रवेश किया और सीधे राजा के महल में पहुँचे[३]। भीम और अर्जुन उस दिन मौनी बने हुए थे। श्रीकृष्ण इनका परिचय देने लगे। जरासन्ध ने पाद्य, मधुपर्क, गोदान आदि से इनका सत्कार किया, जैसे स्नातकों का करना विहित है। श्रीकृष्ण ने उसे बताया कि उनके साथी आधी रात को ही मौन का व्रत तोड़ेंगे। इसलिए उसी समय महाराज आयें तो बातचीत हो सकेगी।

---

१. तस्य ह्येतद् व्रतं राजन् बभूव भुवि विश्रुतम्।
स्नातकान् ब्राह्मणान् प्राप्तान् श्रुत्वा स समितिंजयः ॥
सभा० २१, ३६

२. बलाद् गृहीत्वा माल्यानि मालाकारान् महाबलाः ॥ २१, २६ ॥

३. स्थिरं सुविपुलं शृङ्गं सुमहान्तं पुरातनम्।
अर्चितं गन्धमाल्यैश्च सततं सुप्रतिष्ठितम् ॥२१, १९॥
विपुलैर्बाहुभिर्वीरास्तेऽभिहत्याभिपातयन्।
ततस्ते मगधं हृष्टाः पुरं प्रविविशुस्तदा ॥२१, २०॥

जरासन्ध ने इनका डेरा यज्ञशाला में करा दिया और स्वयं राजभवन में चला गया। आधीरात को इनसे मिला तो इनके गिरि-शृङ्ग तोड़ने की करतूत का वृत्तान्त सुन ही चुका था। इनकी भुजाओं पर ज्या के चिह्न देखे। समझ गया, क्षत्रिय हैं। आते ही पूछा, महानुभावो! यह वेष-परिवर्तन क्यों कर रखा है? किस निमित्त से यहाँ आना हुआ? सीधे द्वार से न आकर गिरिशृङ्ग तोड़ कर आने का क्या प्रयोजन है? ये सब बातें विस्तार से कहिए।

श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया, जितना ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्म का जाननेवाला स्नातक होता है उतने ब्राह्मण तो हम हैं ही। रहा वर्ण सो स्नातक तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी होते हैं।[१] हम क्षत्रिय स्नातक हैं। पुष्पमाला सौभाग्य का चिह्न है, इसलिए धारण की है। मौनी इसलिए हैं कि क्षत्रिय भुजा का बहादुर होता है, बातों का नहीं।[२] द्वार से न आने का कारण यह है कि आप हमारे शत्रु हैं। शत्रु के नगर में दीवार तोड़ कर जाना चाहिए।[३] इसी से आप हमारे आने का प्रयोजन समझ लीजिए।

---

१. स्नातकान् ब्राह्मणान् राजन् विद्ध्यस्मांस्त्वं नराधिप।
स्नातकव्रतिनो राजन् ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः ॥२१, ४०॥

२. पुष्पवत्सु ध्रुवा श्रीश्च पुष्पवन्तस्ततो वयम्।
क्षत्रियो बाहुवीर्यस्तु न तथा वाक्यवीर्यवान् ॥४२॥

३. अद्वारेण रिपोर्गृहं द्वारेण सुहृदो गृहान् ॥४४॥

जरासन्ध ने चकित होकर पूछा, मेरी आपकी शत्रुता किस बात की ? श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—तूने कितने राजा क़ैद कर रक्खे हैं। और फिर उन्हें महादेव की बलि चढ़ा देने का संकल्प भी किया हुआ है। नरबलि कभी किसी ने इससे पूर्व सुनी भी है ? [१] तू अपनी जाति का घातक है, हम उसके रक्षक। तुझे उन्माद इस बात का है कि मेरे जैसा बलवान् कोई नहीं। यह उन्माद वृथा है। मैं शूर का पोता कृष्ण हूँ। ये पाण्डुपुत्र भीम और अर्जुन हैं। हमारी तुझे आज चुनौती है। या तो इन राजाओं को छोड़ दे, अन्यथा यमपुरी का रास्ता साफ़ और सीधा है[२]।

कृष्ण ने युद्ध का आह्वान जरासन्ध को दे दिया और वह अकेले में। इसी में कृष्ण की नीतिनिपुणता थी[३]। जरासन्ध को अपने बल का गर्व था। आई ललकार को लौटा न सकता था। मन्त्रियों के होते संभव था, स्थिति कुछ और हो जाती। कोई अन्य वीर बीच में आ पड़ता। इस समय कोई और था ही नहीं। जरासन्ध ने क़ैदी छोड़ने से साफ़ इनकार कर दिया।

---

१. मनुष्याणां समालम्भो न च दृष्टः कदाचन ॥२२, ११॥

२. त्वामाह्वयामहे राजन् स्थिरो युद्ध्यस्व मागध।
मुञ्च वा नृपतीन् सर्वान् गच्छ वा त्वं यमक्षयम् ॥२२, २६॥

३. श्रीकृष्ण पहले ही कह कर आये थेः—
त्रिभिरासादितोऽस्माभिर्विजने स नराधिपः।
न सन्देहो यथा युद्धमेकेनाप्युपयास्यति ॥२०, ४॥

उसने कहा, सेना लाकर लड़ना हो, तो सेना सहित उद्यत हूँ। अकेले लड़ना हो, अथवा दो या तीन को मिलकर लड़ना हो, मैं सब तरह तैयार हूँ[१]।

कृष्ण द्वंद्व-युद्ध के लिए तैयार होकर आये थे। इन्होंने द्वंद्व-युद्ध करना मान लिया। इस बात का निश्चय कि वह किससे लड़े, उसी पर छोड़ दिया। उसने भीम से मल्लयुद्ध करना स्वीकार किया।

दूसरे दिन नगर के ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों, पुरुषों, स्त्रियों, बच्चों, बूढ़ों—सब प्रकार की तथा हर आयु की जनता के एक बड़े समारोह में जरासन्ध और भीम की कुश्ती हुई।[२]

वीर-युगल ने पहले एक दूसरे से हाथ मिलाये, फिर वे एक दूसरे के पाँवों की ओर झुके; तदनन्तर अपनी अपनी कक्षों पर हाथ मारने लगे। उनकी भुजाओं से लटकते बाजूबन्दों के फुंदन हिलने लगे। ये प्रारम्भिक क्रियायें कर वे एक दूसरे पर लपके। एक दूसरे के कन्धों पर मुक्के मारते हुए तथा एक दूसरे के शरीर को अपने अंग में लपेटते हुए और दबाते हुए वे क्षण भर गुत्थमगुत्था रहे और फिर झट अलग हो अपनी छातियों को अपने हाथों से बजाने लगे। तदनन्तर वे कभी बाहु फैलाते, कभी सिकोड़ लेते, कभी मुट्ठी बाँधते, कभी खोल देते। इस प्रकार चित्रहस्त तथा चित्रपाद कर दोनों ने

---

१. द्वाभ्यां त्रिभिर्वा योत्स्येऽहं युगपत् पृथगेव वा ॥२२, ३०॥

२. शूद्राश्च नरशार्दूल स्त्रियो वृद्धाश्च सर्वशः ॥२३, २२॥

एक दूसरे को कमर से जा लिया। इसके पश्चात् एक दूसरे के गलों तथा कपोलों पर ऐसे प्रहार किये कि दोनों के आहत शरीरों में बिजली दौड़ने लगी। फिर दोनों ने अपने बाहु तथा पैरों को घुमाकर प्रतिपक्षी को गिराने का प्रयत्न किया। दोनों की नाड़ियाँ कस गईं। उनमें दर्द होने लगा। इसी बीच में उन्होंने एक दूसरे की छाती पर हाथों से ख़ूब प्रहार किये, फिर अपने दोनों पंजों को ग्रथित कर एक दूसरे का सिर बलपूर्वक दबोचा। ऐसा करते करते प्रतिपक्षी के पेट के नीचे हाथ डाल, उसे अपनी छाती के ऊपर लाकर एक ओर गिरा दिया। जिस प्रकार बना, एक दूसरे को चित किया। बड़े बड़े दावों के बीच की अवान्तर क्रियायें देखने योग्य थीं। बाहु से प्रतिपक्षी के पेट को दबा दिया। एक दूसरे की भुजायें मरोड़ीं। मुक्का दिखाकर प्रदर्शित लक्ष्य से अन्यत्र प्रहार किया। प्रतिपक्षी को कभी अपनी ओर खींचा, कभी पीछे धकेल दिया। घुटनों से एक दूसरे को मारा और भींचा। इस प्रकार उभरी छातियों और लम्बी भुजाओंवाले पहलवानों की वह जोड़ी कार्तिक मास की प्रथमा से लेकर तेरस तक लगातार लड़ती रही। चौदस की रात को जरासन्ध थक कर हटने लगा। कृष्ण ने इस अवसर को ताड़ भीम को इन शब्दों में सचेत किया कि थका शत्रु लड़ाई में मारने को कम मिलता है। इस पर भुजाओं का भरसक प्रहार कर। यह मर जायगा! भीम चौंका भी, ज़ोर ज़ोर से मुक्के भी मारने लगा,

परन्तु जरासन्ध का कुछ बिगड़ा नहीं। अब श्रीकृष्ण ने भीम को याद दिलाया, तू तो वायुसुत है। तुझमें प्रभंजन की शक्ति है, वार कर। भीम ने यह प्रोत्साहन सुनते ही ज्योंही जरासंध को टाँगों से पकड़ा और खींचा कि उसका शरीर झट चिर गया और उसके दो टुकड़े हो गये। सारे अखाड़े में हाहाकार मच गया। विजय भीम को हुई। (सभा० २३, १०-३५; २४, १-६)।

जरासन्ध के मारे जाते ही श्रीकृष्ण ने सबसे पहला कार्य यह किया कि क़ैदी राजाओं को क़ैद से छुड़ा दिया।[1] उनके रोम रोम से धन्यवाद फूट-फूट कर निकल रहा था। श्रीकृष्ण उनके प्राणदाता थे। वे सब गद्गद प्रसन्न हुए कह रहे थे—देवकीसुत श्रीकृष्ण का यह आचरण उनकी महिमा के सर्वथा अनुरूप है। विमुक्त राजाओं ने आगे के लिए अपने प्राणदाता का आदेश चाहा। श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर के राजसूय की चर्चा कर उन्हें प्रोत्साहना दी कि सभी युधिष्ठिर के साम्राज्य में संमिलित हो जाओ। मगध का राजसिंहासन जरासन्ध के पुत्र सहदेव के अर्पण कर दिया गया।

बिना अधिक रक्तपात किये एक सम्राट् को रास्ते से हटा दिया। यह श्रीकृष्ण ही से होना संभव था। अब राजसूय

---

१. बन्धनाद्विनिर्मुक्ताश्च राजानो मधुसूदनम्।
पूजयामासुरूचुश्च स्तुतिपूर्वमिदं वचः। २४, ३० ॥

का मार्ग साफ़ था। छियासी राजा तो एक ही बार में अधीन हो गये।

युधिष्ठिर का यह कार्य कर कृष्ण द्वारका लौटे। जाते समय पाँचों भाइयों ने इनकी प्रदक्षिणा की।[1] यह हार्दिक कृतज्ञता का प्रकाश था।

(२)

अर्घ-दान

जरासन्ध का वध युधिष्ठिर के राजसूय का श्रीगणेश था। इससे छियासी राजकुलों के प्रमुख पुरुष तो स्वयं ही पाण्डव-साम्राज्य के अंग बन गये। अब युधिष्ठिर के चारों भाई दिग्विजय के लिए एक-एक दिशा में सेनायें लेकर निकले। अर्जुन उत्तर की ओर गये। उन्होंने कुलिन्द (वर्तमान गढ़वाल तथा सहारनपुर), आनर्त,[2] कालकूट, शाकल (सियालकोट)

---

१. ततो युधिष्ठिरमुखाः पाण्डवा भरतर्षभ।
प्रदक्षिणामकुर्वन्त कृष्णमक्लिष्टकारिणम्॥

सभा० २४, २६.

२. एक आनर्त्त देश तो गुजरात था, जहाँ वृष्णि और अन्धक बस रहे थे। परन्तु संभवतः इसी वंश के कुछ लोग उत्तर भारत में अभी विद्यमान थे। उन्हीं को अर्जुन ने जीता होगा। यही अवस्था मालव तथा सुह्म इत्यादि राष्ट्रों की थी। इन वंशों के लोग भी अनेक जगहों में बस रहे थे।

प्राग्ज्योतिष (आसाम), उलूक, देवप्रस्थ, काश्मीर, दार्व, कोकनद, अभिसारी (राजौरी), उरगा (हज़ारा), सिंहपुर (पिण्डदादनख़ाँ के पास), सुह्म, वाह्लीक, दरद (दर्दिस्तान जो काश्मीर के उत्तर में है), काम्बोज (अफ़ग़ानिस्तान), किम्पुरुष (नैपाल), हाटक (मानसरोवर के आसपास का प्रान्त) उत्तर हरिवर्ष (तिब्बत) इत्यादि राज्य जीते और सब जगहों से बहुमूल्य कर लाये। प्राग्ज्योतिष के राजा भगदत्त ने प्रीतिपूर्वक कर देना स्वीकार किया। ऐसे ही उत्तर कुरु या उत्तर हरिवंश के लोगों ने। पर्वतों में कहीं-कहीं गण-राज्य थे। उत्सवसंकेत नाम के सात गणों ने पाण्डवों की मुख्यता स्वीकार की। इनके अतिरिक्त पाँच गण और भी साम्राज्य में सम्मिलित हुए।

भीम के हिस्से में पूर्व दिशा के राज्य आये। इन्होंने पांचाल (रुहेलखण्ड), गण्डक, विदेह (तिरहुत), दशार्ण (छत्तीसगढ़), पुलिन्द (हरिद्वार के आस पास का स्थान), चेदि (बुन्देलखण्ड), कोशल (अयोध्या), उत्तरकोशल, मल्ल (मालवा), भल्लाट, क्रथ, मत्स्य (जयपुर), मलद (शाहाबाद), बरार, शुक्तिमान्, वत्सभूमि (कुसुंभी), निषाद (मारवाड़), दक्षिण मल्ल, मगध, पुण्ड्र (बंगाल), कौशिकीकच्छ (पूर्णिया), बंग, ताम्रलिप्त, सुह्म (राढ़ा, बङ्गाल और कलिङ्ग के बीच में का स्थान), लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) आदि राष्ट्र जीते। इनमें से चेदियों ने बिना युद्ध किये अधीनता स्वीकार की।

सहदेव ने दक्षिण में दिग्विजय किया। इन्होंने अपने बल-पराक्रम और बुद्धि-वैभव से पटच्चर (इलाहाबाद और बाँदा), कुन्तिभोज (मालवा), चर्मण्वती (चम्बल) के किनारे जम्भक के पुत्र की राजधानी, जिसका नाम नहीं दिया, सेक (अजमेर के दक्षिण-पूर्व में झुझूपुर), अवन्ती (उज्जैन), भोजकट (भीमा नदी के पास), वेण्वाट (उज्जैन के दक्षिण में), कान्तार, नाटकेय (खांदेश), पाण्ड्य (तिन्नावली और मदुरा), किष्किन्धा, माहिष्मती (महेश्वर), त्रैपुर (जबलपुर), सुराष्ट्र (काठियावाड़), चेर, दण्डक (महाराष्ट्र), सुरभिपट्टन (मैसूर), ताम्रद्वीप, सञ्जयन्ती (थाना), करहाटक (कराड़ा), द्रविड़, केरल (मालाबार), तारवन (चेल), आंध्र, कलिङ्ग, उष्ट्रकर्णिक आदि राज्यों पर प्रभुत्व जमाया।

नकुल पश्चिम में गये। इन्होंने रोहतीक (रोहतक), शैरीषक (सिरसा), महेत्थ; शिवि, अम्बष्ठ, त्रिगर्त (जलन्धर), मालव (मालवा), मध्यमकेय, वाटधान (भटनेर), पुष्करारण्य (अजमेर), सिन्धु, पंचनद, उत्तरज्योतिष, दिव्यकट, रामठ, हारहूण (चजद्वीप), शाकल (रचनाद्वीप), सागर के किनारे रहनेवाले यवनों, बर्बरों किरातों और पल्हवों इत्यादि को जीता। यादव पहले से ही इस साम्राज्य के साथ थे। उन्होंने श्रीकृष्ण को अगुआ कर स्वयं कर दे दिया।

इन सब राज्यों के नाम हमने यह दिखाने को दे दिये हैं कि पाठक उस समय के भारत के साम्राज्य का चित्र

अपनी आँखों के सामने ला सकें। उपरिकथित राज्य-सूची में सारा भारतवर्ष समाविष्ट है। उत्तर में अफ़ग़ानिस्तान से लेकर तिब्बत और आसाम तक और दक्षिण में लङ्का तक सभी राष्ट्र इस राष्ट्र-गणना में आ जाते हैं। इससे युधिष्ठिर के साम्राज्य के विस्तार का पता लग सकता है। कुछ राज्यों का नाम इस सूची में दो बार आया है, यथा सुह्म। इन्हें अर्जुन ने भी जीता, भीम ने भी। सुह्म राज्य-विशेष का नाम नहीं, जाति-विशेष का नाम है। ऐसे ही उस समय, जो किसी जाति का नाम था, वही उसके राष्ट्र का नाम भी था। एक ही जाति दो स्थानों में बस जाती तो दो राष्ट्रों का एक नाम हो जाता। फिर भौगोलिक स्थिति के अनुसार उनमें संज्ञा-भेद समय स्वयं कर देता था। दिग्विजय के पश्चात् राजसूय उत्सव हुआ तो उसमें कई राजाओं का प्रतिनिधि बन शिशुपाल ने कहा—हम युधिष्ठिर के भय से, अथवा लोभ या सान्त्वना के कारण कर नहीं देते। हम तो इसे धर्म में प्रवृत्त देखकर ही कर देते हैं।[1] इससे साम्राज्य का प्रकार इङ्गित होता है। यादवों में प्रमुख श्रीकृष्ण थे। जरासंध

---

१. वयन्तु न भयादस्य कौन्तेयस्य महात्मनः।
प्रयच्छामः करान् सर्वे न लोभान्न च सान्त्वनात् ॥१९॥
अस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः।
करानस्मै प्रयच्छामः सोऽस्मान्नैवानुमन्यते ॥२०॥
सभा० ३७

के वध में उनकी नीति-निपुणता ही प्रमुख कारण हुई थी। फिर युधिष्ठिर तो रक्तपात के भय से साम्राज्य का विचार ही छोड़ चुके थे। श्रीकृष्ण ने उन्हें प्रोत्साहना देकर उनसे यह सब कार्य स्वयं कराया था। कृष्ण ने साम्राज्य अपने कुल के लिए नहीं चाहा, पाण्डवों को ही सम्राट् बनाने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। यादवों को जरासंध के साम्राज्य से तो निकाल ही लिया, परन्तु युधिष्ठिर के साम्राज्य का उन्हें भी अंग बना दिया।

उपर्युक्त राज्य-गणना से यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष में उस समय छोटे छोटे अनेक राज्य विद्यमान थे। वे सब अपनी आन्तरिक नीति में स्वतन्त्र थे। छोटे छोटे राज्य आन्तरिक स्वतन्त्रता की दृष्टि से सदैव अच्छे रहते हैं। इनके प्रबन्ध में सुगमता रहती है। प्रत्येक राज्य जो कमाता है अपने ही ऊपर व्यय कर डालता है। परन्तु बाह्य सम्बन्धों की दृष्टि से राष्ट्र का अल्प परिमाण झंझटों ही का कारण है। एक तो परस्पर संघर्ष के भय से सैनिक व्यय की मात्रा बहुत बढ़ जाती है, दूसरे व्यापार तथा आवागमन के मार्ग को, स्थान-स्थान की चुंगी, तथा पासपोर्ट इत्यादि अड़चनें कण्टकाकीर्ण किये रखती हैं। इसके विपरीत एक साम्राज्य के अधीन होने की दशा में प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को जहाँ मित्र की दृष्टि से देखकर उसके प्राणों का प्यासा नहीं होता, वहाँ अन्तर्राष्ट्रीयता को सभ्यता तथा संस्कृति की उन्नति का एक-मात्र उपाय समझकर

पड़ोसी के भले ही में अपना भला समझता है। युधिष्ठिर का साम्राज्य इसी दृष्टि से स्थापित किया गया था। यही उसकी "धर्म में प्रवृत्ति" थी। यादव स्वतन्त्र तो थे, परन्तु लड़ाके इतने अधिक थे कि वे साम्राज्य का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले ही न सकते थे।

राजसूय का समारोह देखने योग्य था। अन्य सभी राजा तो आये ही, हस्तिनापुर से भीष्म, द्रोण, दुर्योधन और उसके भाई भी आये। उन्हें घर ही के लोग समझा गया। दुःशासन भोजन के प्रबन्ध पर नियुक्त हुए। अश्वत्थामा ब्राह्मणों की आवभगत पर। भीष्म और द्रोण कृताकृत की देख-भाल पर। संजय राजाओं के स्वागत पर। कृप सोने हीरे पन्ने आदि के निरीक्षण पर। विदुर व्ययकर बने। दुर्योधन उपहार स्वीकार कर रहे थे। श्रीकृष्ण आये हुए ब्राह्मणों के पाँव धोने पर लग गये।[1] यों तो राजसूय के कर्ता-धर्ता यही थे।[2] परन्तु इस यज्ञ में इन्होंने वह काम सँभाला, जो इनके विनय और सेवा के व्रतों के ठीक अनुरूप था। प्रमुख योद्धा तथा प्रमुख नीतिज्ञ प्रमुख सेवक था। राजसूय का आन्तरिक उद्देश्य इस नम्रता और योग्यता के अद्भुत संयोग से स्पष्ट प्रकट हो रहा था।

---

१. चरणक्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं ह्यभूत्॥ सभा० ३५,१०॥

२. तन्तु यज्ञं महाबाहुरासमाप्तेर्जनार्दनः।
ररक्ष भगवाञ्छौरिः शार्ङ्गचक्रगदाधरः॥ सभा० ४५, १०॥

युधिष्ठिर की दीक्षा हो चुकी। अब अर्घ देने का समय आया। भीष्म ने कहा:—आचार्य, ऋत्विज्, सम्बन्धी, स्नातक और राजा को अर्घ दिया जाता है। इस यज्ञ में किस किस को अर्घ देना है, इसका निश्चय कर लो। युधिष्ठिर ने कहा:—कोई एक ही ऐसा पुरुष निर्धारित कीजिए, जिसमें ये सब गुण विद्यमान हों। भीष्म ने विचार कर कृष्ण का नाम प्रस्तुत किया और कहा कि ये उपस्थित सज्जनों में ही नहीं, पृथिवीभर में अर्घ दिये जाने के सबसे उत्तम अधिकारी हैं[1]। सहदेव अर्घ लाया और वह विधिपूर्वक श्रीकृष्ण को भेंट कर दिया गया।

आमन्त्रित राजाओं में चेदिराज शिशुपाल भी विद्यमान था। वह रुक्मिणी के हरण का अपमान नहीं भूला था। भरी सभा में कृष्ण को अर्घ दिया जाय, उससे यह निरादर न सहा गया। वह झट आगबबूला हो बोला:—कृष्ण राजा नहीं। इतने राजाओं के रहते इन्हें अर्घ क्यों दिया गया[2]। कृष्ण वृद्ध भी नहीं, इनके पिता वसुदेव ही यहाँ उपस्थित हैं। पिता के होते पुत्र पूजा का पात्र कैसे हुआ? सबन्धियों अथवा आत्मीयों में द्रुपद का नाता इनकी अपेक्षा अधिक घनिष्ठ है। ऋत्विजों में

---

१. ततो भीष्मः शान्तनवो बुद्ध्या निश्चित्य वीर्य्यवान्।
वार्ष्णेयं मन्यते कृष्णमर्हणीयतमं भुवि॥ सभा० ३६, २७॥

२. कथं ह्यराजा दाशार्हो मध्ये सर्वमहीक्षिताम्।
अर्हणामर्हति तथा यथा युष्माभिरर्चितः॥ ५॥
सभा० ३७.

व्यास श्रेष्ठ हैं। शास्त्र जाननेवालों में अश्वत्थामा सर्वोत्तम हैं। राजा दुर्योधन विद्यमान हैं। आचार्य कृप हैं। कृष्ण तो न ऋत्विज हैं, न आचार्य, न राजा[1]। इनको अर्घ देना दूसरों का स्पष्ट निरादर करना है।

इस प्रकार की जलीकटी शिशुपाल ने युधिष्ठिर को सुनाई। फिर कृष्ण को भी ख़ूब बुरा भला कहा। युधिष्ठिर ने समझा बुझाकर शिशुपाल को ठंढा करने का प्रयत्न किया, परन्तु व्यर्थ। तब भीष्म ने कृष्ण की गुणावली इस प्रकार कह सुनाई:—मैंने बहुत ज्ञानवृद्ध महात्माओं का सत्सङ्ग किया है। वे श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर अब तक के महत्त्वपूर्ण कर्मों का वर्णन प्रशंसा-पूर्वक करते हैं। हम कृष्ण के यश और शौर्य पर मुग्ध हैं। ब्राह्मणों में ज्ञान की पूजा होती है, क्षत्रियों में वीरता की; वैश्यों में धन की और शूद्रों में आयु की। यहाँ मैं किसी ऐसे राजा को नहीं देखता, जिसे कृष्ण ने अपने अतुल तेज से न जीता हो। वेदवेदाङ्ग का ज्ञान और बल पृथिवी के तल पर इनके समान किसी और में नहीं। इनका दान, इनका कौशल, इनकी शिक्षा और ज्ञान, इनकी शक्ति, इनकी शालीनता, इनकी नम्रता, धैर्य और सन्तोष अतुलनीय हैं। ये ऋत्विज् हैं, गुरु हैं, जामाता होने के योग्य हैं, स्नातक हैं, और लोक-प्रिय राजा हैं। ये सब

---

१. नैव ऋत्विङ् न चाचार्यो न राजा मधुसूदनः ॥ १७ ॥

गुण इस एक पुरुष में मानों मूर्त्त हो गये हैं। इसलिए इन्हें ही अर्घ दिया गया है।[१]

इस पर शिशुपाल और भी लाल-पीला हो गया। उसने भीष्म को बूढ़ा सिड़ी कहा। कृष्ण के बाल-काल के कारनामे एक-एक करके गिनाये और उनका उपहास किया। पूतना-वध को लक्ष्य कर इन्हें स्त्री-घातक कहा। पागल बैल को मारने की गर्हणा कर गोघात का दोष दिया। कृष्ण ने बाढ़ तथा वर्षा में जो ग्वालों की बस्ती गोवर्धन पर जा बसाई थी और सप्ताह भर लगातार उसकी देख-रेख कर मानों उसे अपनी ही हथेली पर उठाये खड़े रहे थे और इसी से गोवर्धन-धर नाम पाया था, उस

---

१. ज्ञानवृद्धा मया राजन् बहवः पर्युपासिताः।
तेषां कथयतां शौरेरहं गुणवतो गुणान् ॥ १२ ॥
समागतानामश्रौषं बहून् बहुमतां सताम्।
कर्माण्यपि च यान्यस्य जन्मप्रभृति धीमतः ॥ १३ ॥
यशः शौर्यं जयं चास्य विज्ञायार्चां प्रयुञ्महे ॥ १६ ॥
अस्यां हि समितौ राज्ञामेकमप्यजितं युधि।
न पश्यामि महीपालं सात्वतीपुत्रतेजसा ॥ १८ ॥
वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशेषः केशवादृते ॥ १९ ॥
दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा।
सन्नतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते ॥ २० ॥
ऋत्विग् गुरुर्विवाह्यश्च स्नातको नृपतिः प्रियः।
सर्वमेतद् हृषीकेशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः ॥ २२ ॥

सारी घटना को वल्मीक-मात्र का उठाना कह उसकी खिल्ली उड़ाई। गोपों में बाल-काल व्यतीत करने से गोप कहा। गोवर्धन यज्ञ का ऋत्विक् होने से इन्हें पेटू कहा। कंस को मारा सो कृतघ्न। जरासन्ध का वध कराया सो छली। इसी प्रकार भीष्म के ब्रह्मचर्य पर भी लाञ्छन लगाया और उन्हें बन्दी अर्थात् भाट कहा[1]।

सबसे बुरी बात यह कि राजाओं को उभारा और कहा, मैं सेनापति हूँ। सब मेरी कमान में आ जाओ और इस

१. युक्तमेतत् तृतीयायां प्रकृतौ वर्तता त्वया।
वक्तुं धर्मादपेतार्थं त्वं हि सर्वकुरूत्तमः ॥ सभा० ४१, २॥
तमिमं ज्ञानवृद्धः सन् गोपं स्तोतुमिच्छसि ॥ ६॥
गोघ्नः स्त्रीघ्नश्च सन् भीष्म कथं संस्तवमर्हति ॥ १६॥
वल्मीकमात्रः सप्ताहं यद्यनेन धृतोऽचलः।
तथा गोवर्धनो भीष्म न तच्चित्रं मतं मम ॥ ९॥
भुक्तमेतेन बह्वन्नं क्रीडता नगमूर्धनि ॥ १०॥
यस्य चानेन धर्मज्ञ भुक्तमन्नं बलीयसा।
स चानेन हतः कंस इत्येतन्न महाद्भुतम् ॥ ११॥
अद्वारेण प्रविष्टेन छद्मना ब्रह्मवादिना।
दृष्टः प्रभावः कृष्णेन जरासन्धस्य भूपतेः ॥ सभा० ४२, ३॥
येन धर्मात्मनात्मानं ब्रह्मण्यमविजानता।
प्रेषितं पाद्यमस्मै तद् दातुमग्रे दुरात्मने ॥ ४॥
भुज्यतामिति तेनोक्ताः कृष्णभीमधनञ्जयाः।
जरासन्धेन कौरव्य कृष्णेन विकृतं कृतम् ॥ ५॥

राजसूय को होने ही न दो[१]। हमने प्रीतिपूर्वक कर दिया है। इसके बदले में यह अपमान ?

शिशुपाल ने दाँत पीसे, आँखें लाल कीं। यही अवस्था भीम की थी। वह शिशुपाल पर लपका ही चाहता था कि भीष्म ने रोक लिया। भीष्म ने शिशुपाल को खरी खरी सुनाई। शिशुपाल ने अपनी अभ्यस्त भाषा में ही उन्हें उत्तर दिया। अन्त में शिशुपाल ने कृष्ण को ललकारा कि तू दास है, राजा नहीं।[२] हम तेरा अर्घ लेना नहीं सहेंगे। शक्ति है तो मुझसे लड़ ले। अभी तुझे पाण्डवों-समेत यमपुरी का रास्ता दिखा दूँ।[३]

श्रीकृष्ण गालियों पर भी चुप थे। लाल पीले होने की भी पर्वाह नहीं कर रहे थे। परन्तु अब स्पष्ट युद्ध का आह्वान दिया जा रहा था। अब चुप रहना भीरुता थी। पहले तो उन्होंने राजाओं को सम्बोधन कर इसकी पुरानी कर्तूतें सुनाईं और कहा कि फूफी के कहने से मैंने इसके सौ अपराध क्षमा किये। पर आख़िर क्षमा की भी हद है। हम प्राग्ज्योतिष गये हुए थे।

---

१. इति सर्वान् समुत्साह्य राज्ञस्तान् चेदिपुंगवः।
यज्ञोपघाताय ततः सोऽमन्त्रयत राजभिः ॥ सभा० ३६, १२ ॥
जरासन्ध का यह सेनापति रहा था। इससे अन्य राजाओं के साथ उसका यह पुराना संबन्ध था।

२. ये त्वां दासमराजानं बाल्यादर्चन्ति दुर्मतिम् ॥ सभा० ४५,४ ॥

३. आह्वये त्वां रणं गच्छ मया सार्धं जनार्दन।
यावदद्य निहन्मि त्वां सहितं सर्वपाण्डवैः ॥ सभा० ४५, २ ॥

इसने हमारे पीछे द्वारका जला दी।[१] कारूषराज के कहने से अपनी मामी को उड़ा ले गया[२]। मैंने फूफी के लिहाज़ से अब तक उपेक्षा की है। पर आख़िर उपेक्षा कब तक? यह आज तो साम्राज्य को ही चौपट करना चाहता है। यह व्यतिक्रम असह्य है।

राजाओं ने यह वृत्तान्त सुना तो कुछेक को शिशुपाल से घृणा हो गई और वे कृष्ण की प्रशंसा करने लगे। इस प्रकार लोकमत का कुछ ऐसा भाग, जो स्पष्ट प्रकट होने में किसी संकोच के बंधन में न था, अपने पक्ष में कर इन्होंने सुदर्शन-चक्र का स्मरण किया। बस अब क्या था? नरेन्द्रमण्डल के देखते-ही-देखते शिशुपाल का सिर पृथ्वी पर आ पड़ा। लल-कारा उसने स्वयं ही था, इसलिए कृष्ण को कोई प्रत्यक्ष दोष तो दे ही न सकता था। शिशुपाल के देह का शास्त्र-विहित रीति से दाह-संस्कार किया गया और उसके स्थान पर उसके पुत्र का अभिषेक भी वहीं कर दिया गया।[३]

---

१. प्राग्ज्योतिषपुरं यातानस्मान् ज्ञात्वा नृशंसकृत्।
अदहद् द्वारकामेष स्वस्रीयः सन्नराधिपाः॥ सभा० ४५, ७,८॥

२. एष मायाप्रतिच्छन्नः कारूषार्थे तपस्विनीम्।
जहार भद्रां वैशालीं मातुलस्य नृशंसकृत्॥ ११॥

३. पाण्डवस्त्वब्रवीद् भ्रातॄन् सत्कारेण महीपतिम्।
दमघोषात्मजं वीरं संस्कारयत मा चिरम्॥ ३५॥
तथा च कृतवन्तस्ते भ्रातुर्वै शासनं तदा।
चेदीनामाधिपत्ये पुत्रमस्य महीपतेः॥ ३६॥
अभ्यषिञ्चत् तदा पार्थः सह तैर्वसुधाधिपैः॥ ३७॥

राजसूय समाप्त हुआ और राजा लोग अपनी अपनी राजधानियों को जाने लगे। पाण्डवों ने यथायोग्य सत्कार कर उन्हें विदा किया। युधिष्ठिर के भाइयों के साथ साथ राजकुमार अभिमन्यु आदि भी इस विदाई के कार्य में सम्मिलित थे[1]। इन सबके चले जाने पर कृष्ण ने कुन्ती को युधिष्ठिर के सम्राट् बनने की बधाई दी और सब आत्मीयों से मिल कर द्वारका लौटने की अनुमति माँगी।

श्रीकृष्ण को अर्घ देना एक राजनीतिक भूल थी। आगे जाकर महाभारत के युद्ध का मूल-कारण यही भूल हुई। इसका वर्णन प्रकरण आने पर फिर किया जायगा।

(३)

राजाओं के उपहार

युधिष्ठिर के राजसूय में भारतवर्ष के सभी राष्ट्रों के राजा सम्मिलित हुए थे—इसका वर्णन ऊपर हो चुका है। वे उपहार तथा कर-रूप में क्या क्या पदार्थ लाये ? इनका उल्लेख दुर्योधन के सन्ताप के प्रकरण (सभा-पर्व अध्याय ५१-५३) में किया गया है। वही तो इन उपहारों को ग्रहण करनेवाला था। इतनी सम्पत्ति का प्रवेश युधिष्ठिर के राष्ट्र में देख उसका हृदय जल उठा। हम इन उपहारों में से कुछ एक का विवरण आगे

---

१. द्रौपदेयाः ससौभद्राः पार्वतीयान् महारथान्।
अन्वगच्छंस्तथैवान्यान् क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभाः ॥ ४० ॥

देते हैं। इससे उस समय की आर्थिक अवस्था का एक संक्षिप्त-सा चित्र पाठकों के सम्मुख आ जायगा।

काम्बोजराज बहुत से ऊन और चूहे तथा बिल्ली के बालों के, ज़री का काम किये हुए कपड़े और खालें, चितकबरे शुकनास घोड़े, ऊँट और ख़च्चर लाये। मरु-कच्छ देश के लोगों ने गान्धार देश के घोड़े तथा सिन्धु-वासियों ने जंगली धान्य प्रस्तुत किये। पारद, आभीर और कितव विविध प्रकार के रत्न, बकरियाँ, भेड़ें, गायें, सोना, ऊँट और गधे, फलों से उत्पन्न हुआ मधु, और तरह-तरह के कम्बल भेंट में लाये। प्राग्ज्योतिष के राजा भग-दत्त के उपहार में वायुवेग घोड़ों के अतिरिक्त हाथीदाँत के दस्तों-वाली तलवारें तथा समुद्र से निकले मोतियों का थाल था। चीन, शक, उड्र, बर्बर इत्यादि जातियों के लाये हुए घोड़ों के रंग विचित्र थे। कोई काला, कोई पीला, कोई इन्द्र-धनुष-सा। हिमालय की तलहटी से आये हुए लोगों के उपहारों में ऊन, तथा रेशम के मुलायम कपड़े, मुलायम खालें, तेज़ तलवारें, ऋष्टियाँ, शक्तियाँ, परश्वध, परशु, रस, गन्ध और रत्न थे। शक, तुषार, कंक, रोम और शृङ्गी जातियाँ हाथी, आसन, बिछौने, ये सब पदार्थ रत्नों, सोने तथा हाथीदाँत से जड़े, विचित्र प्रकार के कवच, शस्त्र, भिन्न भिन्न आकारों के रथ जिन पर सोना मँढ़ा था, जिनमें सधे हुए घोड़े जुते थे, और जो चीते के चमड़े से ढँके थे, अद्भुत हाथियों के झूल, नाराच और अर्धनाराच—इन महामूल्य वस्तुओं की भेंट लेकर

उत्सव में पधारीं। हिमालय के फूलों का स्वादु रस (क्षौद्र), वहाँ की जातियों की भेंट में आया। किरात चन्दन तथा अगर, तगर की लकड़ी और गन्धों की बड़ी बड़ी राशियाँ लेकर पहुँचे। यज्ञसेन ने गजयुक्त रथ अर्थात् हाथी-गाड़ियाँ भेंट कीं। मलय और सिंहल द्वीप से चमकते हुए मोती, सोना, हाथियों के झूल और सूक्ष्म वस्त्र उपहार में प्राप्त हुए। ऐसी ही भेंटें और जातियों की भी थीं। श्रीकृष्ण ने १४ हज़ार हाथी दिये।

यज्ञ में काम आने के लिए गायें और काँसे की दोहनियाँ लाई गईं। बाह्लीक ने इस पुण्यकार्य में प्रयुक्त होने के लिए रथ दिया, सुदक्षिणा ने काम्बोज के घोड़े उसमें जुतवाये। सुनीथ ने रथ के नीचे का अनुकर्ष, चेदिपति ने ध्वजा, दक्षिण के राजा ने संनहन (कमरबन्द), मागध-नरेश ने माला और पगड़ी, वसुदान ने साठ दिन का हाथी, मत्स्यपति विराट ने सोने से जड़े अक्ष, एकलव्य ने जूता, अवन्तिराज ने अभिषेक के लिए स्थान स्थान का पानी, चेकितान ने उपासंग, काशिपति ने कमान और शल्य ने तलवार भेंट की।

राजा और जातियाँ बहुत थीं। उनके उपहार भी असंख्य थे। परन्तु प्रमुख वस्तुएँ यही थीं, जिनके नाम ऊपर दिये गये हैं।

युधिष्ठिर की राज्य-प्रणाली

युधिष्ठिर का राज्य इन्द्रप्रस्थ में स्थापित हुआ। इस सम्बन्ध में यह बताना निस्सन्देह रुचिकर होगा कि युधिष्ठिर की राज्य-प्रणाली कैसी थी? श्रीकृष्ण युधिष्ठिर के मन्त्री थे और सच पूछो तो उसके राज्य के कर्ता-धर्ता यही थे। इसलिए श्रीकृष्ण की जीवनी में भी इस राज्य-प्रणाली का वर्णन अप्रासंगिक नहीं, प्रत्युत आवश्यक है। इस प्रणाली का सीधा स्पष्ट विवरण महाभारत में कहीं नहीं दिया गया। परन्तु हाँ! युधिष्ठिर की सभा में, जब उसका निर्माण मय-द्वारा हो चुका, अन्य ऋषियों के साथ नारद भी आये हैं। उन्होंने युधिष्ठिर से कुछ प्रश्न किये हैं। वे तात्कालिक राजनीति का सार प्रतीत होते हैं। महाभारत के युद्ध के पन्द्रह वर्ष पश्चात् धृतराष्ट्र ने वनवास लिया है। उन्होंने जाने से पूर्व युधिष्ठिर को उपदेश किया है। वह भी उस समय की नीति के सम्बन्ध में एक सुन्दर संदर्भ है। इन सन्दर्भों से अधिक महत्त्वपूर्ण भीष्म-पितामह का वह पचास दिन का उपदेश है, जो उन्होंने शर-शय्या पर पड़े-पड़े, मुख्यतया युधिष्ठिर को, और उसके साथ-साथ उनके अन्य साथियों को भी, किया है। उसमें समाज-शास्त्र-सम्बन्धी अनेक विषयों का प्रसंग

चला है। राज-धर्म को भीष्म ने सबसे उत्तम विद्या, सबसे उत्तम योग, सबसे उत्तम कर्म, सबसे उत्तम धर्म माना है। इस धर्म का विश्लेषण करते हुए उन्होंने अराजकता की भयंकर आपत्तियों की ओर निर्देश कर राजपद की महत्ता को इस कथानक द्वारा प्रदर्शित किया है:—

हे कुरुवंश के वीर! सतयुग में राज्य की कैसे उत्पत्ति हुई, आप निश्चय से वह सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनिए। तब तो न राज्य था, न राजा, न दण्ड न दाण्डिक। सभी लोग धर्म-पूर्वक एक दूसरे की रक्षा करते थे। इस प्रकार परस्पर रक्षा करते करते लोगों में गिरावट आ गई। उनमें मोह का प्रवेश हुआ। मोह से बुद्धि का नाश हुआ, और इससे धर्म नष्ट हो गया।............... ....। जो पदार्थ प्राप्त न था, उसकी चिन्ता करने लगे। तब काम उत्पन्न हुआ। काम से राग के अधीन हो गये। राग के वश कार्य-अकार्य, गम्य-अगम्य, वाच्य अवाच्य का ज्ञान जाता रहा। भक्ष्य अभक्ष्य, दोष अदोष वे कुछ नहीं छोड़ते थे। इस विप्लव में वेद का नाश हो गया। वेद और धर्म के नष्ट होने पर देवता लोग डरे। वे ब्रह्मा के पास गये और हाथ जोड़कर प्रार्थना की, भगवन्! नरलोक में सनातन ब्रह्म (वेद) नष्ट हो गया है। लोभ, मोह आदि भावों की प्रबलता है। इससे हम डर गये हैं। वेद के विनाश से धर्म (यज्ञ-याग)

का लोप हो गया है। इससे हम देवता मनुष्यों की कोटि में आ गये हैं। मनुष्य (आहुतियों द्वारा) ऊपर को वर्षा करते हैं, हम नीचे को। उन्होंने यज्ञ-याग छोड़ दिये हैं। अतः हमारा जीवन संकट में है। अब जिस रीति से हमारा कल्याण हो वह सोचिए। आपकी कृपा से ही हमारा उद्धार हो सकता है। इस पर ब्रह्मा ने देवताओं से कहा, आप डर छोड़ दीजिए। मैं आपके कल्याण का उपाय करूँगा। तब ब्रह्मा ने एक लाख अध्याय का पुस्तक रचा, जिसमें धर्म, अर्थ और काम का वर्णन था।.........इस नीतिशास्त्र को सबसे पूर्व शंकर ने ग्रहण किया।.........ब्रह्मा के रचे उस महान् शास्त्र का संक्षेप किया। उसका नाम वैशालाक्ष था। इसमें दस हज़ार अध्याय थे। उसने उसका संक्षेप पाँच हज़ार अध्यायों में कर दिया। बृहस्पति ने उसका भी संक्षेप कर तीन हज़ार अध्याय रहने दिये। शुक्र ने एक हज़ार अध्याय कर दिये।...........इसके पश्चात् देवता लोग विष्णु के पास गये। मनुष्यों में जो श्रेष्ठ होने योग्य हो, उसका आदेश कीजिए। विष्णु ने सोचकर एक मानस-पुत्र उत्पन्न किया, जो तेज से पैदा हुआ था। उसका नाम था विरज। विरज ने पृथ्वी का राज्य पसन्द न किया। उसकी रुचि संन्यास में हुई। उसका पुत्र हुआ कीर्तिमान्। वह भी मनुष्य से बढ़

कर हुआ। उसका पुत्र हुआ कर्दम। उसने महान् तप किया। कर्दम का पुत्र था अनंग। वह प्रजा का रक्षक था और दण्डनीति में कुशल था। अनंग का पुत्र था नीतिमान्। वह बड़ा राजा हुआ, परन्तु इन्द्रियों को वश में न रख सका।.........मृत्यु की पुत्री सुनीथा से उसका पुत्र हुआ वेन। वह अधर्मी था। राग-द्वेष का दास था। ब्रह्मवादी ऋषियों ने कुश पर मन्त्र पढ़ उसे मार डाला। उसके दाहिने ऊरु का मन्थन किया तो उससे एक विकृत बौना मनुष्य पैदा हुआ।............फिर उसके दाहिने हाथ को मथा। उससे इन्द्र के सदृश मनुष्य पैदा हुआ।............ सारी दण्डनीति उसके आश्रित हुई।.........उसे देवताओं और ऋषियों ने कहा,.........मन, कर्म और वाणी से बार बार यह प्रतिज्ञा कर कि मैं भौम ब्रह्म का पालन करूँगा। इस दण्डनीति में जो धर्म कहा गया है, उसी का निश्चय से मैं आश्रय करूँगा, अपनी इच्छा का नहीं। ब्राह्मणों को मैं दण्ड नहीं दूँगा। संसार को संकट (अराजकता) से बचाऊँगा।.........विष्णु, इन्द्र, देवताओं और ऋषियों तथा स्वयं ब्रह्मा ने उसका अभिषेक किया।............स्वयं सनातन विष्णु ने उसकी यह कह कर प्रतिष्ठा की:—हे राजन्, तेरी आज्ञा का उल्लंघन कोई न करेगा। तब भगवान् विष्णु उस मनुष्य में स्वयं

प्रविष्ट हुए।.........इसलिए जगत् उसे प्रणाम करता है। (शान्तिपर्व ५८)।

६७ वें अध्याय में भीष्म अराजकता को महत्तम अनिष्ट बतला कर राजा के लिए कहते हैं:—

जो मनुष्य मन से भी उसका बुरा चिन्तन करता है, वह निश्चय दुःख पाता है। मर कर भी नरक को जाता है। राजा का, यह मनुष्य है, ऐसा समझ कर अपमान नहीं करना चाहिए। वह वास्तव में एक महान् देव है, जिसने मनुष्य का रूप धारण किया है।[1]

ऊपर के सन्दर्भों में राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में महाभारतकालीन आर्य-नीतिज्ञों की कल्पना का उल्लेख है। इस कल्पना के अनुसार आरम्भ में धर्म का राज्य था। समय बीतने पर ज्यों ज्यों लोग पापी होते गये, उन्हें राज्य की आवश्यकता हुई। एक और स्थल पर यह कहकर कि, राष्ट्र का सबसे बड़ा कर्तव्य है राजा का अभिषेक करना, राज्योत्पत्ति-सम्बन्धी उपर्युक्त धारणा को एक और कथानक द्वारा स्पष्ट किया गया है। इस कथानक में सृष्टि के

---

१. यस्तस्य पुरुषः पापं मनसाऽप्यनुचिन्तयेत्।
असंशयमिह क्लिष्टः प्रेत्यापि नरकं व्रजेत्॥
नहि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इह भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥

शान्तिपर्व ६७, ३६-४०

आरम्भ में धार्मिक अराजकता का उल्लेख न कर सीधा कहा है:—

अराजकता से प्रजायें नष्ट हो रही थीं। बड़ी मछली छोटी मछली को खा रही थी, ऐसा सुनने में आया है। उन्होंने मिलकर आपस में कुछ समझौता किया कि जो वाणी का शूर, दण्ड (प्रबल) पुरुष, पराई स्त्री का जार हमारे समझौते को तोड़ेगा, उसे हम छेक देंगे। यह समझौता सब वर्णों पर लागू होगा। वे कुछ समय इस समझौते पर चलते रहे। अन्त को दुःखी होकर वे ब्रह्मा के पास गये और कहा, हम बिना राजा के नष्ट हो रहे हैं। हमें राजा दीजिए, जिसकी हम सब मिलकर पूजा करें और वह हम सबकी रक्षा करे। ब्रह्मा ने मनु को राजा बनाया। मनु ने पसन्द न किया। उसने कहा:—मैं पाप से डरता हूँ। राजा का काम कठिन है। विशेषतया मनुष्यों के राजा का, जो सदा मिथ्याचरण करते हैं। प्रजाओं ने कहा:—आप डरिए नहीं। हम आपको धन देंगे। पशुओं का हम आपको पच्चांश देंगे और धान आदि का दशांश।......और जो धर्म प्रजा के लोग करेंगे, उसका चौथा हिस्सा आपका होगा। (शान्तिपर्व ६६)

ऊपर के उल्लेखों में अराजकता की अवस्था मास्थ में मात्स्य न्याय की प्रबलता और उसकी निवृत्ति के लिए प्रजा के परस्पर

समझौते की धारणा कर अन्त में राजा की नियुक्ति किसी दैवशक्ति द्वारा होने का स्पष्ट निर्देश है। पृथु की पैदायश तो हुई ही सीधी देवताओं से है। उसका वंश विष्णु से चला है। कुछ पीढ़ियाँ तो मानस सन्तति द्वारा चलती रही हैं। अन्त में वेन मैथुन-द्वारा उत्पन्न हुआ है। फिर उसके दाहिने हाथ से पृथु प्रकट हुआ है। उसका अभिषेक देवताओं ने किया है। विष्णु ने उसको अनतिक्रम्य होने का वर दिया है। इससे भी सन्तुष्ट न होकर स्वयं विष्णु ने उसके शरीर में प्रवेश किया है।

मनु का उसकी प्रजा के साथ हुआ तो समझौता ही है, पर समझौते का कारण ब्रह्मा का आदेश है। "नर-रूप देवता" की उक्ति इस मनु के अभिषेक के झट पश्चात् आई है। मनु की कथा ६६ वें अध्याय में है और नर-रूप देवता की उक्ति ६७ वें अध्याय में।

युद्ध के क्षेत्र ही में जब कृष्ण ने अस्त्र धारण कर भीष्म पर प्रहार करने से पूर्व उसे दुर्योधन का न्याय-शून्य पक्ष स्वीकार करने का दोष दिया है तो उसके उत्तर में भीष्म यही तो कहते हैं कि राजा परम देव है, अतः उसका साथ नहीं छोड़ा जा सकता। दुर्योधन को भी भीष्म ने एक स्थान पर कहा है कि आप राजा हैं, आपको राजाओं ही से लड़ना चाहिए।

इन बातों से पता लगता है कि राजा की उस समय एक अलौकिक सत्ता समझी जाती थी। राजा देव था, मनुष्य

नहीं। उसका उत्तराधिकारी, उसका ज्येष्ठ पुत्र, वह किसी कारण से अयोग्य हो तो उससे छोटा लड़का, अथवा राजवंश का कोई और वंशज ही हो सकता था। राजा में प्रजा की अचल आस्था होती थी। दुष्ट राजा को हत्या भी की जा सकती थी, परन्तु इसका अधिकार ऋषियों को था। वे अपने कुशास्त्र द्वारा, जो उनके तप और सरल, सांसारिक वैभव से रहित, जीवन का उपलक्षण था, राजा को राज्यच्युत कर सकते थे। इन ऋषियों पर उसका राज्य नहीं होता था। ब्राह्मणों को दण्ड देने का उसे अधिकार ही न था।

इस नर-रूप देव पर भी एक तो इन ऋषियों ही का अंकुश था, दूसरे अभिषेक के समय उसे प्रतिज्ञा करनी होती थी कि वह प्रजा-रूप ब्रह्म का पालन करेगा। तीसरे वह राज-काज में स्वतन्त्र न होता था, किन्तु राजनियम उसके लिए पूर्व से निश्चित था। दण्डनीति उतनी ही "दैवत"—Diyine—समझी जाती थी जितना स्वयं राजा। राजा का हनन ऋषि लोग कर सकते थे, परन्तु दण्डनीति का वध वे भी नहीं कर सकते थे। इस प्रकार नियन्त्रण राजा से भी ऊपर था। वह शाश्वत धर्म था। दूसरे देशों के राज-देवता-वाद से भारतवर्ष के राज-देवता-वाद में यही विशेषता थी। प्रजा का शासन देव-निर्मित नीति-शास्त्र-द्वारा ही होता था। राजा उसके अनुकूल ही शासन करता था और ब्राह्मण जो स्वेच्छापूर्वक तपोमय, विद्याव्यसनियों का-सा जीवन व्यतीत करते थे, राजा

के ऊपर होते थे। इन विशेषताओं के साथ महाभारत-काल में राज-देवता-वाद का सिद्धान्त प्रचलित था।

राजा की सहायता के लिए दो सभायें थीं। एक सभा में चार ब्राह्मण, अठारह क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र तथा पचास वर्ष का एक सूत, सब मिलकर सैंतालीस सभ्य होते थे। इन्हें अमात्य कहते थे। मन्त्री आठ होते थे, जिनसे मिलकर राजा राजकार्यों में परामर्श करता था। टीकाकारों ने अमात्य और मन्त्री पर्याय माने हैं परन्तु शान्तिपर्व ८५,७-११ में इन दोनों की परिगणना अलग अलग हुई है[1]। अमात्यों की संख्या सैंतालीस और मन्त्रियों की आठ कही है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के पढ़ने से पता लगता है कि कौटिल्य के समय में अमात्य सब राजपुरुषों की संज्ञा थी। इन्हीं में से गूढ़ पुरुष, सचिव तथा मन्त्री आदि बनाये जाते थे[2]। महाभारत में भी यह लिख

---

१. वक्ष्यामि तु यथाऽमात्यान् यादृशांश्च करिष्यसि।
चतुरो ब्राह्मणान् वैद्यान् प्रगल्भान् स्नातकान् शुचीन्।
क्षत्रियान् दश चाष्टौ च बलिनः शस्त्रपाणिनः॥
वैश्यान् वित्तेन सम्पन्नान् एकविंशति संख्यया।
त्रींश्च शूद्रान् विनीतांश्च शुचीन् कर्मणि पूर्वके।
अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं सूतं पौराणिकं तथा।
पञ्चाशद्वर्षवयसं प्रगल्भमनसूयकम्॥ ६-९
अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्रं राजोपधारयेत्। ११

२. अमात्याः सर्व एवैते कार्याः स्युर्नतु मन्त्रिणः। कौटिल्य प्रक० ४. अमात्योत्पत्तिः।

कर कि कर्मचारी को योग्यता के अनुसार काम देना चाहिए, कहा है—क्या राजभक्त, उपधाओं से रहित, कुलागत श्रेष्ठ अमात्यों को श्रेष्ठ कर्म में लगाते हो ? (सभापर्व ५,४३-४४)[1] आगे फिर कहा है:—कहीं तेरे अमात्य धनवान् और निर्धन के पैदा किये अर्थ पर लोभ के मारे विपरीत दृष्टि तो नहीं करते ? (सभा ५,१०६)[2] इससे ज्ञात होता है कि अमात्य उत्तम कर्मचारी ही हैं।

महाभारत में मन्त्रियों की संख्या एक स्थल पर तीन (शान्ति० ८३,४७)[3] तथा एक और स्थल पर (शान्ति० ८२,२२)[4] पाँच कही है। प्रतीत यह होता है कि मन्त्री आवश्यकतानुसार घटाये बढ़ाये जा सकते थे। महाभारत के युद्ध के पश्चात् राज-पदों का बटवारा इस प्रकार हुआ:—युवराज भीम बने, मन्त्री विदुर, आय-व्यय तथा कृताकृत के

सर्वोपधाशून्यान् (अमात्यान्) मान्त्रिणः कुर्यात्। प्र० ६। शुद्धामात्यवर्गो गूढपुरुषानुत्पादयेत्। उपधाभिः शौचाशौचज्ञानममात्यानाम्। प्र० ७. गूढपुरुषोत्पत्तिः।

१. अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहान् शुचीन् ॥ सभा० ५, ४३
श्रेष्ठान् श्रेष्ठेषु कच्चित्त्वं नियोजयसि कर्मसु ॥ ४४ ॥

२. उत्पन्नान् कच्चिदाढ्यस्य दरिद्रस्य च भारत।
अर्थान् न मिथ्या पश्यन्ति तवामात्या हृता धनैः ॥ सभा० ५, १०६

३. मन्त्रिणः प्रकृतिज्ञाः स्युस्त्र्यवराः महदीप्सवः। शा० ८३,४७

४. पञ्चोपधाव्यतीतांश्च कुर्याद्राजार्थकारिणः। शा० ८३,२२

निरीक्षक संजय, सेना की गणना तथा भक्ते और वेतन के अध्यक्ष नकुल, पर-राष्ट्र-मन्त्री अर्जुन, पुरोहित धौम्य, राजा के नित्य समीप-वर्त्ती रक्षक सहदेव[1]। युयुत्सु को विदुर और संजय के साथ मिलकर पौरों और जानपदों के सभी कार्य सदा राजा से निवेदन करने तथा वे कार्य कराने पर नियुक्त किया गया। (शान्तिपर्व० ४०,६-१६)

अमात्यसभा का शब्दार्थ प्रिवी कौंसिल भी किया जा सकता है। इसकी उपर्युक्त रचना से, जिसमें प्रजा के सभी वर्गों के मनुष्य सम्मिलित होते थे, यह अनुमान करना कठिन नहीं है कि वर्तमान प्रिवी कौंसिल की तरह इससे जनता में न्याय करने का काम भी लिया जाता हो। अमात्य का अर्थ है, घर का। यही प्रिवी का अर्थ है। इस सभा में वैश्यों की सबसे अधिक संख्या है। फिर क्षत्रियों की संख्या है। इनके पश्चात् ब्राह्मणों की। शूद्र और सूत सबसे कम हैं। वर्णों का यही अनुपात जनता में होता है। इस प्रकार यह सभा जनता की वास्तव में प्रतिनिधि थी। इसमें से ज्यूरी अच्छी तरह बनाई जा सकती थी।

शान्तिपर्व के ८३ वें अध्याय के आरम्भ में सभासद्, सहाय तथा परिच्छद, इन संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है।

---

१. शान्तिपर्व के ८५ वें अध्याय में सेनापति के अतिरिक्त प्रतिहारी और शिरोरक्ष इन दो उच्च अधिकारियों का नाम आया है। सहदेव संभवतः इसी पद पर था।

परन्तु इन संज्ञाओं की व्याख्या कहीं नहीं की गई। किसी और प्रसंग से अर्थापत्ति आदि द्वारा भी यह पता नहीं लग सका कि इन संज्ञाओं का अभिप्राय क्या है ?

प्रत्येक मन्त्री की सम्मति का महत्त्व बराबर था। लिखा है:—

यदि एक और गण (बहुपक्ष) में चुनाव हो तो गण (बहुपक्ष) को छोड़ कर एक का ग्रहण न करे। परन्तु यदि एक मति गण से श्रेष्ठ हो तो गण को छोड़ दे। (शान्ति-पर्व ८३,१२)[१]

दूसरे शब्दों में राजा को मन्त्रियों के बहुपक्ष को निराकृत (Veto) कर देने का भी अधिकार था। यही बात कौटिल्य में भी आई है:—

जो सम्मति बहुपक्ष की हो अथवा जिससे काम सिद्ध होता हो, वह करे।[२]

इन अमात्यों तथा मन्त्रियों की नियुक्ति संभवत: स्वयं राजा करता था। इनकी गुणावली तो दी गई है, नियुक्ति या चुनाव के कोई विशेष नियम नहीं दिये गये। भीमादि की नियुक्ति

---

१. नैकमिच्छेद्गणं हित्वा स्याच्चेदन्यतरग्रहः।
यस्त्वेको बहुभिः श्रेयान् कामं तेन गणं त्यजेत्। शा० ८३,१२

२. तत्र यद् भूयिष्ठाः कार्य्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत्कुर्यात्।
कौटिल्य० प्र० ११. मन्त्राधिकार।

युवराजादि पदों पर महाराज युधिष्ठिर स्वयं करते हैं,[१] और वह पौर जानपदों को छुट्टी देकर। एक स्थल पर यह उल्लेख अवश्य पाया जाता है कि राजा मन्त्री उनको बनाये जो पौरों और जानपदों के धर्म-पूर्वक विश्वासपात्र हों। (शान्तिपर्व ८३,४६)[२] "धर्मतः" का अर्थ है, राजनियमद्वारा। संभव है, मन्त्री की नियुक्ति के समय उसे पौर जानपदों के सम्मुख शपथ दी जाती हो और जनता का मत उसकी नियुक्ति में ग्रहण करना आवश्यक हो। "धर्मतः विश्वस्त" का शास्त्रीय अर्थ "किसी वैध रीति से विश्वस्त" ही हो सकता है।

लोकमत को अपने साथ रखने का बड़ा साधन पौर जानपद थे। पौर पुर अर्थात् राजधानी के रहनेवाले हैं और जानपद जनपद के। जनपद में उपनगरों तथा ग्रामों और प्रान्तों—अटवी-ग्रामों—का समावेश था। महाभारत के युद्ध की समाप्ति पर भीष्मपितामह से शान्तिपर्व-वर्णित अनेक विषयों का उपदेश ग्रहण कर पाण्डव हस्तिनापुर में गये तो पौर जानपदों का आमन्त्रण हुआ। युधिष्ठिर के राज्याभिषेक से पूर्व दुर्योधन के सखा एक ब्राह्मणवेशधारी चार्वाक ने पाण्डवों के दोष बता कर कहा कि ये राज्य के योग्य नहीं। ब्राह्मणादिकों ने झट उसका खंडन कर कहा कि यह हमारा प्रतिनिधि

---

१. शान्तिपर्व ४०, ९-१९

२. पौरजानपदा यस्मिन् विश्वासं धर्मतो गताः ॥ शा० ८३,४६

नहीं। उन्होंने उसे ब्राह्मतेज से वहीं भस्मसात् अर्थात् निष्प्रभ कर दिया। (शान्तिपर्व ३७, ६-३७)

इस घटना के पन्द्रह वर्ष पश्चात् धृतराष्ट्र वानप्रस्थ लेने लगे हैं तो फिर पौर जानपद बुलाये गये हैं। और धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को अपना न्यास-भूत कह कर उसे उन पौर जानपदों के ही समर्पण किया है। (आश्रमवासिक० ६,१३)[1] इन पौर जानपदों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी वर्णों के लोग सम्मिलित हैं। (आश्रमवासिक० ८, ११)[2]

पौर जानपद हमारी सम्मति में पौरों तथा जानपदों की पञ्चायत है। राष्ट्र-सम्बन्धी महान् अवसरों पर इनका निमन्त्रण होता था। रामायण में इनके आपस में परामर्श करने का भी उल्लेख है,[3] और वह भी किसी छोटे मोटे विषय पर नहीं, रामचन्द्र के युवराज बनाये या न बनाये जाने पर। प्रतीत यह होता है कि इस प्रकार का परामर्श कर यह सर्वसाधारण की

---

१. एष न्यासो मया दत्तः सर्वेषां वो युधिष्ठिरः।

आश्रमवासिक पर्व ६,१३

२. ततः प्रतीतमनसो ब्राह्मणाः कुरुजाङ्गलाः।
क्षत्रियाश्चैव वैश्याश्च शूद्राश्चैव समाययुः॥ आश्रमवासिक पर्व ८,११
समवेतांश्च तान् सर्वान् पैारान् जानपदांस्तथा॥ १३॥

३. समेत्य मन्त्रयित्वा तु समतां गतबुद्धयः।

अयोध्याकाण्ड ११,१६

पञ्चायत अपने निर्णय के प्रकाशनार्थ अपने में से एक या अनेक प्रतिनिधि नियुक्त कर देती थी, जो राजा के समक्ष अपना मत रखते थे। युधिष्ठिर के सामने जब वह चार्वाक अपनी विमति प्रकाशित करने लगा तो उसने यही कहा कि जो सम्मति मैं प्रकट करने लगा हूँ, वह इन ब्राह्मणों की है, और इसके कथन का भार इन्होंने मुझ पर डाला है।[1] (शान्तिपर्व ३७,२६)

पौर जानपदों की इस पंचायत की संख्या नियत हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। संभवतः सभी वयःप्राप्त पुरुष इस पञ्चायत में अपना मत प्रकाशित करने के अधिकारी थे।[2] मत वही ग्रहण किया जाता था जो सर्व-सम्मत हो।[3]

राष्ट्र का विभाग ग्रामों में किया जाता था। प्रत्येक ग्राम का एक ग्रामाधिपति, उस पर दस ग्रामों का दशग्रामपति, उस पर बीस, उस पर तीस, उस पर सौ और उस पर हज़ार ग्रामों का अधिपति होता था। ग्रामाधिपति या ग्रामिक अपने ग्राम के मामले दशाधिपति के पास ले जाता, दशाधिपति विंशतिपाल के पास और वह शतपाल के पास। शतपाल जनपद के सम्मुख इन मामलों को सुनता था। दूसरे

१. इमे प्राहुर्द्विजाः सर्वे समारोप्य वचो मयि। शा० ३७,२६

२. ततः प्रकृतयः सर्वाः पौरा जानपदास्तथा। शान्ति० ३७,६

३. समेत्य मन्त्रयित्वा तु समतां गतबुद्धयः॥

रामायण अयोध्याकाण्ड ११,१६

शब्दों में सौ ग्रामों की एक संयुक्त पंचायत होती थी, जो ग्रामों के शासन में महत्त्व-पूर्ण भाग लेती थी।[१] (शान्ति० ८७,३-५)

ग्राम के सभी भोज्य पदार्थ ग्रामिक को मिलते थे। दशपाल और विंशतिपाल भी यही भोज्य पदार्थ पाते थे। शतपाल को एक उत्तम ग्राम का स्वत्व प्राप्त होता था। सहस्र-पति का एक शाखानगर पर स्वत्व रहता था। अर्थात् वह उसकी आय का मालिक समझा जाता था। राष्ट्रीय नाम का अधिकारी उसके साथ इस भोग में सम्मिलित होता था। प्रत्येक (शाखा) नगर में एक सचिव होता था। वह "सभासदों" के ऊपर होता था। ये सभासद् क्या थे? जानपद ही थे या कुछ और? इसका निर्णय करना कठिन है। लिखा है, मन्त्रियों के साथ परामर्श कर राजा उस परामर्श को राष्ट्र में भेज दे और राष्ट्रीय को दिखाये। (शान्ति० ८५,१२)[२] राष्ट्र तो जनपद का दूसरा नाम है (शान्ति०

---

१. ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्रामपतिस्तथा।
विंशतित्रिंशतीशं च सहस्रस्य च कारयेत्॥
ग्रामे यान् ग्रामदोषांश्च ग्रामिकः प्रतिभावयेत्।
तानाचक्षीत दशिनं दशिको विंशिनं पुनः॥
विंशाधिपस्तु तत्सर्वं वृत्तं जानपदे जने।
ग्रामाणां शतपालाय सर्वमेव निवेदयेत्॥

शा० ८७, ३-५

२. ततः संप्रेषयेद् राष्ट्रे राष्ट्रीयाय च दर्शयेत्। शान्ति० ८५,१२

८७,१)[1] राष्ट्रीय उसमें का कोई अधिकारी है। (८५,१२)[2] संभव है, वही सचिव हो।

सभापर्व के कच्चिदध्याय में प्रत्येक ग्राम में पाँच कर्मचारी नियुक्त करने का उल्लेख है।[3] (सभा० ५,८०) टीकाकार ने इन पाँच की गणना इस प्रकार की है:—प्रशास्ता, समाहर्त्ता, संविधाता, लेखक, साक्षी। समाहर्ता लोगों से कर इकट्ठा करने-वाला है। संविधाता प्रजा और समाहर्त्ता की एकवाक्यता करने-वाला है। लेखकों और गणकों का वर्णन अन्यत्र भी हुआ है। वे पूर्वाह्न ही में लेखे जोखे बना कर पेश करते थे। (सभा० ५, ७२)[4]

परराष्ट्र के अठारह और अपने राष्ट्र के पन्द्रह तीर्थ कहे हैं। लिखा है, इनमें से प्रत्येक पर तीन तीन "चार" अर्थात् डिटेक्टिव नियुक्त रहने चाहिएँ। टीकाकार ने परराष्ट्र के मन्त्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, अन्तर्वेशक, कारागृह का अधिकारी, द्रव्यसंचयकृत् (कोषाध्यक्ष), व्ययाधिकारी,

---

१. राष्ट्रगुप्तिञ्च ते सम्यग्राष्ट्रस्यैव तु संग्रहम्। शान्ति० ८७,२
ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्रामपतिस्तथा।
विंशतित्रिशंतीशञ्च सहस्रस्य च कारयेत्॥

२. देखो पृष्ठ १२२ पाद-टिप्पणी २

३. कच्चित् शूराः कृतप्रज्ञाः पञ्च पञ्च स्वनुष्ठिताः।
क्षेमं कुर्वन्ति संहत्य राजन् जनपदे तव॥ सभा० ५,८०

४. कच्चिच्चायव्यये युक्ता सर्वे गणकलेखकाः।
अनुतिष्ठन्ति पूर्वाह्णे नित्यमायव्ययं तव॥ सभा० ५,७२

प्रदेष्टा, नगराध्यक्ष, कार्यनिर्माणकृत्, धर्माध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, राष्ट्रान्तपाल, अटवीपाल, ये अठारह तीर्थ बताये हैं। अपने राष्ट्र में पूर्व के तोन अधिकारी जासूसी से मुक्त हैं।

राज्य पर राष्ट्र को किन किन बातों का उत्तर-दातृत्व था, इसका ज्ञान उक्त कच्चिदध्याय से विशेषतया और महाभारत के अन्य स्थलों से साधारणतया प्राप्त हो जाता है। राजा का एक काम "कारणिकों" अर्थात् आचार्यों की नियुक्ति था।[१] (सभा० ५,३३) इनका काम यह था कि सर्वसाधारण के लड़कों को शिक्षा दें। राजकुमार भी सर्वसाधारण के साथ ही शिक्षा पाते थे। जरासन्ध से श्रीकृष्ण ने कहा ही तो था कि स्नातक ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तीनों वर्णों के होते हैं। द्रुपद और द्रोण ने इकट्ठी शिक्षा पाई थी।

द्रौपदी को ब्रह्मवादिनी कहा है।[२] इससे प्रतीत होता है कि स्त्रियाँ भी उन दिनों सुशिक्षिता होती थीं। शकुन्तला के दुष्यन्त की सभा में दिये गये भाषण से ज्ञात होता है कि कुमारियाँ पूर्ण स्वतन्त्रता के वातावरण में शिक्षा पाती थीं। विराट ने अपनी पुत्री को गीत और नृत्य की शिक्षा दिलाई थी। ये संकेत उस समय की शिक्षा-पद्धति पर महत्त्व-पूर्ण प्रकाश डालते हैं।

---

१. कच्चित् कारणिका धर्मे सर्वशास्त्रेषु कोविदाः ॥ ३३ ॥
कारयन्ति कुमारांश्च योधमुख्यांश्च सर्वशः ॥ ३४ ॥ सभा० ५।

२. पतिव्रता महाभागा सततं ब्रह्मवादिनी। विराट० १,२

देश की रक्षा करना तो राजा का कर्तव्य था ही। दुर्गों और नगरों में युद्ध की सभी सामग्री रहती थी। अपने तथा पराये राष्ट्र को चरों से व्याप्त रखने तथा काल के औचित्य का विचार कर सन्धि, विग्रह, यान, आसन आदि के अनुष्ठान के सम्बन्ध में स्थान स्थान पर सविस्तर उपदेश और व्याख्यान मिलते हैं। तत्कालीन नीति का परराष्ट्रविभाग बहुत उन्नत था।

पुरोहित यज्ञों और संस्कारों के अतिरिक्त ज्योतिष्-शास्त्र का जाननेवाला होता था। आधिदैविक ईतियों यथा अतिवर्षा, अतिहिम-पात इत्यादि का प्रतिकार करना भी उसका कर्तव्य था।[1] (सभा० ५,४१-४२)

कर्मचारियों का वेतन और भत्ता समय पर मिल जाय, इसमें राजा सावधान रहता था। युद्ध में जाते हुए सैनिकों को वेतन और राशन अगाऊ दे दिये जाते थे। राजकाज में प्राणान्त अथवा किसी और आपद् को प्राप्त हुए राज्य-कर्मचारी के परिवार का भरण-पोषण राज्य की ओर से होता था।[2] (४८,५४) इस बात का ध्यान रखा जाता था कि राष्ट्र

---

१. हुतञ्च होष्यमाणञ्च काले वेदयते सदा।
कच्चिदङ्गेषु निष्णातो ज्योतिषः प्रतिपादकः॥
उत्पातेषु हि सर्वेषु दैवज्ञः कुशलस्तव॥ सभा० ५,४१-४२

२. कच्चिद् बलस्य भक्तञ्च वेतनञ्च यथोचितम्।
संप्राप्तकालं दातव्यं ददासि न विकर्षसि॥ सभा० ५,४८
कच्चिद्दारान् मनुष्याणां तवार्थे मृत्युमीयुषाम्।
व्यसनं चाप्युपेतानां बिभर्षि भरतर्षभ॥ सभा० ५,५४

का व्यय आय का आधा या तीन चौथाई हो। शेष आकस्मिक आवश्यकताओं के लिए सुरक्षित रहे।[1] (४८,७०) संकट पड़ने पर राज्य प्रजा से ऋण भी ले सकता था। इसके लिए पौर जानपदों के सम्मेलनों में राजा को प्रजा का मत अपनी ओर आकर्षित करना होता था। शान्तिपर्व ८७,२४-३३ में इसका एक सुन्दर चित्र विद्यमान है। वहाँ राजा के एक ऐसे अवसर पर अत्यन्त प्रभावशाली भाषण का नमूना भी दिया गया है।

कृषि, वाणिज्य और शिल्प राष्ट्र की समृद्धि का आधार समझे जाते थे। राज्य की ओर से तड़ाग खोदे जाते थे। भूमिसेचन के कृत्रिम साधन बनाना और उनसे व्यवस्थापूर्वक प्रत्येक क्षेत्र को पानी पहुँचाना राजा का कर्तव्य था। एक प्रतिशतक या इसके लगभग वृद्धि पर बीज आदि का ऋण कर्षकों को मिल सकता था।[2] (सभा० ५,७७-७८) शिलिपयों को चार मास की शिल्प-सामग्री राजकोष से दी जातो थी।

---

१. कच्चिदायस्यार्धेन चतुर्भागेन वा पुनः।
पादभागैस्त्रिभिर्वापि व्ययः संशोध्यते तव ॥ सभा० ५,७०

२. कच्चिद्राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च बृहन्ति च।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका। सभा० ५,७७
कच्चिन्न बीजं भक्तञ्च कर्षकस्यावसीदति।
पादिकञ्च शतं वृद्ध्या ददास्यृणमनुग्रहम् ॥ ७८ ॥

संकट में पड़े शिल्पियों को धनधान्य की सहायता मिलती थी।[१] (सभा० ५,११८, ७१)

अंधों, गूँगों, लँगड़ों अपाहजों, अनाथों तथा संन्यासियों का पालन राज्य करता था[२]। (सभा० ५,१२४) ये राजा की अपनी सन्तान थे। बिना कारण भिक्षा-वृत्ति का निषेध था। (शान्तिपर्व ८८, २४)

अग्नि, हिंस्र पशु, रोग तथा राक्षस आदि से रक्षा करने का उत्तरदातृत्व भी राजा पर था।[३] कुशल वैद्य राज्य की ओर से नियत किये जाते थे। (१२३,९०) मद्यागारों, वेश्याओं तथा नटों पर राजा का कड़ा नियन्त्रण था।[४] (शान्ति० ८८,१४)

---

१. द्रव्योपकरणं किञ्चित् सर्वदा सर्वशिल्पिनाम् ।
चातुर्मास्यावरं सम्यङ् नियतं सम्प्रयच्छसि। सभा० ५,११८
कच्चिज् ज्ञातीन् गुरून् वृद्धान् वणिजः शिल्पिनः श्रितान्।
अभीक्ष्णमनुगृह्णासि धनधान्येन दुर्गतान् ॥ सभा० ५,७१

२. कच्चिदन्धांश्च मूकांश्च पंगून् व्यंगानबान्धवान्।
पितेव पासि धर्मज्ञ तथा प्रव्रजितानपि॥ सभा० ५,१२४

३. कच्चिदग्निभयाच्चैव सर्वं कालभयात्तथा।
रोगरक्षोभयाच्चैव राष्ट्रं स्वं परिरक्षसि॥ सभा० ५,१२३
कच्चिद् वैद्याश्च चिकित्सायामष्टाङ्गायां विशारदाः॥ ९०॥

४. पानागारनिवेशाश्च वेश्याः प्रापणिकास्तथा।
कुशीलवाः सकितवा ये चान्ये केचिदीदृशाः।
नियम्याः सर्व एवैते ये राष्ट्रस्योपघातकाः॥ शान्ति० ८८,१४

बलवान् के हाथों निर्बल की रक्षा और न्याय, ये दोनों राजा के पवित्र कर्तव्य थे। लाल वस्त्र पहिने सिपाही और पहरेदार बलात्कारियों पर यमस्वरूप बने खड़े रहते थे। अर्थी और प्रत्यर्थी दोनों की बात सुन निर्णय किया जाता था। घूस लेकर अन्याय न हो, इसका ध्यान रखा जाता था।[1] (सभा० ५,९१, ८७)

ये थे सारे व्यय के विभाग। आय करों से प्राप्त होती थी। भूमि की उपज का दशांश और पशुओं का पञ्चांश देने की प्रतिज्ञा मनु के कथानक में ऊपर आ चुकी है। अन्यत्र (शान्ति० ७१,१०)[2] कहा है, राजा "बलिषष्ठ" ले। टीकाकार बलिषष्ठ का अर्थ धान्य आदि का षष्ठ लेते हैं। वहीं अपराधियों का दण्ड भी आय का स्रोत कहा गया है। वणिजों को "शुल्क" देना होता था। उसकी मात्रा नहीं दी गई। "बलिषष्ठ" शुल्क का विशेषण होने से सम्भवत: इसी शुल्क का सूचक हो। इनके अतिरिक्त खनिज द्रव्य भी आय के साधन थे। आकरों अर्थात् खानों पर अमात्य रखने का

---

१. कच्चिन्न लोभान् मोहाद्वा मानाद्वापि विशांपते।
अर्थिप्रत्यर्थिनः प्राप्तान् न पश्यसि कथञ्चन ॥ ९१ ॥
कच्चिद्रक्ताम्बरधराः खड्गहस्ताः स्वलङ्कृताः ॥ ८७ ॥

२. बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम्।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम् ॥

शान्ति० ७१,१०

विधान पाया जाता है। इस सामान्य सिद्धान्त पर बहुत बल दिया गया है कि कर लेने में लोभ से काम न लेना चाहिए। प्रजायें गायें हैं और राजा बछड़ा। वह दूध पीते पीते कहीं गायों के स्तनों को न काट दे। कर आय के अनुपात से लिया जाता था। विक्रय, क्रय, खाना, पहनना, आदि सबको ध्यान में रखकर कर लगाते थे। एक स्थान पर यह विधान भी मिलता है कि यदि कर की अधिकता के कारण प्रजा का निर्वाह न होता हो तो कर छोड़ दे।

खानें, लवण, नावें, हाथी, शुल्क—इनका प्रबंध राज्य की ओर से होता था। इन पर व्यय भी पड़ता होगा। किसी किसी मद से आय भी होती होगी। इस आय-व्यय की मात्रा तथा प्रकार नहीं दिये गये। अटवीपाल मुख्याधिकारियों में था। इससे पता लगता है कि जङ्गल राजा के अधिकार में थे। कुछ तो व्यापार का मार्ग निर्बाध रखने के लिए इनका शासन करना पड़ता था और कुछ वनवासियों के सुभीते के लिए प्रबन्ध की आवश्यकता होती होगी। इसके अतिरिक्त वनों से राज्य को आय भी होती हो, यह भी संभव है। लकड़ी तथा पशु दोनों आय के साधन हो सकते हैं।

महाभारत की राजनीति में राजा के वैयक्तिक आचार पर बड़ा बल दिया गया है। उसकी सारी दिनचर्या निश्चित कर दी गई है। निम्नलिखित दोषों से बचने का विशेष उपदेश है, क्योंकि इनसे राज्य समूल नष्ट हो जाता है:—नास्तिकता,

असत्य, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानियों का सत्संग न करना, आलस्य, चित्त का विक्षेप, ये दोष वैयक्तिक हैं। राष्ट्र-सम्बन्धी दोष भी गिनाये गये हैं:—विचार्य विषयों का अकेले निर्णय करना, अज्ञानियों के साथ परामर्श, निश्चय कर उन्हें क्रिया में परिणत न करना, मन्त्र की रक्षा न करना, मंगल का अप्रयोग, सब ओर से विप्लव।

व्यसनी अर्थात् मद्य, द्यूत, व्यभिचार आदि में आसक्त राजा को बलहीन समझ शत्रु के आक्रमण का सरलतम आखेट माना है।

इन संकेतों से यह स्पष्ट है कि उस समय का राष्ट्र-सम्बन्धी विचार बहुत उन्नत था। धृतराष्ट्र अपने वनवास से पूर्व के उपदेश में बहत्तर गणों का वर्णन करते हैं, जिनमें मन्त्री ही मुख्य हैं। अर्थात् उनमें कोई वंशागत एकराट् राजा नहीं। युधिष्ठिर ने ऐसे गणों को भी अपने साम्राज्य में स्थान दिया। अपनी राज्यप्रणाली को निश्चित करने का अधिकार प्रत्येक राष्ट्र को स्वयं था। वह साम्राज्य में संयुक्त व्यापार तथा आवागमन आदि के नियमों की एकता स्थापित करने तथा भारत के शत्रुओं के विरोध में सम्पूर्ण भारत को एक प्रबल शक्ति बनाने के लिए ही सम्मिलित होता अथवा किया जाता था।

सौभनगर की लड़ाई

जहाँ आजकल अलवर है, वहाँ पुराने समय में शाल्वपुर नाम का नगर था। उसके चारों ओर का राष्ट्र, जिसकी वह राजधानी था, मार्त्तिकावत या मृत्तिकावती कहलाता था। मार्त्तिकावत के राजा का नाम शाल्व था। उसने युधिष्ठिर के राजसूय में शिशुपाल के वध का समाचार सुना तो झट आपे से बाहर हो गया। अभी श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ ही में थे कि शाल्व ने द्वारका पर चढ़ाई कर दी और श्रीकृष्ण को युद्ध का आह्वान देने लगा। द्वारका की रचना का संक्षिप्त वर्णन हम किसी पूर्व अध्याय में कर आये हैं। उसे बनाया ही जरासंध के आक्रमणों को लक्ष्य में रख कर गया था। द्वारका एक सुदृढ़ दुर्ग सी थी। उसके चारों ओर द्वार थे। उन पर योद्धाओं की चौकियाँ थीं। यन्त्र रखे थे। सुरङ्गों को सुरक्षा का प्रबन्ध था। सब ओर मोर्चे लगे हुए थे। अट्टालिकाओं पर गोले रखे रहते थे। लड़ाई का सामान स्थान स्थान पर विद्यमान था।[१] सब ओर बुर्ज थे।

---

१. पुरी समन्ताद्विहिता सपताका सतोरणा।
सचक्रा सहुडा चैव सयन्त्रखनका तथा॥

वन० १२,५

सचक्रग्रहणी चैव सोल्कालातावपीथिका॥ ६॥

बीच का बुर्ज ऊँचा था। वहाँ खड़े हुए पहरेदारों ने ख़बर दी कि शत्रु आ रहा है। सारे राष्ट्र में आज्ञा हो गई कि सुरापान निषिद्ध है।[1] युद्ध के समय मद्यपान की मनाई का यह अत्यन्त प्राचीन उदाहरण है। पुल तोड़ दिये गये। नौकाओं का आना-जाना बन्द होगया। परिखाओं में सीखें डाल दी गईं। कूओं आदि की भी यही अवस्था की गई। नगर के चारों ओर एक कोस की दूरी तक भूमि पर काँटे डाल दिये गये। और यह आज्ञा निकल गई कि बिना मुद्रा (पास्पोर्ट) के कोई आ जा न सकेगा।[2]

---

१. आवेोषितं च नगरे न पातव्या सुरेति वै ॥ वन० १५,१२

यही आज्ञा फिर मौसलपर्व के १ म अध्याय में मिलती है—

आघोषयँश्च नगरे वचनादाहुकस्यते ।
जनार्दनस्य रामस्य बभ्रोश्चैव महात्मनः ॥ २८ ॥
अद्य प्रभृति सर्वेषु वृष्ण्यन्धककुलेष्विह ।
सुरासवो न कर्तव्यः सर्वैर्नगरवासिभिः ॥ २९ ॥
यश्च नो विदितं कुर्यात् पेयं कश्चिन्नरः क्वचित् ।
जीवन् स शूलमारोहेत् स्वयं कृत्वा सबान्धवः ॥ ३० ॥
ततो राजभयात् सर्वे नियमं चक्रिरे तदा ।
नरा शासनमाज्ञाय रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ३१ ॥

यह दूसरे शब्दों में ऊपर लिखे सुरापाननिषेध का विस्तार है। वहाँ केवल युद्ध के समय के लिए निषेध किया था। यहाँ सदा के लिए कर दिया है।

२. न चामुद्रोऽभिनिर्याति न चामुद्रः प्रवेश्यते ॥ १९ ॥

सेना लड़ने के लिए तैयार थी। सबको वेतन मिल चुका था और वह खरे सोने के सिक्कों में।[1] सब युद्ध के अनुभवी थे। तात्कालिक भरती का यादवों में रिवाज न था। शस्त्रास्त्र से लैस होकर सब लड़ने को तैयार हो गये।

शाल्व का सबसे बड़ा बल एक उड़ता हुआ नगर था। श्मशानों और देवालयों को छोड़ कर उसने द्वारका के बाहर डेरा लगाया। अपने विमान के साथ वह नगरी के चारों ओर घूमा।[2]

यादव वीर उद्यत ही थे। सबसे पूर्व सांब की शाल्व के सेनापति क्षेमवृद्धि से लड़ाई हुई। सांब ने उसे रणक्षेत्र से ही भगा दिया। वेगवान् ने उसका स्थान लिया, परन्तु वह मारा गया। विविन्ध्य चारुदेष्ण से भिड़ा, परन्तु प्रद्युम्न के बाण ने उसे पृथिवी पर चित लिटा दिया। अब शाल्व ने स्वयं आक्रमण किया। प्रद्युम्न और शाल्व दोनों वीर थे। दोनों ने युद्ध-विद्या के जौहर दिखाये। पहले शाल्व को और फिर प्रद्युम्न को मूर्छा हुई। प्रद्युम्न का सारथि दारुकि था। वह रथ को रणक्षेत्र से निकाल एक ओर ले गया। इतने में प्रद्युम्न सचेत हुआ तो उसने दारुकि को झिड़का कि "यह क्या भीरुओं का कार्य किया? वह

---

१. न कुप्यवेतनी कश्चिन्न चातिक्रान्तवेतनी ।
नानुग्रहभृतः कश्चिन्न चादृष्टपराक्रमः ॥ २० ॥

२. कामगेन स सौभेन शाल्वः पुनरुपागमत् ॥ १६,२७ ॥

वृष्णि-कुल में पैदा ही नहीं हुआ जो युद्ध में पीठ दिखाये, या गिरे हुए पर और "मैं तेरा हूँ" ऐसा कहनेवाले पर वार करे, स्त्री, बालक और वृद्ध पर आक्रमण करे, या भागे हुए अथवा जिस शत्रु का शस्त्र टूट गया हो, उस पर हमला करे।"[१] दारुकि ने उसे फिर रणक्षेत्र में पहुँचा दिया। इस बार का युद्ध और भी बल-पराक्रम-पूर्वक हुआ। शाल्व को अधिक चोटें आईं और वह मूर्च्छित होगया। प्रद्युम्न उसका वध ही करने लगा था कि उसने घेरा उठा लिया और द्वारका से चला गया।[२]

श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ से लौटे तो द्वारका में युद्ध के अवशेष अभी विद्यमान थे। पूछने पर पता लगा कि यह शाल्व की कर्तूत है। इन्होंने सेना लेकर मार्त्तिकावत पर धावा बोल दिया। वहाँ जाकर ज्ञात हुआ कि शाल्व अपने सौभ विमान के साथ समुद्र गया हुआ है। इन्हें लड़ना ही उसी से था। इन्होंने सीधा समुद्र का रास्ता लिया। इन्हें घाटा यह था कि वह विमान पर था और ये नीचे धरती पर। पहले तो इन्हें शस्त्र वहाँ तक पहुँचाने में कठिनाई

---

१. न स वृष्णिकुले जातो यो वै त्यजति संगरम्।
यो वा निपतितं हन्ति तवास्मीति च वादिनम्॥ १७,३२॥
तथा स्त्रियं च यो हन्ति बालं वृद्धं तथैव च।
विरथं विप्रकीर्णञ्च भग्नशस्त्रायुधं तथा॥ १४॥

१. व्यपायात् सबलस्तूर्णं प्रद्युम्नशरपीडितः॥ २६॥

हुई, परन्तु फिर इन्होंने इसका प्रबन्ध कर ही लिया। इस युद्ध में दोनों ओर से माया-युद्ध की प्रदर्शिनी थी। दिन को रात और रात को दिन कर दिया जाता। स्वच्छ वातावरण मेघाच्छन्न हो जाता। सब ओर कोहरा छा जाता। पास खड़ा मनुष्य दिखाई न देता। इस माया का निवारण प्रज्ञास्त्र से होता। उससे बादल छिन्न-भिन्न हो जाते।[१] एक बार किसी ने ऐसे ही कोहरे में अपने आपको द्वारकावासी बता कर श्रीकृष्ण को द्वारका-पति उग्रसेन का संदेश दिया कि शाल्व ने वसुदेव को मार दिया है, आप लौट आइए। ये कुछ समय तो अत्यन्त खिन्न रहे। इन्होंने सोचा, बलराम, प्रद्युम्न, सांब आदि के रहते तो वसुदेव का बाल बाँका हो न सकता था। संभव है, सभी मारे गये हों। यह सोचते सोचते ये कुछ समय के लिए अचेत हो गये और इन्हें स्वप्न सा दिखाई दिया कि वस्तुतः वसुदेव परलोक पहुँच गये और उनका शरीर किसी टूटे तारे की तरह नीचे गिर रहा है। इस दशा ने इन्हें और भी व्याकुल किया। परन्तु जब फिर सचेत हुए तो न वह द्वारकावासी था न वसुदेव का

---

१. ततो नाज्ञायत यदा दिवारात्रं तथा दिशः।
ततोऽहं मोहमापन्नः प्रज्ञास्त्रं समयोजयम् ॥ २०,४० ॥

यह प्रज्ञास्त्र या तो कोई अस्त्र ही था या बुद्धि के प्रयोग को प्रज्ञास्त्र चलाना कहते थे।

द्युलोक से गिरना।[1] समझ गये कि वह गुप्तचर शाल्व ही का होगा। दारुक ने समझाया, महाराज! शत्रु तो सभी अस्त्रों का प्रयोग कर रहा है, परन्तु आप हैं कि घातक शस्त्र नहीं चलाते। ऐसे शत्रु पर आग्नेय चक्र चलाना चाहिए। श्रीकृष्ण ने इस मन्त्रणा का औचित्य स्वीकार किया, और पहले ही वार में शाल्व का सौभ विमान तोड़ गिराया।[2] दूसरी बार स्वयं शाल्व पर शस्त्र फेंका। इस प्रकार शत्रु को उसके वायव्य दुर्ग-समेत नष्ट कर द्वारका लौटे।

हमने सौभनगर के युद्ध का महाभारतकार ही के शब्दों में वर्णन कर दिया है। युद्ध तो श्रीकृष्ण ने और भी किये थे। परन्तु विस्तृत वर्णन इसी एक युद्ध का पाया जाता है। भीष्म ने राजसूय में ही कहा था कि उपस्थित राजाओं में कोई ऐसा नहीं जिसे कृष्ण जीत न सके हों। दिग्विजय-प्रकरण से यह सिद्ध है कि युधिष्ठिर के साम्राज्य में भारत के सारे राष्ट्र सम्मिलित थे। फिर कई स्थानों पर यथा

---

१. ततो मुहूर्त्तात् प्रतिलभ्य संज्ञामहं तदा वीरमहाविमर्दे।
न तत्र सौभं न रिपुं च शाल्वं पश्यामि वृद्धं पितरं न चापि॥
२१,२६

२. आग्नेयमस्त्रं दयितं सर्वसाहं महाप्रभम्।
योजयं तत्र धनुषा दानवान्तकरं रणे॥ २२,२६॥
क्षुरान्तममलं चक्रं कालान्तकयमोपमम्।
अनुमन्त्रयाहमतुलं द्विषतां विनिबर्हणम्॥ ३१॥

द्रोणपर्व अध्याय १० में इन राज्यों को गणना भी की है, जिन्हें कृष्ण ने नीचा दिखाया था। इन विजयों का विस्तार नहीं दिया। प्रतीत यह होता है कि भिन्न भिन्न निमित्तों से, यथा रुक्मिणी के हरण में, भारत के प्रायः सभी राजा कृष्ण के बल का लोहा मान चुके थे।

———

पाण्डवों का प्रवास

जिन दिनों श्रीकृष्ण सौभनगर की लड़ाई में लगे हुए थे, इन्द्रप्रस्थ में उन्हीं दिनों कई महत्त्वपूर्ण घटनायें होगईं। श्रीकृष्ण की बुद्धि और पाण्डव भाइयों के बल-पराक्रम से जो साम्राज्य मगध से हट कर इन्द्रप्रस्थ में आ स्थापित हुआ था, उसे युधिष्ठिर ने एक जुए के दाव में हरा दिया। साम्राज्य की स्थापना के दिन ही, कृष्ण के अर्घ-ग्रहण के परिणाम-स्वरूप उसमें राजाओं के गुप्त वैर का घातक घुण लग गया था। साम्राज्य के नाश का वास्तविक कारण तो वही था परन्तु दैव की तरह राजनैतिक नाट्यशाला के सूत्रधारों को भी तो ज़ाहिर के ढिँढोरे के लिए कई लोगों की आँखों में धूल झोंक सकने को बहाना चाहिए, सो जुआ था।

दुर्योधन पाण्डवों का चचेरा भाई था। उसकी इनसे बचपन से ही लाग चली आती थी। धृतराष्ट्र के पुत्र जिन दिनों बाल-पाण्डवों के साथ खेला ही करते थे, तब भी भीम अपने बलाधिक्य के ज़ोर से उन्हें बहुधा तङ्ग किया करता

था।[१] वे वृक्ष पर चढ़ते तो यह भी उनके साथ चढ़ जाता और दोनों पाँवों से वृक्ष के तने को ऐसे ज़ोर से हिलाता कि उनके प्राणों पर आ बनती। एक बार दुर्योधन पाण्डवों और कौरवों सबको गंगा के किनारे जल-क्रीड़ा के लिए ले गया और उसने चुपके से भीम को विष दे दिया, जिससे इसे मूर्च्छा आ गई। इस दशा में उसने इसे गंगा में फेंक दिया। यह नागजाति के किसी पुरुष के हाथ लग गया जो इसे घर ले गया और उसने सेवा-चिकित्सा से इसे चंगा कर दिया। कुछ समय पीछे दुर्योधन ने पाण्डवों को लाख के बने घर में बसा दिया। वह उसे आग लगानेवाला ही था कि माता-सहित पाण्डव सुरंग के रास्ते वनों में निकल गये।

इस अज्ञात अवस्था से वे द्रौपदी के स्वयंवर में ही प्रकट हुए। स्वयंवर में कुछ घटनाये ऐसी हो गईं कि स्वयं कुन्ती के कानीन पुत्र कर्ण की जो कुन्ती का पुत्र होने से पाण्डवों का सहोदर ही था, अर्जुन से लग गई। अर्जुन ने स्वयंवर को

---

१. फलानि वृक्षमारुह्य विचिन्वन्ति च ते यदा।
तदा पादप्रहारेण भीमः कम्पयते द्रुमान्॥ आदि० १२८,२३
ततो बध्वा लतापाशैर्भीमं दुर्योधनः स्वयम्।
मृतकल्पं तदा वीरं स्थलाज्जलमपातयत्॥ ५४॥
एवमष्टौ सकुण्डानि ह्यपिबत् पाण्डुनन्दनः॥ ७१॥
ततस्तु शयने दिव्ये नागदत्ते महाभुजः।
अशेत भीमसेनस्तु यथासुखमरिन्दमः॥ ७२॥ आदि० १२८

जीत लिया और कर्ण को धनुष उठाने से पूर्व ही द्रौपदी ने दुत्कार दिया। वह इस अपमान के कारण द्रौपदी और अर्जुन दोनों का ही आजीवन वैरी हो गया। उसे एक सूत ने पाला था। इसलिए वह सूत-पुत्र कहलाता था। जिन दिनों पाण्डव, कौरव तथा कर्ण आदि द्रोण के पास शस्त्र-विद्या सीखते थे, तब भी एक दिन परीक्षा के अवसर पर अर्जुन ने कर्ण के सामने आने से यह कहकर इनकार किया था कि यह सूत है। यह क्षत्रिय-कुमार का जोड़ नहीं हो सकता। स्वयंवर की मान-हानि ने उस घाव को और भी गहरा कर दिया। दुर्योधन उस धनुर्वेद-साम्मुख्य में कर्ण के आड़े आया था। उसने उसे वहीं अङ्ग-देश का राजा[1] बना दिया था कि लीजिए अब तो ये अभिषिक्त राजा हैं, अब इनसे लड़िए। इससे कर्ण दुर्योधन का अनन्य मित्र बन गया था। ये दोनों पाण्डवों के नाम से जलते थे। इस मित्र-युगल में तीसरा शकुनि आ मिला था। वह गान्धार-राज सुबल का लड़का अर्थात् दुर्योधन का मामा था। उसका पाण्डवों के साथ राजसूय के समय से ही वैर हुआ था।

---

१. अभिषिक्तोऽङ्गराज्यस्य श्रिया युक्तो महाबलः।
सच्छत्रबालव्यजनो जयशब्दोत्तरेण च ॥ आदि० १३८,३८
उवाच कौरवं राजा वचनं सवृषस्तदा।
अस्य राज्यप्रदानस्य सदृशं किं ददामि ते ॥ ३९ ॥
अत्यन्तं सख्यमिच्छामीत्याह स्म स सुयोधनः ॥ ४० ॥

राजसूयोत्सव में दुर्योधन और शकुनि दोनों आये थे। दुर्योधन राजाओं के पुरस्कार ले रहा था। दूर दूर के राजाओं के बहुमूल्य उपहार देख कर तथा मय की रची अनुपम सभा और फिर उसमें इस शान का उत्सव होता अवलोकन कर उसके हृदय में वह पुरानो ईर्ष्या की आग कई गुणी होकर भड़क उठी। सभा का अवलोकन करते हुए एक दो दुर्घटनायें ऐसी हो गईं जिन्होंने आग पर घी का काम किया। एक जगह स्फटिक को चादर थी। दुर्योधन समझा—पानी है। कपड़े ऊपर उठा लिये। आगे गया तो समझा—स्फटिक है। वह वास्तव में वापी थी। उसमें गिर पड़ा और कपड़े भीग गये।[1] भीम ने यह दृश्य देखा तो खिलखिला कर हँसा। नौकर चाकर भी हँसे।[2] चिर-शत्रु की हँसी दुर्योधन को कालकूट प्रतीत होती थी। युधिष्ठिर ने कपड़े बदलवा दिये परन्तु इतने में ही धोखों का अन्त नहीं हो गया था। एक जगह दुर्योधन समझा—द्वार है। थी शीशे की दीवार। सिर फूट गया। आगे चले तो

---

१. स्फाटिकं जलमासाद्य जलमित्यभिशङ्कया।
स्ववस्त्रोत्कर्षणं राजा कृतवान् बुद्धिमोहितः॥ सभा० ४७,४
तथा स्फाटिकतोयां वै स्फटिकांबुजशोभिताम्।
वापीं मत्वा स्थलमिव सवासाः प्रापतज्जले॥ ६॥

२. जले निपतितं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः।
जहास जहसुश्चैव किङ्कराश्च सुयोधनम्॥ ७॥

एक बड़ा दरवाज़ा देखा। प्रतीत होता था, बन्द है। हाथों से उसे धकेलने लगे, वह खुला था। धम से नीचे गिर गये। इस पर ख़ूब उपहास हुआ। फिर एक और द्वार देखा। वहाँ से लौट आये। ये सब मय की वास्तु-विद्या के चमत्कार थे।[१]

शिशुपाल के वध की घटना दुर्योधन के हाथ में अन्य राजाओं को उकसाने का अच्छा बहाना हो गई। संभवतः वह उससे स्वयं भी आशंकित था। उसे डर था तो यह कि मैं अकेला हूँ परन्तु शकुनि ने उसे विश्वास दिलाया कि और भी कितने ही राजा उसके साथ हैं[२]।

यह संक्षिप्त वृत्तान्त हमने यहाँ इसलिए दिया है कि पाठक आनेवाले घटना-चक्र के मूल में काम कर रही, इस जीवनी के प्रमुख पात्रों के हृदयों की भावनाओं को समझ सकें।

---

१. द्वारं तु पिहिताकारं स्फाटिकं प्रेक्ष्य भूमिपः।
प्रविशन्नाहतो मूर्ध्नि व्याघूर्णित इव स्थितः॥
तादृशं चापरं द्वारं स्फाटिकोरुकपाटकम्॥ १२॥
विघट्टयन् कराभ्यान्तु निष्क्रम्याग्रे पपात ह।
द्वारं तु विततकारं समापेदे पुनश्च सः॥ १३
तद्वृत्तं चेति मन्वानो द्वारस्थानादुपारमत्॥ १४

२. शिशुपाल इवास्माकं गतिः स्यान्नात्र संशयः। सभा० ५०.२८
अशक्तश्चैक एवाहं तामाहर्तुं नृपश्रियम्।
सहायांश्च न पश्यामि तेन मृत्युं विचिन्तये॥ सभा० ४७,३५
यच्चासहायतां राजन्नुक्तवानसि भारत।
तन्मिथ्या भ्रातरो हीमे तव सर्वे वशानुगाः। सभा० ४८,१०

शकुनि युधिष्ठिर की इस दुर्बलता को जानता था कि यदि उसे द्यूत के लिए ललकारा जाय तो वह इनकार न करेगा। फिर शकुनि जुआरी पक्का था। दुर्योधन ने धृतराष्ट्र को उनके पितृ-सुलभ मोह के पाश में बाँध उनकी, इस द्यूत-साम्मुख्य के लिए, हाँ करा ली। विदुर ने जुए के प्रस्ताव का अत्यन्त विरोध किया। उन्होंने यहाँ तक भी कह दिया कि यदि दुर्योधन इस दुष्कर्म पर तुला है तो उसे राजपद से च्युत कर दिया जाय। अर्जुन को आज्ञा दीजिए कि इसे पकड़ ले जाय[१]। परन्तु राजा को परम दैवत माननेवाले नीतिज्ञ इस साधु की बात पर कहाँ ध्यान देने लगे थे।

युधिष्ठिर जुआ खेलने हस्तिनापुर दौड़े आये। सभा में बाह्लीक, शल्य, सोमदत्त, जयद्रथ आदि विद्रोही विद्यमान ही थे। शकुनि का छल काम कर गया। युधिष्ठिर ने एक दो दावों में सारा साम्राज्य, फिर क्रमशः चारों भाई, तत्-पश्चात् अपने आपको और अन्त में द्रौपदी तक को हार दिया।

अब क्या था, कर्ण की बन आई। यार लोगों में कनखियाँ होने लगीं। दुर्योधन ने आज्ञा दी कि द्रौपदी को सभा में लाया जाय। विदुर ने डाँटा परन्तु उसकी कौन सुनता था! दुःशासन गया और उसे एक-वस्त्रा दशा में

---

२. त्वन्नियुक्तः सव्यसाची निगृह्णातु सुयोधनम्। सभा० ६१,६.

ही सभा में घसीट लाया। सभा में मानों गुंडों की प्रधानता हो रही थी। किसी ने उसे दासी कहा, किसी ने वेश्या।[१] कर्ण ने उसे झट दूसरा पति चुनने का आदेश दिया। दुर्योधन ने अपनी रान से कपड़ा उठा लिया। कहा, यहाँ बैठ।[२] पाण्डवों को यह अपमान असह्य था। परन्तु अब तो वे दास थे। वे कर ही क्या सकते थे। भीम ने आवेश में आकर दो प्रतिज्ञायें कर डालीं। एक दुःशासन की छाती का ख़ून पीने की, दूसरी दुर्योधन की वह रान गदा से तोड़ देने की।[३] द्रौपदी ने सभा में ही एक समस्या खड़ी कर

---

१. द्यूते जिता चासि कृतासि दासी। सभा० ६६,३३
इयं त्वनेकवशगा बन्धकीति विनिश्चिता। सभा० ६७,३५

२. एवमुक्त्वा तु कौन्तेयमपोह्य वसनं स्वकम्।
स्मयन्निवेक्ष्य पाञ्चालीमैश्वर्यमदमोहितः॥ ७०-११

३. पितृभिः सह सालोक्यं मास्म गच्छेद् वृकोदरः
यद्येतमूरुं गदया न भिन्द्यां ते महाहवे॥ ७०,१५॥
अस्य पापस्य दुर्बुद्धेर्भारतापसदस्य च।
न पिबेयं बलाद् वक्षो भित्त्वा चेद्रुधिरं युधि॥ ६७,५४॥

इसी स्थल पर महाभारत में द्रौपदी के चीर खींचे जाने का वर्णन है। नंगा होने के भय से उसका करुण क्रन्दन अत्यन्त करुणाजनक है। अन्य सहायक न देखकर उसने अपने सखा कृष्ण को स्मरण किया। उन्होंने द्वारका से ही उसका वस्त्र बढ़ा दिया। वनवास को जाने से पूर्व उसकी श्रीकृष्ण से भेंट हुई। उस समय उसने उनसे साक्षात् अपनी करुण-कहानी कही। इस कहानी में एकवस्त्रा दशा में ही

दी। वह यह कि क्या अपने आपको हार चुका युधिष्ठिर और किसी को हारने का अधिकार रखता है? उत्तर किसी से नहीं बना। अन्त को धृतराष्ट्र को इस सारे वृत्त का पता लगा, तो उसे क्रोध आया। उसने द्रौपदी को बुला कर कहा, बेटी! तू मेरी बहुओं में बड़ी है। कोई वर माँग। द्रौपदी ने तुरन्त यह कृपा चाही कि युधिष्ठिर को दास-भाव से मुक्त कर दिया जाय जिससे उसका लड़का दास-पुत्र न कहलाये।[1] धृतराष्ट्र ने यह वर प्रदान कर कहा—और वर माँग। दूसरे वर में द्रौपदी ने चारों पाण्डव स्वतन्त्र करा लिये।[2]

सभा में लाये जाने का वर्णन तो है परन्तु न चीरहरण की शिकायत है न श्रीकृष्ण की सहायता का धन्यवाद। ऐसे ही महाभारत का युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व पृथा ने अपने दुखड़े श्रीकृष्ण के आगे रक्खे हैं। वहाँ भी द्रौपदी के एकवस्त्रा-दशा में सभा में ले जाये जाने की ही शिकायत है। चीर-हरण और श्रीकृष्ण की सहायता मानसिक घटना हो तो हो। कृष्णा 'विसंज्ञकल्पा' थी। उसे इस अवस्था में यह चित्र दीखे हों, यह संभव है। यह घटना वास्तविक प्रतीत नहीं होती।

१. ददासि चेद्वरं मह्यं वृणोमि भरतर्षभ।
सर्वधर्मानुगः श्रीमान्न दासोऽस्तु युधिष्ठिरः॥ २६॥
मनस्विनमजानन्तो मैवं ब्रूयुः कुमारकाः।
एष वै दासपुत्रो हि प्रतिविन्ध्यं ममात्मजम्॥ ३०॥
सभा० ७१,२६

२. एवं भवतु कल्याणि यथा त्वमभिभाषसे।
द्वितीयं ते वरं भद्रे ददामि वरयस्व ह॥ ३१॥

इस प्रकार जुए की सारी करामात धृतराष्ट्र ने चौपट कर दी। परन्तु पाण्डव इन्द्रप्रस्थ को जा ही रहे थे कि उन्हें फिर बुला लिया गया। दुर्योधन ने अपने पिता के पितृ-सुलभ मोह का फिर लाभ उठा इस बार उन्हें इस बात पर राज़ी कर लिया कि एक दफ़े फिर जुआ खेला जाये और जो हारे वह परिवार-सहित वनवास को जाये। युधिष्ठिर ने भी टाली हुई बला फिर अपने सिर ले ली। जुये का परिणाम इस बार भी वही हुआ। पाण्डवों को द्रौपदी-सहित १२ वर्ष वनवास और फिर एक वर्ष अज्ञातवास के लिए जाना पड़ा। शर्त यह कि यदि अज्ञातवास के दिनों में इनका पता लग जाये तो वनवास तथा अज्ञातवास फिर सिरे से

सरथौ सधनुष्कौ च भीमसेनधनञ्जयौ।
यमौ च वरये राजन्न दासान् स्ववशानहम्॥ ३२

पहले वर में केवल युधिष्ठिर को छुड़ाना और दूसरे में अन्य चार भाइयों को, और यह आपत्ति कि कहीं राजकुमार दास-पुत्र न कहलाये, केवल युधिष्ठिर ही के पुत्र के सम्बन्ध में उठाना एक अर्थ-गर्भित संकेत है। संभवतः द्रौपदी का विवाह युधिष्ठिर से ही हुआ हो। द्रौपदी से अन्य पाण्डवों की सन्तानों का वर्णन तो इससे पूर्व आ चुका है। राजसूय में अन्य कौरवों की तरह वे भी निमन्त्रित राजाओं की आवभगत कर रहे थे। सारे पाण्डवों से विवाह होने की अवस्था में केवल युधिष्ठिर के ही पुत्र के दास-पुत्र कहलाने की चिन्ता असंगत है। संभव है, और सन्तान हो ही न।

द्रौपदेयाः ससौभद्राः पार्वतीयान् महारथान्। सभा० ४९,५०

प्रारम्भ हो। उसमें फिर वही शर्त काम करे। दुर्योधन का विचार था कि बल-पराक्रम से जिन्हें नीचा दिखाना असंभव है, इस युक्ति से वे सदा के लिए परास्त रहेंगे। यह वनवास और अज्ञातवास का चक्र कभी समाप्त न होगा। आख़िर कहीं भी छिपे पाण्डव पृथिवी से तो परे न चले जायँगे।

पाण्डव इन शर्तों के साथ वनवास को जाने को ही थे कि और सम्बन्धियों के साथ साथ वृष्णि और अन्धक भी इन्हें मिलने आये। उनमें श्रीकृष्ण भी थे। द्रौपदी ने जो उनकी सखी थी[१] अपनी व्यथा की कथा अत्यन्त मर्म-भेदी शब्दों में उन्हें कह सुनाई। वह बहुत रोई, बहुत चिल्लाई। कृष्ण ने सान्त्वना देते हुए कहा—"मैं होता तो यह जुआ ही न होने देता। अब तो जो हुआ सो हुआ। किसी प्रकार ये तेरह वर्ष समाप्त हो जायँ, फिर इस साम्राज्य को पुनः स्थापना की व्यवस्था करेंगे।

---

१. वासुदेवस्य च सखी पार्थिवानां सभामियाम्। ६१,१०

महाभारत की तैयारी

बारह वर्ष तक पाण्डव द्रौपदी-सहित जंगलों की ख़ाक छानते रहे। जो राजपुत्र कुछ दिन पूर्व राजसूय उत्सव मना रहे थे, जिनके आगे समग्र भारतवर्ष के राजा बहुमूल्य उपहार लिये आदेश की प्रार्थना कर रहे थे, आज उन्हें सिर छिपाने को स्थान न मिलता था। कष्टों में, आपत्तियों में, ये दिन किसी न किसी प्रकार व्यतीत हो गये। अधिक कठिन तो तेरहवें वर्ष का अज्ञातवास था। आख़िर ऐसी कौन सी जगह थी जहाँ ये आत्मीयों से भी छिपे रहते। भारतवर्ष का सम्राट् भारतवर्ष में ही अज्ञात रहे और वह भी एक पूरा वर्ष—कुछ कठिन सी बात थी। परन्तु प्रण फिर प्रण है। छहों जनों ने वेष बदला और विराट नगर (जयपुर) में जा बसे। युधिष्ठिर ने अपने आपको युधिष्ठिर के यहाँ का राज-जुआरी प्रकट किया। भीम ने कहा—मैं युधिष्ठिर के यहाँ भोजन-भंडार का अधिकारी था। अर्जुन ने षण्ड का रूप बना लिया और कहा कि मैं राजाओं के अन्तःपुर में नृत्य, गीत आदि की शिक्षा दे सकता हूँ। सहदेव गोपाल बन गया। उसने कहा—मेरी देख-रेख में गायें ख़ूब बढ़ती हैं और रोगी नहीं होतीं। नकुल ने घोड़ों की विद्या में चतुरता दिखाई। द्रौपदी सैरिंध्री बन गई। ये सारे काम वे इन्द्रप्रस्थ में करते

ही रहे थे। इस प्रकार पांचों पाण्डव तथा द्रौपदी विराट राजा के यहाँ नौकर हो गये। उन्होंने नाम आदि भी बदल लिये। युधिष्ठिर का नाम हुआ कंक, भीम का नाम वल्लभ, अर्जुन का बृहन्नला, नकुल का ग्रन्थिक, सहदेव का तन्त्रिपाल।

जब अज्ञातवास का वर्ष बीत गया तो उन्होंने अपना असली पता मत्स्य-राज को बताया। उसने उचित मान कर अपनी पूर्व—अज्ञात-काल की—धृष्टताओं की क्षमा चाही। अर्जुन विराट-कन्या उत्तरा को एकान्त में गीतादि की शिक्षा देता रहा था। वह युवती हो चुकी थी। विराट ने प्रस्ताव किया कि अर्जुन उसके साथ विवाह कर ले। अर्जुन ने स्वयं विवाह न किया परन्तु अपने लड़के अभिमन्यु के साथ उसका विवाह करना स्वीकार कर लिया। जो पहले शिष्या रूप में उसकी पुत्री थी, अब स्नुषा रूप में भी पुत्री ही बनी रही। विराट ने अपनी मानमर्यादा रख ली, अर्जुन ने अपनी। दोनों के व्यवहार में सूक्ष्म परन्तु विमल आर्य-शील काम कर रहा था। उत्तरा को तो इस प्रकरण में 'वयःस्था' कहा ही है।[१] अभिमन्यु की आयु का अनुमान इससे किया जा सकता है कि राजसूय की समाप्ति पर वह आये हुए राजाओं को विदा करने के

---

१. वयःस्थया तथा राजन् सह संवत्सरोषितः।
अतिशङ्का भवेत् स्थाने तव लोकस्य वा विभो॥ विराट० ७,२४
आचार्यवच्च मां नित्यं मन्यते दुहिता तव॥ ७,२३

काम पर नियुक्त था[१], और अब उस राजसूय को तेरह वर्ष से ऊपर हो चुके थे। तेरह वर्ष तो वनवास तथा अज्ञातवास ही रहा था। इसके अतिरिक्त कुछ अन्तर राजसूय और द्यूत के बीच में भी रहा होगा। विवाह के कुछ समय पीछे युद्ध आता है और उसमें अभिमन्यु मारा जाता है[२]। वहाँ इसे "अप्राप्त-यौवन" कहा है। इस हिसाब से राजसूय के समय इसकी आयु दो या अधिक से अधिक अढ़ाई वर्ष माननी चाहिए। इतना अल्पवयस्क बालक राजाओं को विदा नहीं कर सकता। यदि यह उस समय १६-१७ वर्ष का भी हो तो भी विवाह-काल में इसे ३० वर्ष का तो मानना ही चाहिए। युद्ध में जो चमत्कार-पूर्ण कौशल इसने दिखाया, उसके लिए यह आयु कुछ नहीं। फिर उसी युद्ध में भीष्म भी लड़े थे जो इसके दादा पाण्डु के चाचा अर्थात् इसके परदादा थे। इसलिए यदि उस समय इसे बाल-योद्धा समझा जाये तो अत्युक्ति नहीं। उलटा "अप्राप्त यौवन" कहना कवि का भ्रम या अतिशयोक्ति है। संभवतः महाभारत में यह उस समय का प्रक्षेप है जब ३० वर्ष का मनुष्य बालक नहीं समझा जा सकता था।

---

१. द्रौपदेयाः ससौभद्राः पार्वतीयान् महारथान्
अन्वगच्छंस्तथैवान्यान् क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभाः ॥ सभा० ४९,५०

२. पुत्रं पुरुषसिंहस्य सज्जया प्राप्तयौवनम्।
रणे विनिहितं श्रुत्वा भृशं मे दीर्यते मनः ॥ द्रोणपर्व ३३,२२

विवाह के अवसर पर पाञ्चालराज द्रुपद अपने पुत्रों सहित पधारे। वृष्णियों की ओर से श्रीकृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न, शाम्ब, सात्यकि आदि सम्मिलित हुए। विवाह हो चुकने के एक दिन पीछे विराट की सभा में ये सब वीर इकट्ठे हुए। पहले तो और कथा-वार्ता होती रही। अन्त में श्रीकृष्ण ने सब उपस्थित महानुभावों का ध्यान पाण्डवों की वर्तमान अवस्था की ओर खींचा। उन्होंने कहा कि पाण्डवों का पैतृक तथा अपने बाहुबल से जीता हुआ राज्य जुये में कौरवों ने जीत लिया है। द्यूत-समय के प्रण के अनुसार इन्होंने बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास का घोर कष्ट भी भोग लिया है। अब इन्हें इनका राज्य वापस मिलना चाहिए। हम सब इनके सम्बन्धी हैं। हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे इनका भी इष्ट सिद्ध हो जाये और दुर्योधन का भी हित हो।[1] युद्ध तो ये कर ही सकते हैं और यदि अपनी वर्तमान अवस्था में निर्बल हों तो भी मित्रों की सहायता से ये यत्न तो करेंगे ही। परन्तु यदि शान्ति से ही सभी काम हो जायँ तो ख़ून-ख़राबे की

---

१. एवं गते धर्मसुतस्य राज्ञो दुर्योधनस्यापि च यद्धितं स्यात् ॥ १३॥
तच्चिन्तयध्वं कुरुपाण्डवानां धर्म्यं च युक्तञ्च यशस्करञ्च ॥ १४॥
उद्योग पर्व १

संबन्धिताञ्चापि समीक्ष्य तेषां मतिं कुरुध्वं सहिताः पृथक् च।

आवश्यकता नहीं। दुर्योधन के पास दूत भेज कर प्रयत्न करना चाहिए कि भाई भाई आपस में बिना मन-मुटाव के वही करें जो धर्म है।

दुर्योधन बलराम का प्यारा शिष्य था। कृष्ण के बाद बलराम ने वक्तृता की। उन्होंने दूत भेजने के प्रस्ताव का समर्थन किया, परन्तु दोष युधिष्ठिर को दिया कि इसने शकुनि से जुआ खेला ही क्यों ? अब इसे अनुनय-विनय से ही काम लेना चाहिए।

इस पर सात्यकि को जो अभी नवयुवक था और अर्जुन का धनुर्विद्या में शिष्य था, जोश आगया। उसने कहा, युधिष्ठिर दोषी उस समय होते यदि ये किसी को अपने यहाँ जुये के लिए बुलाते। बुलाया ही शकुनि ने और फिर उसने छल किया। हम क्षत्रिय हैं। क्षत्रिय का हथियार है युद्ध। दुर्योधन को युद्ध के लिए ललकार कर युधिष्ठिर के पाँवों में ला डालना मेरा काम रहा।

बूढ़े द्रुपद ने भी इस सम्मति को पसन्द किया। उसने कहा:—"दुर्योधन मीठी मीठी बातों से न मानेगा। वह तो लातों का भूत है। बातों का उस पर क्या असर ? धृतराष्ट्र उसी के पीछे चलेगा। भीष्म और द्रोण कृपण हैं, और कर्ण और शकुनि मूर्ख हैं। होना युद्ध ही है। इसलिए तैयारी तो युद्ध की ही करनी चाहिए। सभी राजाओं के पास दूत जायँ और उन्हें सहायता की प्रेरणा करें।

दुर्योधन के पास मैं अपने पुरोहित को भेज दूँगा। वह सयाना है, समझा देखेगा।"

इस मत-विमत-प्रदर्शन के पीछे श्रीकृष्ण ने फिर भाषण किया। उन्होंने अपने भाई बलराम की रुचि को दृष्टि में रख कर कहा—"भाई! हमारे तो दोनों पक्ष सम्बन्धी हैं—आत्मीय हैं। हम चाहते हैं--भाइयों भाइयों में मुफ्त का ख़ून-ख़राबा न हो। इसलिए दूत तो भेजिए। इस काम के लिए पाञ्चालों के पुरोहित ठीक हैं। द्रुपद वृद्ध हैं। हम सबके ये गुरु-समान हैं। द्रोण और कृप के ये सखा भी हैं। इनके बीच में पड़ने से संभव है, शान्ति से निपटारा हो जाय। अन्यथा ये सयाने हैं। लड़ाई का सामान भी करते ही रहना चाहिए। हम अपने लिए इतना ही कहते हैं कि और सबको निमन्त्रण देकर हमें सबसे पीछे बुलाइए। इतना और भी कह दूँ कि यदि युद्ध हुआ तो विजय अर्जुन की होगी।"[1]

इस भाषण में श्रीकृष्ण ने जहाँ भाई के विचारों का आदर किया, वहाँ अपनी स्थिति भी अच्छी तरह स्पष्ट कर

---

१. किन्तु सम्बन्धकं तुल्यमस्माकं कुरुपाण्डुषु ॥ उद्योग० ४,२
यदि तावच्छमं कुर्यात् न्यायेन कुरुपुङ्गवः।
न भवेत् कुरुपाण्डूनां सौभ्रात्रेण महान् क्षयः ॥ ८ ॥
अथ दर्पान्वितो मोहान्न कुर्याद्धृतराष्ट्रजः।
अन्येषां प्रेषयित्वा च पश्चादस्मान् समाह्वयेः ॥ ९ ॥
निष्ठामापत्स्यते मूढः क्रुद्धे गाण्डीवधन्वनि। १०

दी। युद्ध होना है, इसका अनुमान कर पूर्ण उद्योग की मन्त्रणा भी दे दी। परन्तु यदि युद्ध के बिना काम चल जाये तो उसका रास्ता भी खुला रखा। उपप्लव (बिराट नगर) में दुर्योधन के गुप्तचर भी आये थे।[१] उनके ज्ञानार्थ यह भी बता दिया कि कृष्ण की सम्मति में विजय अर्जुन ही की होनी है। कृष्ण उस समय के सर्वोपरि नीतिज्ञ थे। इसलिए इस सम्मति का मूल्य बड़ा था। शान्ति-पूर्वक झगड़ा निपटवा देने में यह सम्मति भी साधन हो सकती थी।

अर्जुन और कृष्ण की जिस मित्रता का प्रारम्भ द्रौपदी के स्वयंवर से हुआ था, वह उत्तरा के विवाह में अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गई। कृष्ण अर्जुन को देखते ही उसकी अतुलनीय वीरता पर मुग्ध हो गये थे। सुभद्रा का विवाह अर्जुन से कर अपने उनके सम्बन्ध को और भी घनिष्ठ कर लिया था। अभिमन्यु की शिक्षा, खाण्डव-दाह में सहकारिता तथा जरासन्ध के वध ने इन दो वीरों को मानों दो तन एक प्राण कर दिया था। बारह वर्षों के वनवास तथा एक वर्ष के अज्ञातवास से अर्जुन जो पहले सोना था अब कुन्दन हो गया। अब इस वीर-युगल की आपस में प्रतिज्ञायें भी हो गईं। कृष्ण ने कहा:—मित्र !

---

१. सर्वमागमयामास पाण्डवानां विचेष्टितम्।
धृतराष्ट्रात्मजो राजा गूढैः प्रणिहितैश्चरैः ॥ उद्योग० ६,४

तेरे लिए इस शरीर की बोटी बोटी हाज़िर है। अर्जुन ने कहा:—बन्धो ! ये प्राण और किसके हैं ? आज्ञा कीजिए और ले लीजिए।[१]

अभिमन्यु के विवाह ने सम्बन्धों की लड़ी को और भी लम्बा कर दिया। श्रीकृष्ण को उस समय क्या पता था कि जिस साम्राज्य को वे अपने कुल में अपने बन्धुओं की स्वच्छन्दता के कारण स्थापना नहीं कर सकते, सुभद्रा की संतान-द्वारा वृष्णियों का भी स्वतः उसमें भाग हो जायगा। दैव अपना मार्ग बना रहा था। कृष्ण उसका साथ दे रहे थे, या कृष्ण संभवतः दैव को ही अपने पीछे लगाये चले जाते थे।

अर्जुन इनका शिष्य भी था। गुरु अपने शिष्य में फलीभूत हो रहा था। कृष्ण की भावुकता ने ये सारे संबन्ध एक साथ निबाह दिये। इन सबका योग हुआ आत्मीयता।

——

१. श्री कृष्ण युद्ध में ही युधिष्ठिर से कहते हैं—

तव भ्राता मम सखा सम्बन्धी शिष्य एव च।
मांसान्युत्कृत्य दास्यामि फाल्गुनाय महीपते ॥ ३३॥
एष चापि नरव्याघ्रो मत्कृते जीवितं त्यजेत्।
एष नः समयस्तात तारयेम परस्परम् ॥ ३४॥
स मां नियुङ्क्ष्व राजेन्द्र यथा योद्धा भवाम्यहम्।
प्रतिज्ञातमुपप्लव्ये यत्तत् पार्थेन पूर्वतः ॥ ३५ ॥

भीष्मपर्व १०८

श्रीकृष्ण की बसीठी* (दूतकर्म)

पाञ्चाल-पुरोहित पाण्डवों का संदेश कौरवों के पास ले गये परन्तु वहाँ आपत्ति यह उठाई गई कि प्रतिज्ञा में राज्य का लौटाना न था।[1] भीष्म की सम्मति थी कि लड़ाई न हो, परन्तु कर्ण आदि बिना लड़े मानते ही न थे। अन्त को धृतराष्ट्र ने संजय को दूत बना कर पाण्डवों के पास भेजा। संजय ने बार बार युधिष्ठिर को वैराग्य-धर्म का उपदेश किया कि "यदि तुम्हारी जय भी हो जाय तो इससे लाभ क्या होगा ? कुल का क्षय मुफ़्त में हो जायगा। इस विनाशी संसार में" स्थिर पदार्थ तो कोई है नहीं। फिर किसलिए लड़ना ? युधिष्ठिर ने कहा—"हम अपना अधिकार ही तो माँगते हैं। यदि शान्ति से मिल जाय तो युद्ध की आवश्यकता नहीं।" अन्त में श्रीकृष्ण

---

*बसीठो व्रजभाषा का शब्द है। खड़ी बोली का नहीं। दूत का ताद्धित रूप है दौत्य या दूतता। ये सुनने में सुन्दर नहीं। ताद्धित का अभिप्राय दो चीज़ों का द्योतन करना है, एक दूत की अवस्था का दूसरे उसके कर्म का। कर्म का द्योतन 'दूत-कर्म' इन समस्त शब्दों से हो जाता है परन्तु अवस्था का नहीं होता। अतः 'बसीठी' शब्द का प्रयोग कर लिया है। जिन्हें यह शब्द अखरे, वे इसके स्थान में 'दूत-कर्म' पढ़ लें।

१. न तं समयमादृत्य राज्यमिच्छन्ति पैतृकम्।
बलमाश्रित्य मत्स्यानां पाञ्चालानाञ्च मूर्खवत्॥ उद्योग० २०,१०.

ने उसे वैराग्य के उपदेश का उत्तर दिया। इन्होंने कहा—"धर्म प्रत्येक वर्ण और आश्रम का अपना अपना है। क्षत्रिय को अपना अधिकार नहीं छोड़ना चाहिए। यह वैराग्य-धर्म उस समय कहाँ गया था, जब शकुनि ने छल से युधिष्ठिर का राज्य छीना था? उस समय वैराग्य कहाँ गया था जब द्रौपदी का भरी सभा में अपमान हुआ था? विदुर के सिवाय उस समय किसी के मुँह में ज़बान भी थी? द्रौपदी ही की बुद्धि ने उस समय पाण्डवों को मृत्यु के मुख से बचा लिया।[1] नहीं तो सारे कुल का बण्टाढार हो ही चुका था। अस्तु, अब मैं स्वयं वहाँ जाऊँगा और दुर्योधन को समझाऊँगा। यदि समझ गया तो मुझे भी पुण्य होगा और कौरव भी मृत्यु-पाश से बच जायँगे।[2] नहीं तो फिर भीम की गदा और अर्जुन के तीर अपने आप निपटारा करा लेंगे। हमारी दृष्टि में पाण्डव और कौरव एक ही महाद्रुम की शाखायें हैं। उन्हें इकट्ठा फलना फूलना चाहिए। यह न हो सके तो जो हो सके वही कीजिए। पाण्डव सन्धि के लिए भी तैयार हैं, विग्रह के लिए भी।"

---

१. कृष्णा त्वेतत् कर्म चकार शुद्धं सुदुष्करं तत्र सभां समेत्य ॥ ४१ ॥
येन कृच्छ्रात् पाण्डवानुज्जहार तथात्मानं नौरिव सागरौ-घात् ॥ ४२ ॥

२. अहापयित्वा यदि पाण्डवार्थं समं कुरूणामपि यच्छकेयम् ।
पुण्यं च मे स्याच्चरितं महोदयं मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात् ॥
उद्योग० २८,४८

संजय लौटने लगा तो युधिष्ठिर ने हस्तिनापुर में रहनेवाले सभी सम्बन्धियों के लिए यथायोग्य सत्कार तथा प्यार के संदेश दिये। संजय ने धृतराष्ट्र को यह सब वृत्तान्त कह सुनाया।

इधर श्रीकृष्ण भी हस्तिनापुर जाने की तैयारी करने लगे। पाण्डव स्वयं तो इनके जाने की आवश्यकता ही नहीं समझते थे, परन्तु फिर इनकी सम्मति के आगे सिर भी झुका देते थे। इन्होंने उन्हें समझाया—"भाई! देखो संसार में घटनाओं के दो आधार हैं—एक पुरुषार्थ, दूसरा दैव[1]। मैं पुरुषार्थ तो कर सकता हूँ, दैव मेरे अधीन नहीं। फल क्या होगा, क्या न होगा? यह मैं नहीं जानता। मुझे तो इतना ही ज्ञान है कि मुझे शक्ति भर प्रयत्न कर लेना चाहिए। और यदि दुर्योधन नहीं माना तो भी मैं उसकी करतूत वहाँ एकत्र हुए राजाओं के आगे प्रकट कर आऊँगा।[2] इससे भी युधिष्ठिर का कार्य सधेगा।" श्रीकृष्ण को लोकमत पर बड़ा विश्वास था। वे लोक-मत को अपने साथ रखने का कोई अवसर जाने न देते थे। शत्रु यदि अपने आपको अधर्म पर समझता हो तो उसका हृदय अन्दर से खोखला हो जाता है। तब उसके वैर

---

१. दैवं च मानुषं चैव संयुक्तं लोककारणम्।
अहं हि तत् करिष्यामि परं पुरुषकारतः॥ उद्योग० ७८,५
दैवं तु न मया शक्यं कर्म कर्तुं कथञ्चन। ६

२. विभाव्यं तस्य भूयश्च कर्म पापं दुरात्मनः॥ ७८,२१

में जान नहीं रहती। और फिर मित्रों तथा तटस्थों का अनुकूल मत तो एक अलौकिक सहायक शक्ति है ही। लड़ने चलो और लोगों के हृदय तुम्हारे साथ हों तो फिर इस लड़ाई के क्या कहने? तुम्हारा अपना बल ही शत-गुण बढ़ जायेगा।

पाण्डवों के वाद-विवाद को शान्त कर एक दिन श्रीकृष्ण हस्तिनापुर को चल पड़े। रास्ते में सायंकाल होगया। श्रीकृष्ण ने रथ से उतर कर सन्ध्या की।[1] रात वहीं रास्ते में काट दी। दूसरे दिन हस्तिनापुर पहुँचे। बड़े ठाठ-बाट से इनका स्वागत हुआ। राजा धृतराष्ट्र से मिलकर ये अपनी फूफी पृथा के पास गये। वह बेचारी १३ वर्ष से अपने पुत्रों से बिछुड़ी विदुर के यहाँ मुसीबत के दिन काट रही थी। कृष्ण को गले लगा लगा कर रोई। उसने कहा—"मेरा तो सारा जीवन ही एक दीर्घ आपत्ति है। बचपन में गेंद खेलती को पिताजी ने कुन्तिभोज के समर्पण कर दिया। कुन्तिभोज ने कौरवों के अर्पण किया। पहले पतिदेव के साथ वनवास में रही, फिर पुत्रों के साथ लाक्षागृह से निकल जङ्गलों की धूल छानी। इन्द्रप्रस्थ में कुछ आराम मिला था कि फिर पुत्रों से वियुक्त होगई। पाण्डवों ने पिता का वियोग तो देखा ही था पर माता से कभी अलग न हुए थे। अब पूरे १३ वर्ष मुझसे भी जुदा रहे हैं। क्या जाने, कैसे हैं? फूलों की सेज पर सोनेवाली

---

१. अवतीर्य रथात् तूर्णं कृत्वा शौचं यथाविधि।
रथमोचनमादिश्य संध्यामुपविवेश ह॥ उद्योग० ३,२१

द्रौपदी की जाने बीहड़ जंगलों में कैसी बीती ? अर्जुन की वीरता का भरोसा है। आशा करती हूँ, दिन पलटेंगे। आप उन सबका कुशल-समाचार सुनाइए।"

कृष्ण ने पाण्डवों के कुशल-पूर्वक होने का सुसमाचार दिया। उनके विमल चरित्र की प्रशंसा की। कहा—वे भट्टी में पड़ कर कुन्दन हो गये हैं। फूफी को ऐसे वीरों की माता होने पर बधाई दी और आश्वासन दिया कि विजय उन्हीं की होगी। इसके पश्चात् कृष्ण दुर्योधन के यहाँ गये। उसके यहाँ भी मधुपर्क स्वीकार किया। तब वह और खाने पीने का प्रबन्ध करने लगा। इन्होंने खाने से इनकार कर दिया। उसने कारण पूछा, तो कहा—"भोजन खिलाने में दो भाव काम करते हैं—एक दया, दूसरी प्रीति। दया दीन को दिखाई जाती है। सो दीन तो हम हैं नहीं। रही प्रीति, वह आपमें नहीं। हमारा कार्य सिद्ध होगया तो भोजन भी कर लेंगे। आप अपने ही भाइयों से वृथा द्वेष करते हैं। हमें क्या खिलाइएगा ? उनका धार्मिक पक्ष है, आपका अधार्मिक।[1] सो जो उनसे द्वेष करता है, वह हमसे भी। हम वे एक हैं।"

---

१. संप्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।
न च संप्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥ उद्योग० ९०.२५
अकस्मात् द्वेष्टि वै राजन् जन्मप्रभृति पाण्डवान्।
प्रियानुवर्तिनो भ्रातृन् सर्वैः समुदितान् गुणैः॥ २६

ये खरी खरी बातें दुर्योधन को सुना, कृष्ण ने रात का आवास विदुर के यहाँ किया। विदुर इससे पूर्व युद्ध के टालने का प्रयत्न बहुत बार कर चुका था। उसकी किसी ने न सुनी थी। वह कृष्ण का भक्त था। उसने कहा—"आप वृथा आये हैं। ख़ामख़ाह अपनी अप्रतिष्ठा करायेंगे। यहाँ तो राजमद के कारण भली बात भी बुरी हो जाती है। भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण, अश्वत्थामा, जयद्रथ—इतने वीर जिसकी ओर से लड़नेवाले हों, जो भारत भर की सेनायें अपनी सहायता के लिए प्राप्त कर चुका हो, फिर हो मूढ़, स्वेच्छाचारी और लोभी, वह धर्म की बात काहे को सुनने लगा? दुष्टों की सभा में आप जैसे नरश्रेष्ठ का जाना अप्रतिष्ठा ही का कारण होगा।"

श्रीकृष्ण गंभीर होकर बोले—"दुर्योधन[1] की दुष्टता का मुझे ज्ञान है। परन्तु सारी पृथिवी ख़ून से लथड़ती देख रहा नहीं जाता। कितना ख़ून होने को है। कैसी भयानक

यस्तान् द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्ताननु स मामनु।
ऐकात्म्यं मां गतं विद्धि पाण्डवैर्धर्मचारिभिः॥ २८॥

१. सेयमापन्महाघोरा कुरुष्वेव समुत्थिता।
कर्णदुर्योधनकृता सर्वे ह्येते तदन्वयाः॥ ९॥
व्यसने क्लिश्यमानं हि यो मित्रं नाभिपद्यते।
अनुनीय यथाशक्ति तं नृशंसं विदुर्बुधाः॥ १०॥
आकेशग्रहणात् मित्रमकार्यात् सन्निवर्तयन्।
अवाच्यः कश्चिद् भवति कृतयत्नो यथाबलम्॥ ११॥

आपत्ति संसार पर आयेगी, यह सोच विवश हो गया हूँ। ऐसे समय जो मनुष्य इन करोड़ों लड़ैतों को मृत्यु के मुख से खींच ले, वह अत्यन्त पुण्य का भागी होगा। यह भीड़ दुर्योधन और कर्ण की लाई हुई है। इन्हें समझाऊँगा। लाख वैरी हों, आखिर अपने हैं। जो मित्र को किसी व्यसन का शिकार होता देख बचाता नहीं, वह क्रूर है। आपत्ति में पड़ते आत्मीय को केशों से पकड़ कर भी खींचने का यत्न करे, तब मनुष्य निन्दा का पात्र नहीं होता। मैं तो कौरवों के भी हित की कहूँगा, पाण्डवों के भी भले की। यदि दुर्योधन को फिर भी शंका बनी रहे तो बनी रहे। मेरा अपना हृदय संतुष्ट होगा। मेरे सिर से कर्तव्य का भार उतर जायेगा। फिर कोई यह न कह सकेगा कि कृष्ण ने दो बांधवदलों को लड़ते देखा और उन्हें छुड़ा न दिया। वह चाहता तो छुड़ा सकता था। मैं चाहता हूँ शान्ति हो जाय। पाण्डवों के अधिकार का लोप न कर और सब उपाय उसके लिए करूँगा।

न मां ब्रूयुरधर्मिष्ठो मूढा ह्यसुहृदस्तथा।
शक्तो नावारयत् कृष्णः संरब्धान् कुरुपाण्डवान् ॥ १६॥
अहापयन् पाण्डवार्थं यथावच्छमं कुरूणां यदिवाचरेयम्।
पुण्यं च मे स्याचरितं महात्मन् मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात् ॥ १६ ॥ उद्योग० ६२

प्रातःकाल संध्या-हवन से निवृत्त हो[1] श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र की सभा में जा विराजे। देश-विदेश के राजा तो वहाँ आये ही हुए थे। आज इस सभा में यह निर्णय होना था कि भारत-संतान एक दूसरे का वध कर पृथिवी को अनाथ बनायेगी या भाइयों भाइयों में शान्ति-पूर्वक सन्धि हो देश तथा जाति की समृद्धि होगी? इस पुण्य अवसर पर ऋषि, महर्षि सब कौरव-सभा में एकत्र हुए। आकाश से मानों देवता भी कृष्ण के दूतकर्म का परिणाम सुनने को उत्सुक थे। कृष्ण की वक्तृता प्रारम्भ होने से पूर्व ही सभा में सन्नाटा छा गया।[2] कृष्ण ने धृतराष्ट्र को सम्बोधित कर कहा:—

'इस समय भारतवर्ष में आपका कुल श्रेष्ठ है। इसमें विद्या है, शील है, दयालुता है, सरलता है, सत्य है। वृद्ध होने से इस कुल के आधार आप हैं। परन्तु आपकी सन्तान बिगड़ रही है। उन्होंने धर्म अर्थ दोनों छोड़ रक्खे हैं। मर्यादा में न रह कर वे अपने भाइयों से ही क्रूरता का व्यवहार

---

१. कृतोदकानुजप्यः स हुताग्निः समलङ्कृतः।
ततश्चादित्यमुद्यन्तं उपातिष्ठत माधवः॥ उद्योग० ९३,६॥

२. ततस्तूष्णीं सर्वमासीत् गोविन्दं गतमासनम्।
न तत्र कश्चित् किञ्चिद्वा व्याजहार पुमान् क्वचित्॥ उद्योग० ९३,५४॥

कर रहे हैं। इसका परिणाम वह घोर आपत्ति है जो इस कुल पर आनेवाली है। यदि इसका प्रतिबन्ध न हुआ तो संसार का क्षय हो जायगा। आप चाहें तो इसे रोक सकते हैं। इस समय भारत का भाग्य एक आपके अधीन है, दूसरे मेरे। आप कौरवों को रोकिए, मैं पाण्डवों को रोक दूँगा। यदि आज आप पाण्डवों को अपने पक्ष में कर लें तो संसार में आपको जीतनेवाला कोई न रहेगा। पाण्डव बड़ी शक्ति हैं और वह शक्ति आपकी हो सकती है। और जो युद्ध हो ही गया तो राजा सभी देशों के आये ही हुए हैं। वे लड़ेंगे और सारी प्रजाओं का नाश करा देंगे। महाराज! इन निरपराध प्रजाओं का वास्ता! इन्हें बचाइए। विमल आचार

ते पुत्रास्तव कौरव्य दुर्योधनपुरोगमाः।
धर्मार्थौ पृष्ठतः कृत्वा प्रचरन्ति नृशंसवत् ॥ ६४.६ ॥
सेयमापन्महाघोरा कुरुष्वेव समुत्थिता।
उपेक्ष्यमाणा कौरव्य पृथिवीं घातयिष्यति ॥ ११
त्वय्यधीन: शमो राजन् मयि चैव विशांपते।
पुत्रान् स्थापय कौरव्य स्थापयिष्याम्यहं परान् ॥ ६३, १३ ॥
समवेताः पृथिव्या हि राजानो राजसत्तम।
अमर्शवशमापन्ना नाशयेयुरिमाः प्रजाः ॥३२॥
शुक्ला वदान्या ह्रीमन्त आर्याः पुण्याभिजातयः।
अन्योन्यसचिवा राजन् तान् पाहि महतो भयात् ॥ ३४ ॥
शिवेनेमे भूमिपालाः समागम्य परस्परम्।
सह भुक्त्वा च पीत्वा च प्रतियान्तु यथागृहम् ॥ ३५ ॥

के निष्कलङ्क आर्य लोग आपस में लड़ लड़ कर मर जायँगे! इन्हें बचाइए। कौरवों-पाण्डवों में सन्धि हो जाय तो सभी राजा लोग इकट्ठे खा-पी तथा मङ्गल मनाकर अपनी अपनी राजधानियों को लौट जायँ। पाण्डव तो बचपन से ही आपके पास पले हैं। वही वात्सल्य-दृष्टि उनमें फिर से रखिए। पांडवों ने आपको अभिवादन कर यह कहा है—"हमने द्यूत की शर्त पूरी कर दी। बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास का घोर व्रत पूरा कर दिया। अब आपको अपना कर्तव्य पूरा करना चाहिए। हमारी आपमें पितृ-बुद्धि है। आप हममें पुत्र-बुद्धि रखिए।" आपकी सभा में कई वृद्ध आप्त पुरुष विद्यमान हैं। उनके रहते यहाँ सत्य का लोप नहीं हो सकता। यदि मेरा विचार धर्म और अर्थ का विरोधी नहीं तो आप इसका अनुसरण कीजिए। युधिष्ठिर के धैर्य को देखिए कि प्राप्त किये साम्राज्य को, एक बार स्वीकार किये नियम की ख़ातिर झट त्याग दिया। द्रौपदी के अपमान को सह गया। आप अब उससे वह व्यवहार कीजिए जो क्षत्रियों की आन के अनुकूल हो। मृत्यु के मुख में दौड़ी जा रही प्रजा की रक्षा आपके हाथ में है।

श्रीकृष्ण की वक्तृता का उत्तर किसी को क्या देना था[1]? इसमें कुल के नाम से भी अपील थी। धृतराष्ट्र के

---

१. तस्मिन्नभिहिते वाक्ये केशवेन महात्मना।
स्तिमिता हृष्टरोमाण आसन् सर्वे सभासदः॥ १॥

पितृ-भाव से भी अभ्यर्थना थी। लोकक्षय का चित्र भी खींच दिया गया था। सन्धि से धर्म के साथ स्वार्थ की सिद्धि भी दर्शा दी गई थी। हलके शब्दों में कौरवों के छल तथा द्रौपदी के सभा में लाये जाने की अश्लील अशिष्टता की ओर भी संकेत कर दिया गया था। दूसरे शब्दों में श्रीकृष्ण ने अनुनय भी की, प्रलोभन भी दिखाया, लजाया भी। धृतराष्ट्र पर इस वक्तृता का यथेष्ट प्रभाव पड़ा। उसने दुर्योधन को बीसियों गालियाँ दे दीं और कह दिया कि यही पापी नहीं मानता। भीष्म समझा चुके, विदुर समझा चुके, गांधारी ने प्रयत्न कर लिये, पर यह किसी की सुने भी।

श्रीकृष्ण ने अब दुर्योधन को संबोधित कर अत्यन्त मधुर शब्दों में कहा:—

'भाई! जब पैदा एक महान् कुल में हुए हो, विद्या प्राप्त की है, शूर हो, फिर शील क्यों कुल-हीनों का-सा दिखाते हो? अपने भाइयों से व्यर्थ का वैर और परायों के सहारे इतना गर्व? अपने सारे मित्रों में कोई अर्जुन और भीम सा बली दिखाओ तो सही। अच्छा, युद्ध हो ही गया। उसका परिणाम? कुल का नाश। तुम्हें सभी कुलघ्न कहेंगे।

कश्चिदुत्तरमेतेषां वक्तुं नोत्सहते पुमान्।
इति सर्वे मनोभिस्ते चिन्तयन्ति स्म पार्थिवाः॥ उद्योग० ९४,२॥

सन्धि कर लो। धृतराष्ट्र राजा रहें और तुम युवराज।[१] क्यों, ? है मंज़ूर ?'

इस पर भीष्म, विदुर, द्रोण सबने समझाया परन्तु दुर्योधन ने एक न सुनी। उसने कहा:—"जब तक धृतराष्ट्र स्वयं राज्य करते थे, मैंने हथियार डाल रखे थे। परन्तु जब इन्होंने राज्य मुझे दे दिया, चाहे अज्ञान से चाहे भय से, तो अब तो मेरी ही चलेगी। मैं सुई की नोक भर भूमि भी पाण्डवों को न दूँगा। उन्होंने राज्य जुये में हारा है। इसमें हमारा अपराध क्या ? अब वे अशक्त पुरुषों का तरह समर्थों पर वृथा ग़ुस्सा झाड़ रहे हैं।"

---

१. महाप्राज्ञकुले जातः साध्वेतत् कर्तुमर्हसि।
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नः सर्वैः समुदितो गुणैः ॥ ६ ॥
दौष्कुलेया दुरात्मानो नृशंसनिरपत्रपाः।
त एतदीदृशं कुर्युर्यथा त्वं तात मन्यसे ॥ उद्योग० १२३,१० ॥

त्वामेव स्थापयिष्यन्ति यौवराज्ये महारथाः ॥ १२३,६१ ॥
माहाराज्येऽपि पितरं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ उद्योग० १२३,६२॥

यावच्च राजा ध्रियते धृतराष्ट्रो जनार्दन।
न्यस्तशस्त्रा वयं ते वाप्युदजीवाम माधव ॥ २३ ॥
अप्रदेयं पुरा दत्तं राज्यं परवतो मम।
अज्ञानाद्वा भयाद्वापि मयि बाले जनार्दन ॥ २४ ॥

यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ॥ उद्योग० १२६,२६॥

अब तक श्रीकृष्ण ने दबे दबे शब्दों में उलाहने दिये थे। दुर्योधन के इस कथन ने उन्हें खुला बोलने का अवसर दे दिया। उन्होंने उसे भीम को विष देने, लाख का घर बनवाने, और उसमें पाण्डवों को डाल उसे आग लगा देने का मनसूबा बाँधने की घटनायें स्मरण कराईं। फिर पूछा, क्या ये अपराध नहीं ? जुये की निन्दा की और कहा—"इस दुष्कर्म के लिए निमन्त्रण ही महान् अपराध है। फिर उसमें छल करना और हारे हुए भाइयों को दास बनाना, यही नहीं, भावज को भरी सभा में बुलाना और उससे न कहने की एक नहीं, बीसियों बातें कह डालना—क्या ये सब काम भले मानसों के थे ?" कृष्ण ने दुर्योधन से स्पष्ट कह दिया—"अब तो लड़ाई हो कर रहेगी। सो तैयार हो जा। तुझे होश तब आयेगा जब शत्रु की शूरता तुझे रणभूमि में सुला देगी। शान्ति अच्छी थी, तू उसे ठुकरा रहा है[1]।"

श्रीकृष्ण की यह भर्त्सना सुन दुर्योधन सभा से उठ गया। इस पर श्रीकृष्ण ने अपने कुल का उदाहरण देकर कहा—"हमारे यहाँ कंस ऐसा ही कुलांगार था। हमने सारे कुल की रक्षा के लिए उस एक दुराचारी को मार डाला। यही उपाय दुर्योधन का करना उचित है। इसे दुःशासन, कर्ण, और शकुनि सहित पाण्डवों के हवाले कर देना चाहिए।

---

१. स्थितो भव महामात्यो विमर्द्दो भविता महान् ॥१२६,२॥

क्या इस एक के लिए सारे क्षत्रिय-वंश का नाश कर दिया जायगा[१] ?"

धृतराष्ट्र ने विदुर को भेज कर गान्धारी को बुलवाया और उससे दुर्योधन को समझवाना चाहा परन्तु उस हठी ने माँ की बात पर ध्यान ही न दिया।

श्रीकृष्ण के आने से पूर्व ही दुर्योधन, शकुनि, कर्ण और दुःशासन उन्हें क़ैद कर लेने के मनसूबे बाँध रहे थे[२]। अब उन्होंने अपने उस विचार को क्रियारूप में परिणत करना चाहा। इसकी भनक सात्यकि के कान में पड़ गई। उसने हृदिक के पुत्र कृतवर्मा से, जो था तो वृष्णि परन्तु दुर्योधन की ओर से आगामी युद्ध में सम्मिलित होनेवाला था, कहा—फ़ौज तैयार कर ले। तत्पश्चात् सात्यकि ने यह ख़बर श्रीकृष्ण को दी, तो वे हँस दिये। धृतराष्ट्र पास खड़ा था। श्रीकृष्ण ने उससे कहा—"मैं चाहूँ तो दुर्योधन को अभी बाँध लूँ। मुझे अकेला न समझिए। परन्तु ऐसा करना अधर्म है। मैं दूत हूँ, अधर्म न करूँगा। दुर्योधन अपना बुरा कर रहा है। अच्छा! जो इसे अच्छा लगे वह करे।

---

१. तथा दुर्योधनं कर्णं शकुनिञ्चापि सौबलम्।
बद्ध्वा दुःशासनं चापि पाण्डवेभ्यः प्रयच्छत॥ १२७,४८॥
तत् कृते न विनश्येयुः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभाः॥ ५०॥

२. इदं तु सुमहत् कार्यं शृणु मे यत् समर्थितम्।
परायणं पाण्डवानां निग्रहीष्यामि जनार्दनम्॥ उद्योग० ८७,१३॥

यह कह कर श्रीकृष्ण सभा से चल दिये। राजा लोग भी रथ तक उनके पीछे पीछे गये। रथ में बैठे हुए कृष्ण पर धृतराष्ट्र ने फिर अपनी विवशता प्रकट कर क्षमा चाही। श्रीकृष्ण ने कहा—"हाँ आपका, भीष्म, द्रोण और शल्य आदि का जो पक्ष है, वह तो सभा में ही स्पष्ट हो गया था। आप सब तो युद्ध के विरोधी हैं। परन्तु दुर्योधन आपके वश में नहीं, यह दुःख की बात है।"

श्रीकृष्ण सभा से उठकर फिर अपनी फूफी के पास गये। पृथा ने कहा—'युधिष्ठिर को संदेश देना—"यह समय दया का नहीं। सब कालों में अहिंसा क्षत्रिय का धर्म नहीं। तू राजा है। राजा काल का कारण है। वह जैसा चाहे समय को ढाल सकता है। उसका बाहुबल पीड़ितों की रक्षा करने के लिए है। स्वयं दीन बन भिक्षा माँगने के लिए नहीं। और तो और, इतना ही देख ले, १३ वर्षों से मैं औरों के टुकड़ों पर जी रही हूँ। यह वृत्ति कृपणता की है। तुझे जन्म देकर इस अवस्था में रहूँ? तू क्षत्रिय है, लड़। बाप दादा की आन को डुबो नहीं।" अर्जुन पुत्र से कहना—"क्षत्राणी जिस दिन के लिए पुत्र-प्रसव की पीड़ा सहती है, वह दिन आगया है।" भीम से कहियो—यह समय प्रीति का नहीं। नकुल सहदेव से कहना—बल-पराक्रम से जीते हुए भोग ही क्षत्रियों के लिए विहित हैं। द्रौपदी से कहना—"बेटी! तूने अपने कुल की आन के अनुरूप

कठोर तप किया है। मुझे राज्य के चले जाने का इतना दु:ख नहीं, पुत्रों के वनवास का इतना दु:ख नहीं, जितना दुष्ट दु:शासन के तुझ नाथवती को अनाथा कर एक-वस्त्रा दशा में ही सभा में लाने और वहाँ पर अश्लील कटाक्ष किये जाने का है[1]। अर्जुन और भीम का बल उसी अपमान के प्रतिशोध के लिए है।" अच्छा! कृष्ण! पाण्डवों से कहना माँ सकुशल है। तुम्हारा कुशल चाहती है। कृष्ण! मेरे बेटे तेरे पास अमानत हैं, उनकी रक्षा करना।'

पृथा से विदा हो श्रीकृष्ण उपप्लव की ओर चले। रथ में जहाँ सात्यकि को बिठाया, वहाँ कर्ण को भी साथ ले लिया। उससे कहा—"संभवत: आपको पता होगा कि आप वास्तव में सूत के पुत्र नहीं। आप कुन्ती के कानीन पुत्र हैं। शास्त्रों के अनुसार कानीन भी पुत्र ही होता है। यदि आप आज पाण्डवों के साथ होते तो राज्य के अधिकारी आप थे। युधिष्ठिर आपसे छोटे हैं। दुर्योधन की ओर से अब आप अपने भाइयों का ही ख़ून करेंगे। फिर यह भी आप जानते हैं कि विजय पाण्डवों की होनी है। अर्जुन सा बहादुर इस तरफ़ कौन है?"

---

१. यहाँ भी पृथा ने द्रौपदी के एक-वस्त्रा दशा में सभा में लाये जाने की शिकायत की है परन्तु वस्त्र-हरण तथा श्रीकृष्ण की वस्त्र-प्रदान-रूपी सहायता का वर्णन नहीं किया।

कर्ण ने कहा—"मैं अपने जन्म को भी जानता हूँ, यह भी जानता हूँ कि कौरवों का पराजय ही होना है। इनके चिह्न ही ऐसे हैं। परन्तु अब तो मैं सूतों में मिलकर सूत हो ही गया। मेरा विवाह सूतों में हुआ। पुत्र पौत्र हो गये। अब इस कुल को कैसे छोड़ सकता हूँ? दुर्योधन की ओर भी आज नहीं हुआ। उसने मेरा सम्मान उस समय किया था, जब पाण्डवों ने मुझे सूत कह दुत्कारा था। इस समय तक जिस दुर्योधन का कृपा-पात्र बना रहा, कड़ा समय आने पर उसे छोड़ दूँ? लोग कहेंगे, डर गया। अब मुझे अपनी वर्तमान अवस्था में ही रहने दीजिए।" यह कह कृष्ण से गले मिलकर वह लौट गया।

श्रीकृष्ण की बसीठी सफल नहीं हुई। यदि कृष्ण का कहना मान लिया जाता तो भारतवर्ष का उस समय से पीछे का इतिहास किसी और प्रकार से लिखा जाता। तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि कृष्ण के दूत बन कर जाने का कुछ भी लाभ नहीं हुआ। लाभ बहुत हुआ, यद्यपि वह लाभ नहीं जो कृष्ण चाहते थे। शान्ति-स्थापन से उतर कर कृष्ण का कर्तव्य था अपने पक्ष का नैतिक (सदाचार की) दृष्टि से पोषण करना, सो उन्होंने पूर्णतया कर लिया। इनके भाषण का उत्तर किसी से बना ही नहीं। दुर्योधन को भरी सभा में डाँट आये। उसके अपने पक्ष के राजाओं ने भी उसकी नैतिक दुर्बलता को जान लिया। धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोण, शल्य आदि

ने तो स्वीकार भी कर लिया कि दुर्योधन वृथा हठ कर रहा है। यही कौरव-दल के मुख्य योद्धा थे। अपने पक्ष को नैतिक दृष्टि से खोखला और निराधार जानते हुए वे जिस उत्साह से लड़ेंगे, वह भी स्पष्ट है। गांधारी ने इस मर्म को समझा था[१]। उसने दुर्योधन को समझाते हुए कहा था—इन द्वैध-ग्रस्तों की सहायता पर निर्भर न कर। भीष्म द्रोण ने स्वयं कृष्ण के चले जाने पर भी उसे यही मन्त्रणा दी कि श्रीकृष्ण की बात को मान ले। इससे स्पष्ट है कि कृष्ण की बात का प्रभाव इन प्रमुख वीरों के तथा औरों के हृदय पर यथेष्ट पड़ा। श्रीकृष्ण ने कर्ण से भी कहलवा लिया कि विजय अर्जुन की होगी। वस्तुतः स्वयं हस्तिनापुर में अर्जुन की प्रशंसा का वातावरण ही बना दिया। शत्रु के घर में यह अवस्था पैदा कर देना अपनी विजय का रास्ता साफ़ कर जाना है। कृष्ण की बसीठी का फल मानसिक था। शत्रु के पक्ष के नीचे से जहाँ नैतिक (सादाचारिक) आधार खिसका दिया, वहाँ उनमें परस्पर फूट भी पैदा कर दी। भीष्म, द्रोण आदि एक ओर

---

१ यच्च त्वं मन्यसे मूढ भीष्मद्रोणकृपादयः।
यौत्स्यन्ते सर्वशक्त्येति नैतदद्योपपद्यते ॥ ५१॥
समं हि राज्यं प्रीतिश्च स्थानं हि विदितात्मनाम्।
पाण्डवेष्वथ युष्मासु धर्मस्त्वभ्यधिकस्ततः ॥ ५२ ॥
राजपिण्डभयादेते यदि हास्यन्ति जीवितम्।
नहि शक्ष्यन्ति राजानं युधिष्ठिरमुदीक्षितुम् ॥ उद्योग० १२८,५३॥

हो गये, कर्ण, शकुनि आदि दूसरी ओर। फिर भरी सभा में दुर्योधन को क़ैद कर पाण्डवों के हवाले कर देने का प्रस्ताव कर उपस्थित राजाओं के मन में यह भी अंकित कर दिया कि जिस नृपति-पुङ्गव का वे पक्ष ले रहे हैं, वह है कितने पानी में? उसे क़ैद कर लेने का प्रस्ताव उसकी अपनी सभा में हो सकता है। यही एक प्रस्ताव उसके सारे प्रभाव को मिट्टी में मिला देने को पर्याप्त था।

——

अर्जुन के सारथि

विराट की सभा ही में हमने देख लिया था कि कौरवों पाण्डवों के मामले में वृष्णिवीरों की सहानुभूति दोनों पक्षों में बँटी हुई थी। श्रीकृष्ण का झुकाव पाण्डवों की ओर था, तो बलराम का दुर्योधन की ओर। सात्यकि अर्जुन का शिष्य था। वह पाण्डवों ही का पक्षपोषक था। शिष्य कृतवर्मा भी था परन्तु उसे हम सेनासमेत हस्तिनापुर में गया देख चुके हैं। कुरुक्षेत्र के युद्ध में उसका स्थान कौरवदल में वही था जो सात्यकि का पाण्डवदल में। वह उनके दस महारथियों में से था। युद्ध के समय हम एक और यादव जलसन्ध को भी कौरवों की ओर से लड़ता पाते हैं। इसकी गणना कौरवों के रथों में है। इसके विपरीत चेकितान पाण्डवों का सहायक होकर लड़ रहा था।

श्रीकृष्ण के लिए यह एक बड़ी समस्या हो गई। एक ओर प्राणों से प्यारा शिष्य, सखा, सम्बन्धी—एक शब्द में आत्मीय—अर्जुन था और उसका पक्ष न्यायानुमोदित था। फिर युधिष्ठिर को ही वे उस साम्राज्य का मुख्य बना चुके थे जो उन्होंने मगध-साम्राज्य के स्थान पर एक बार तो स्थापित कर ही लिया था परन्तु वह कतिपय भूलों के कारण स्थिर न रह सका था। अब भी कुछ बिगड़ा न था। यदि वे पाण्डवों को उनका पैतृक-अधिकार कौरवों से दिला सकें तो फिर

साम्राज्य की स्थापना यथापूर्व हो सकती थी। यों तो चेदि का राजा धृष्टकेतु, काशी का राजा बभ्रु, सृञ्जय, स्वयं अन्धक-वृष्णि—ये सब श्रीकृष्ण के संकेत पर चल रहे थे।[१] परन्तु जो बात उन्होंने पाण्डव-पञ्चक में पाई, वह और कहीं न मिलती थी। एक एक करके संभवतः पाण्डवों में भी वह क्षमता न हो पर पाँचों मिलकर एक विचित्र संस्थान सा बन जाते थे, जो साम्राज्य के दुर्भर भार को उठा सकता था। श्रीकृष्ण ने इस परिवार के साथ अपने आपको एकीभूत सा कर लिया था। और तो और, द्रौपदी इनकी सखी थी। पृथा इन्हें अपने पुत्रों से कम न समझती थी। सुभद्रा इनकी बहन ही थी। अभिमन्यु जहाँ दूसरा अर्जुन था, वहाँ दूसरा कृष्ण भी। सो एक ओर तो यह निजू घनिष्ठता थी, और इससे बढ़ कर एक धार्मिक साम्राज्य की स्थापना का स्वप्न भी था। दूसरी ओर ये अपने संघ के भी मुख्य थे। उस संघ को संगठित रखने

---

१. युधिष्ठिर कहते हैं—

शैनेयोऽयन्चेदयश्चान्धकाश्च वार्ष्णेयभोजाः कुकुराः सृञ्जयाश्च ॥ ११ ॥

उपासीना वासुदेवस्य बुद्धिं निगृह्य शत्रून् सुहृदो नन्दयन्ति ॥ १२ ॥

काश्यो बभ्रुः श्रियमुत्तमाङ्गतो लब्ध्वा कृष्णभ्रातरमीशितारम् ॥ १३ ॥

प्रियश्च नः साधुतमश्च कृष्णो नातिक्रमे निश्चयं केशवस्य ॥

उद्योग० २७,१४॥

में इन्हें कितनी कठिनाई होती थी, इसका वर्णन भी हम ऊपर कर चुके हैं। यादव वीर घमण्डी बड़े थे। बात बात पर लड़ पड़ते थे। नित नये फूट के सामान पैदा किये रहते थे। श्रीकृष्ण ही तो विभिन्न-स्वभाव यादवों में एकता के एक-मात्र सूत्र थे। इनमें सबकी अनन्य भक्ति थी। हस्तिनापुर में इनके क़ैद करने की बात अभी चली ही थी कि कृतवर्मा झट फ़ौज लेकर सभा के द्वार पर आ खड़ा हुआ।[1] यों चाहे उसे लड़ना कौरवों की ओर से ही था। अब यदि ये पाण्डवों के पक्ष के योद्धा हो जायँ तो क्षत्रिय-धर्म के नियमानुसार इन्हें सात्वतों से भी लड़ना होगा। हम आगे चलकर देखेंगे कि इस क्षात्र-धर्म ने युद्ध में कई कड़ी समस्यायें उपस्थित कर दीं। इस अवस्था में इनका सारे यादवों की प्रीति का एकसमान पात्र बने रहना असंभव था। संभावना यह भी थी कि यादवों के कई कुल इसलिए इनके आमरण विरोधी हो जाते कि उनके किसी वीर पर इन्होंने युद्ध में बाण चलाया था। फिर संघ के अस्त-व्यस्त हो जाने में देर ही क्या लगनी थी? सारे यादव वीरों को एक ओर कर लेना इन्होंने अपनी शक्ति से बाहर पाया। यादवों की स्वतन्त्रता-प्रिय प्रकृति ऐसे विषयों में स्वच्छन्द ही रहती थी। वे मिल सकते थे या तो आत्म-रक्षा में या किसी यादववीर की सहायता के लिए। पाण्डव इनके विशेष

---

१. अब्रवीत् कृतवर्माणं क्षिप्रं योजय वाहिनीम्।
व्यूढानीकः सभाद्वारं उपतिष्ठस्व रक्षितः॥ उद्योग० १२६,११॥

क्या लगते थे ? हरेक की अपनी अपनी रुचि थी। अपना अपना मेल तथा अपनी अपनी मैत्री थी। श्रीकृष्ण ने यही उचित समझा कि इस विषय में सबको स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय। वही स्वतन्त्रता इनके अपने लिए भी थी। परन्तु इन्होंने अपनी विशेष स्थिति के कारण अपने ऊपर यह बन्धन भी लगा लिया कि ये होंगे तो पाण्डवों की ओर पर निरस्त्र। साँप भी मर जाय, लाठी भी न टूटे। ये उस समय के योद्धाओं के शिरोमणि थे, परन्तु रण में शूरता से कहीं बड़ा गुण इनकी रण-निपुणता थी[1]। पाण्डव इन्हें अपना कर्णधार रखना चाहते

---

१. बहुत्वं चैव सेनानां विक्रमं च किरीटिनः।
बुद्धिमत्त्वं च कृष्णस्य बुध्वा युध्येत को नरः॥ उद्योग० १६,२१॥

श्रीकृष्ण के निरस्त्र होने का कारण यह कहा जाता है कि एक दिन वे सो रहे थे। दुर्योधन और अर्जुन थोड़े थोड़े अन्तर पर सहायता की याचना के लिए आगये। दुर्योधन सिरहाने बैठ गया, अर्जुन पैताने। श्रीकृष्ण की आँख खुली तो उन्होंने दोनों से आने का कारण पूछा। दुर्योधन ने अभीष्ट कह सुनाया और चूँकि वह पहले आया था अतः यह भी कहा कि पहला अधिकार मेरा है। श्रीकृष्ण ने कहा—मेरी दृष्टि पहले अर्जुन पर पड़ी है और वह छोटा भी है। इसलिए पहला अधिकार अर्जुन का है। सो एक ओर मैं निरस्त्र हूँ, दूसरी ओर मेरी एक अरब नारायणी सेना है। इनमें पहला चुनाव अर्जुन का है। अर्जुन ने निरस्त्र कृष्ण को चुना। महाभारत उद्योगपर्व अध्याय ६ में यह कथा वर्णित है।

ऐसे महत्त्व की बात का निर्णय इस प्रकार के आकस्मिक संयोग पर आश्रित कर देना बच्चों का बहलावा हो सकता है, नीति नहीं।

थे। जरासन्ध के वध से लेकर अब तक इनकी स्थिति इस कुल के सम्बन्ध में यही चली आई थी। ये अर्जुन के सारथि हो गये। अर्जुन पाण्डवों का मुख्य योद्धा था। इस प्रकार युद्ध की बागडोर भी इनके हाथ में रही और यादवों के वैमनस्य का भी अवसर न रहा।

श्रीकृष्ण के इस निश्चय से बलराम के लिए मुश्किल पैदा हो गई। वह कृष्ण का साथ छोड़कर उनके विरोध में भा खड़ा न हो सकता था,[1] कौरवों के सारथि होने की क्षमता भी उसमें न थी। वह तो सीधा-सादा हलधर था, नीति उसे छू न गई थी। दुर्योधन ने उसे अपनी ओर खींचना चाहा पर उसने माना नहीं। वह तीर्थ-यात्रा को चला गया।

कृष्ण के इस निर्णय में नीति की वह चाल थी जो बड़े बड़े नीतिज्ञों को दंग कर देगी। साम्राज्य को भी बचा लिया और संघ को भी हाथ से न जाने दिया। उधर समस्त देश का हित था, इधर सात्वत-वंश का। हित भी दोनों का साध लिया और बात भी अपनी बनाये रखी।

---

१. न चाहमुत्सहे कृष्णं विना स्थातुमपि क्षणम्॥ उद्योग० ६.२२॥
तुल्यस्नेहोऽस्म्यतो भीमे तथा दुर्योधने नृप।
तस्मात् यास्यामि तीर्थानि सरस्वत्या निषेवितुम्॥ ३४॥
उद्योग० १५६

विश्व-रूप

युद्ध प्रारम्भ हो गया। श्रीकृष्ण की सलाह से धृष्टद्युम्न पाण्डव-दल का मुख्य सेनापति हुआ। अर्जुन जिसके सारथि श्रीकृष्ण थे सारी सेनाओं का संरक्षक बना। भिन्न भिन्न अनीकों के अलग अलग सेनापति भी थे। अर्जुन ने कृष्ण से कहा—"मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच में ले चलिए। ज़रा हम देखें तो सही, हमें किन किन योद्धाओं से लड़ना है ?" कृष्ण रथ को हाँक चले। अर्जुन ने जिधर दृष्टि डाली, उसे दोनों दलों में अपने सम्बन्धी ही सम्बन्धी दिखाई पड़े। कहीं दादा, कहीं चाचा, कहीं ताऊ, कहीं श्वशुर, कहीं साला, कहीं मामा, कहीं भानजा, कहीं पुत्र, कहीं भतीजा, कहीं गुरु, कहीं गुरु-पुत्र। सभी तरफ़ यही दृश्य था। युद्ध इनमें होगा ? ये एक दूसरे का ख़ून करेंगे ? यह सोच जी काँप उठा। जिनसे अस्त्र-शस्त्र चलाना सीखा, आज उन्हीं पर अस्त्र चलाने होंगे ? जिन्हें आज तक बाबा कहते रहे, आज उन्हें मृत्यु बन लल-कारना होगा ? यह असंभव है। फिर इस नरपिशाचता से लाभ क्या ? यही न कि कुछ रोज़ राज्य करने को मिल जायेगा ? गुरुजनों के लहू से लिथड़े ग्रास खाने से भूखों मरना अच्छा ! इससे भिक्षा ही क्यों न माँग लें ? फिर यह भी क्या निश्चय है कि विजय हमारी होगी ? विजय किसी की हो,

ख़ून लाखों करोड़ों का बह जायगा। लाखों घर बरबाद हो जायँगे। लाखों विधवायें जीतों की जान को बैठी रोयेंगी। बड़ों का पानी-देवा हो कोई न होगा। कुल-स्त्रियाँ आचार-भ्रष्ट हो जायँगी। वंशों की मर्यादा जाती रहेगी। जाति में कुलटायें, कुलघ्न, कुलच्छनी लोगों की भरमार होगी। युद्ध के ये परिणाम सिनेमा के दृश्यों की तरह अर्जुन के सम्मुख आन की आन में मूर्त्त होकर गुज़र गये। अर्जुन को रोमांच हो आया। वह रथ ही में गाण्डीव छोड़कर बैठ गया। उसने कृष्ण को स्पष्ट कह दिया—मैं नहीं लड़ने का।

अर्जुन के इस विषाद का उपाय श्रीकृष्ण ने गीता के उपदेश से किया। गीता संसार की अमर साहित्यिक कृतियों में से एक है। उसका व्याख्या एक अलग ग्रन्थ चाहती है। हम उसकी व्याख्या अन्यत्र करने का विचार रखते भी हैं। यहाँ संक्षेप से उन दो चार बातों की ओर संकेत किया जायगा जिनका युद्ध से विशेष संबन्ध है।

श्रीकृष्ण ने पहले तो अर्जुन को डाँटा। उससे स्पष्ट कहा कि यह वृत्ति वीरों की नहीं, भीरुओं की है। तू अपनी समझ में ज्ञान की बातें कर रहा है। वास्तव में यह ज्ञानी होने की विडम्बना-मात्र है। ज्ञान का मृत्यु के भय से क्या सम्बन्ध ? मनुष्य दो चीज़ों का मेल है—एक आत्मा, दूसरा शरीर। शरीर है ही अनित्य, आत्मा को कोई मार नहीं सकता। न इसका आदि है न अन्त। आत्मा का तो न जन्म होता है न

मृत्यु फिर मौत किसकी होगी ? अध्यात्मवाद की इतनी ऊँची उड़ान न ले सके, मानव-जन्म को आत्मा का ही जन्म मानता हो तो जिसका जन्म हुआ है, उसे मौत अवश्य आनी है। होनी अनहोनी नहीं हो सकती। फिर मौत का शोक किसलिए ? ज्ञान के मार्ग में तो किसी भी दृष्टि से सोचो, शोक का कोई स्थान नहीं। रहा कर्म का रास्ता। वह भी स्पष्ट है। तू क्षत्रिय है। क्षत्रिय का कर्म है धर्म-युद्ध में प्राण लेना और प्राण देना। रण-भूमि ही क्षत्रिय का स्वर्ग है। फिर इससे हटना काहे को ? रहा यह संदेह कि हमारी विजय हो या उनकी। किसी की भी विजय हो। असंख्य विधवायें, असंख्य अनाथ, असंख्य संतान-हीन वृद्ध, असंख्य आचार-भ्रष्ट कुल और कुलाङ्गनायें—एक शब्द में सारी जाति की जाति धर्म-कर्म-रहित हो जायगी। यह अनधिकार-चिन्ता है। मनुष्य का अधिकार है, कर्म कर दे। फल का निर्धारण उसके हाथ में नहीं। मनुष्य को कर्म करना ही फल की कामना से रहित होकर चाहिए। वास्तव में निष्काम कर्म ही सच्चा ज्ञान है। और ज्ञान-पूर्वक क्रिया ही उत्तम क्रिया है। इस स्थान पर आकर ज्ञान और कर्म एक हो गये हैं। जब तक कर्म स्वार्थ-सिद्धि के लिए किया जाता है, तब तक वह बन्धन का, हृदय के संकोच का, दीनता अर्थात् दासता का हेतु रहता है। वही कर्म स्वार्थ के स्थान में यज्ञार्थ करो। उसका स्वरूप ही बदल जाता है। अब उसी कर्म से बन्धन

नहीं स्वाधीनता, हृदय का संकोच नहीं फैलाव, दासता नहीं स्वाधीनता, स्वामित्व का भाव निष्पन्न हो जाता है। फल की मोहताजी ही मोहताजी है, और फल से बेपरवाही तो फिर बादशाही है। यज्ञ का अर्थ है—समष्टि के लिए कर्म करना। जिस संसार की मिट्टी से हमारा शरीर बना है, उसी के भले के लिए इस शरीर को लगा देना। ऐसा कर्म करने से मनुष्य एक साथ संन्यासी (त्यागी) भी रहता है योगी (कर्म-मार्ग का राही) भी। भीख माँगना ही संन्यास नहीं। तू क्षत्रिय है। तेरी शिक्षा-दीक्षा ख़ून देने और लेने के लिए हुई है। कहलाना राजा, और तलवारों की झंकार सुनाई देने लगे तो गले में कफ़नी डाल लेना—यह कौन सा धर्म है ?

इस उपदेश में जादू था। परन्तु अर्जुन पर आत्मीयता परकीयता का मोह सवार था। अपनों के विरुद्ध शस्त्र कैसे उठाऊँ ? यह चिन्ता चिता बनी जलाये डालती थी। उसने श्रीकृष्ण की तर्कणा को सुना अनसुना कर दिया। श्रीकृष्ण ने देखा, यहाँ यह हथियार बेकार है। उस पर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डालना चाहा। महाभारतकार कहते हैं—उन्होंने अर्जुन को दिव्यचक्षु दिया जिससे वह उनका विश्वरूप देख सके।

अर्जुन ने देखा—कृष्ण का एक मुँह नहीं, अनेक मुँह हैं; एक बाहु नहीं, अनेक बाहुएँ हैं; अनेक नेत्र हैं ; हज़ार सूर्यों की प्रभा एक कृष्ण में है। एक आग है, कि आकाश-पाताल

में छाई हुई है और उसमें देव-दानव सब प्रवेश कर रहे हैं। कोई डर कर भागा जा रहा है, कोई हाथ जोड़े स्तुति कर रहा है। कराल-काल मुँह खोले खड़ा है और मनुष्य, जैसे पतंगे प्रदीप की ज्योति पर, गिर गिर कर भस्म हुए चले जाते हैं।

अर्जुन डर गया। उसने पूछा—महाराज! इस भयानक रूप का क्या अभिप्राय है? कृष्ण ने कहा—"यही कि मैं यम हूँ, लोक का क्षय करना चाहता हूँ। भीष्म, द्रोण आदि योद्धा मैंने तो मार ही दिये हैं। अब तू चाहे लड़ चाहे न लड़, इनका अन्त मेरी युद्ध-बुद्धि ने कर दिया। मुझे अब एक निमित्त—बाहर का साधन चाहिए जो मेरे मानसिक रण-क्षेत्र में हो चुकी घटना को भौतिक जगत् में प्रत्यक्ष कर दे। तेरी इच्छा हो तो तू हो निमित्त बन जा। इससे यश भी होगा, राज्य की प्राप्ति भी होगी। नहीं तो यह काम तो होकर ही रहेगा।"

इसके पश्चात् श्रीकृष्ण ने इस भयानक चित्र में सौम्यता का अंश भी प्रविष्ट कर दिया। इस अंश में हर्ष का, अनुराग का प्राबल्य था। राक्षस भाग रहे थे, देवता प्रसन्न हो रहे थे। अर्जुन की जान में जान आई। डरा हुआ तो था ही, पर अब भक्ति भी उमड़ी। कृष्ण को सब ओर से, सब प्रकार से नमस्ते कर जीवन भर की धृष्टतायें क्षमा कराईं और कहा—महाराज! आज्ञाकारी सेवक हूँ।

यह विश्व-रूप क्या था ? महाभारत के शब्दों में 'दिव्य-चक्षु' का चमत्कार। कृष्ण ने अर्जुन पर मोहिनी सी डाल दी। दिव्य चक्षु या मोहिनी मनोवैज्ञानिक वस्तु है। इसकी व्याख्या भी मनोवैज्ञानिक ही होनी चाहिए। अर्जुन अत्यन्त विषाद की अवस्था में था। उसे भीष्म, द्रोण आदि गुरुओं, दुर्योधन आदि बन्धुओं, लक्ष्मण तथा अभिमन्यु आदि पुत्रों की मृत्यु होनी प्रत्यक्ष दीख रही थी। श्रीकृष्ण ने सबसे पहले प्रयत्न यह किया कि उसके हृदय में विषाद का विपरीत भाव—योग की परिभाषा में प्रतिपक्षभावना—उद्‌बुद्ध की जाये। उन्होंने पहले अपना सारा युक्ति का बल लगाया। उसका यथेष्ट प्रभाव नहीं पड़ा। अब उन्होंने समझ लिया कि अर्जुन का भूत ज़्यादः गहरा, ज़्यादः मार्मिक है। ऊपर ऊपर की तर्कणा से उतरने का नहीं। उन्होंने तर्कणा की थाह से कहीं अधिक गहरी चोट करनी चाही। भक्ति का स्थान युक्ति की पहुँच से बहुत दूर है। भक्ति आत्मा का मर्म है। श्रीकृष्ण उपदेश करते करते अपने वैयक्तिक वैभव की महिमा बखानने लगे। उन्होंने कहा—"संसार का आधार मैं हूँ।[1] मेरी ही एक उँगली पर सारा चराचर जगत् नाचता है। कारण कि मैं चराचर

---

१. महाभारत में संसार का आधार शील को कहा है। शील-वान् पुरुष मानों जगत् का धारण-कर्ता है। यथा विदुर के विषय में पृथा कहती है—

तस्य कृष्ण महाबुद्धेर्गम्भीरस्य महात्मनः।

क्षत्तुः शीलमलङ्कारो लोकान् विष्टभ्य तिष्ठति॥ उद्योग० ८१,२५॥

का आत्मा हूँ। मेरा जीवन यज्ञ के अर्पण है। मेरी किसी क्रिया में स्वार्थ का अंश नहीं। मैं यज्ञ-रूप हूँ। समष्टि के अर्पण हूँ, अत: समष्टि मेरी है। मैंने सारे लोक को अपना लिया—अपना कर लिया—है। अत: सारा लोक मेरे वश में है। मेरे कहे के बाहर तू कैसे होगा?" अर्जुन की समझ में यह बात नहीं आई। हमारे जैसे हाथ पाँव, हमारे जैसे सिर पैरवाला, चार एक हाथ का पुतला कृष्ण सारे जगत् का स्वामी—विश्व का सञ्चालक—कैसे हो सकता है? श्रीकृष्ण ने अर्जुन की आँख से आँख मिलाई। महापुरुषों की आँख की मोहिनी प्रसिद्ध ही है। नैपोलियन की आँख का तेज उसके बड़े बड़े सेनापतियों के लिए असह्य हो जाता था। वे उसकी आँख से आँख नहीं मिला सकते थे। अर्जुन की आत्मा विषाद से निर्बल—अत: मोहिनी के प्रभाव की पात्र—हो ही चुकी थी। श्रीकृष्ण के उपदेश ने उसके अन्त:करण में गुह्य भावनाओं की एक परोक्ष हलचल सी मचा दी थी। जब श्रीकृष्ण ने अपनी अलौकिक शक्तियों का वर्णन प्रारम्भ किया। उसकी बुद्धि स्तब्ध सी हो गई। उसने सोचना छोड़ दिया। मोहिनी के प्रभाव का यही अवसर होता है। कृष्ण ने अपने कराल संकल्प को अपनी दृष्टि में केन्द्रित कर दिया। अर्जुन ने रणाङ्गण में आते ही एक महान् श्मशान का चित्र तो अपनी आँखों के सामने फिरता देख ही लिया था। कृष्ण के अदम्य संकल्प ने उसी बीभत्स नाट्य का सूत्रधार स्वयं

कृष्ण को बना अर्जुन की विषादापन्न कल्पना के चित्र का रंग और गहरा कर दिया। संसार के रंग-मञ्च पर जितनी भी महत्त्व पूर्ण लीलायें हुई हैं उनके सूत्र-धार अनेक-मुख अनेक-बाहु अनेकोरु अनेक-नेत्र रहे ही हैं। जब तक वह उस लीला में लगे रहते हैं, तब तक सारे संसार की जिह्वायें उन्हीं का कहा दुहराती हैं। मानों वे जिह्वायें उन्हीं की हो गई हैं। जन-साधारण की एक बहुत बड़ी संख्या अपना बाहु-बल उनके अर्पण कर देती है। भक्त-जनों के नेत्र उन्हीं के नेत्रों से संसार के सभी दृश्यों को देखते हैं। यज्ञार्थ जीनेवाले—राष्ट्रों के निरहंकार कर्णधार—वास्तव में विश्वरूप होते हैं। उन्होंने युद्ध का संकल्प कर लिया। फिर किसकी शक्ति है कि उससे बचे ? जाति पर जाति, राष्ट्र पर राष्ट्र देखते भालते, इच्छा न होते हुए भी, मृत्यु के मुख में सहसा प्रविष्ट हुए जाते हैं। वे कर्णधार उस समय सचमुच कराल-काल बन जाते हैं। अर्जुन के सामने कृष्ण का यही रूप आया। कृष्ण का दृढ़ विश्व-व्यापी संकल्प जिसके अवश्यंभावी प्रभाव से भारत का कोई राष्ट्र बच नहीं सका, घनीभूत हो अर्जुन के सामने मानों कृष्ण की विराट् विभूति बन गया। कवि की चमत्कारिणी लेखनी ने इस विभूति को और चमका दिया है। जो प्रभाव अर्जुन पर उस समय पड़ा था, वही आज पाठक के भावाविष्ट हृदय पर भी पड़ता है। वह कृष्ण के आगे वैसा ही विनम्र होकर झुक जाता है जैसा अर्जुन उस समय झुका था।

श्रीकृष्ण का यह दृढ़ संकल्प पाण्डवों के वनवास के समय से लेकर युद्ध की समाप्ति तक महाभारत के एक एक पन्ने पर चित्रित है। युधिष्ठिर के राजपाट छोड़ जंगल जाने की तैयारी के समय जब द्रौपदी ने इनसे द्यूत का अमंगल समाचार कहा और अपने व्यथित हृदय को रो रोकर इनके सम्मुख आँसुओं के रूप में पुञ्जीभूत कर दिया तो इन्होंने सान्त्वना देते हुए कहा—"भद्रे! आज तू रोती है। कल कौरवों की स्त्रियाँ अर्जुन के तीरों से चलनी हुए पतियों को रोयेंगी।"[१] विराट की सभा में जब द्रुपद ने सन्धि के प्रस्ताव के साथ साथ युद्ध के भी पूरे उद्योग की मन्त्रणा दी, तो इन्होंने इस विचार से सहमति प्रकट की और इस महान् उद्योग का कार्य द्रुपद के ही कंधों पर डाला। और जब स्वयं दूत बन कर कौरवों की सभा में जाने लगे तो एक बार फिर द्रौपदी ने मर्म-भेदी शब्दों में पाण्डवों को युद्ध के लिए उकसाया। उसने अपने सुन्दर साँपों की तरह लहराते बालों को बाँयें हाथ से पकड़ कर आँखों से आँसुओं की लड़ी गिराते हुए कहा:—"यही वे बाल हैं जिन्हें दुःशासन के अश्लील हाथों ने भरी सभा में खींचा था। सखे

---

१. रोदिष्यन्ति स्त्रियो ह्येवं येषां क्रुद्धासि भामिनि।
बीभत्सुशरसंच्छिन्नान् शोणितोघपरिप्लुतान् ॥२९॥
निहतान् वल्लभान् वीक्ष्य शयानान् वसुधातले।
यत्समर्थं पाण्डवानां तत्करिष्यामि मा शुचः ॥३०॥

वनपर्व० १२

कृष्ण ! जहाँ जहाँ सन्धि का विचार सुनना, इन बालों को स्मरण कर लेना[1] । यदि भीम और अर्जुन इतने क्षुद्र हो गये हैं कि इन्हें सन्धि के बिना चैन नहीं पड़ती, तो मेरा बूढ़ा बाप अपने वीर पुत्रों की सहायता से अपनी अभागी पुत्री का बदला लेगा ।" श्रीकृष्ण ने इस समय भी वही उत्तर दिया जो इससे पूर्व दे चुके थे । उन्होंने कहा—"तू बहुत जल्दी कौरवों की स्त्रियों को रोती देखेगी । उनके सगे सम्बन्धी मर जायँगे । और वे अनाथा होंगी । धृतराष्ट्र के पुत्रों का काल आगया है । यदि उन्होंने मेरी न सुनी तो वे अवश्य भूमिशायी होंगे । उन्हें कुत्ते और शृगाल नोच नोच कर खायँगे[2] । हिमालय अपने स्थान से हिले तो हिले, पृथिवी टुकड़े टुकड़े हो जाये, तो हो जाये । तारे नीचे आ पड़ें तो आ पड़ें, मेरा कहा असत्य सिद्ध न होगा । कृष्णे ! यह मेरी प्रतिज्ञा है । तू रोना बन्द कर ।"

हस्तिनापुर में पृथा के विलाप का उत्तर देते हुए भी श्रीकृष्ण ने इसी भाव का प्रकाश किया था । बात यह है कि श्रीकृष्ण दुर्योधन की हठीली प्रकृति को जानते थे । उन्हें पूरा निश्चय था कि वह साम, दान, और भेद इन तीनों उपायों से मानेगा नहीं । उसका इलाज एक ही था—दण्ड । द्रुपद, सात्यकि,

---

१. अयं ते पुण्डरीकाक्ष दुःशासनकरोद्धृतः (केशपक्षः)
स्मर्तव्यः सर्वकार्येषु परेषां सन्धिमिच्छताम् ॥ उद्योग० ८१,३६॥

२. धार्तराष्ट्राः कालपक्वा न च शृण्वन्ति मे वचः ।
शेष्यन्ति निहता भूमौ श्वशृगालादनीकृताः ॥ उद्योग०८१,६७॥

विदुर, द्रौपदी सबने यह बात कह डाली । श्रीकृष्ण ने कही नहीं, ध्यान में रक्खी । मनुष्य आशा के विपरीत भी आशा करता है । इनकी हार्दिक इच्छा थी कि सन्धि हो जाय । वृथा लोक-क्षय न हो, परन्तु अनुमान यही था कि सन्धि न होगी । हृदय एक बात के लिए प्रयत्न कर रहा था । मस्तिष्क दूसरी संभावना को उपस्थित किये देता था । अपने उपदेशानुसार इन्होंने फल की चिन्ता न कर सन्धि के लिए भरसक प्रयत्न किया । जब वह असफल हुआ तो कर्तव्य का मार्ग सीधा था—पूरे बल से युद्ध करना । इनके जीवन का लक्ष्य था सम्पूर्ण भारत को एक बलात्काराश्रित नहीं, प्रीत्याश्रित साम्राज्य की छत्र-छाया में एकीभूव कर देना । ये इस लक्ष्य से रत्ती भर भी इधर-उधर न हो सकते थे । अर्जुन आदि इस लक्ष्य की प्राप्ति के साधन-मात्र थे । दुर्योधन अपने मन्त्रिमण्डल-सहित इस साम्राज्य के रास्ते में कण्टक था । उसे और उस जैसे सबको ये अपने संकल्प में अपने रास्ते से हटा चुके थे । गीता का विश्व-रूप इसी विशाल संकल्प का दिग्दर्शन था । अर्जुन की समझ में घटना-चक्र की पेचीदगी—इस समय तक की सारी उलझन—आगई । उसने जान लिया कि अब लड़ने के सिवाय रास्ता ही नहीं । वह चक्रधर के चक्र पर बैठ गया । उसने गाण्डीव उठा लिया । और एक सरल-स्वभाव बच्चे की तरह लड़ाई के मैदान में कूद पड़ा । लड़ते लड़ते उसके हृदय में कोमल और कठोर भावनाओं के अनेक उतार-चढ़ाव हुए ।

विपरीत भावनाओं के वे विप्लव कैसे उठे ? कैसे बैठे ? यह कथा आनेवाले प्रकरणों में वर्णित होगी। अर्जुन का सारथि बन कर श्रीकृष्ण ने कैसे अपने लिए उपयुक्ततम स्थान का चुनाव किया था, यह कहानी भी उसी वर्णन के अन्तर्गत आयेगी।

भीष्म बाबा की शर-शय्या

महाभारत का युद्ध अठारह दिन रहा था। पहले दस दिन तक कौरव-दल के प्रधान सेनापति भीष्म थे। ये बाल-ब्रह्मचारी थे। योद्धा अद्वितीय थे। सारी आयु लड़ाइयाँ लड़ते और नीति के सूत्र सुलझाते कटी। इन्होंने सेना के कई व्यूह रचे। मारकाट इतनी की कि कई बार पाण्डव थर्रा गये। तीसरे और नवें दिन इन्होंने विशेष पराक्रम दिखलाया। हज़ारों योद्धा खेत रहे।

भीष्म, सम्बन्ध में दोनों पक्षों के दादा थे। पाण्डवों को देखकर इनके हृदय में प्रेम उमड़ आता था। युद्ध के रोकने का इन्होंने भरसक प्रयत्न किया था परन्तु दुर्योधन के दुराग्रह के आगे किसी की पेश न गई थी। ये पाण्डवों को बचाकर युद्ध करते थे। दूसरे दिन अर्जुन के बाणों से अपनी सेना का अधिक क्षय होता देख दुर्योधन ने भीष्म से कहा—जाइए दादा! बढ़ते हुए अर्जुन को आप ही रोकिए। इन्होंने अर्जुन पर प्रहार किया सही परन्तु ठण्डी साँस लेकर, क्षात्र-धर्म को धिक्कार कर।[1] यही वृत्ति अर्जुन की भीष्म के प्रति थी। इसके शस्त्र-प्रहार की मृदुता की तो युधिष्ठिर को भी

---

१. धिक् क्षात्रधर्ममित्युक्त्वा प्रायात् पार्थरथं प्रति ॥ भीष्म० ५२,३६॥

शिकायत थी, कृष्ण को भी। युधिष्ठिर दूसरे ही दिन युद्ध से विरक्त हो गया था। उसे अधिक दुःख इस बात का था कि भीष्म तो दिव्य अस्त्रों का प्रयोग किये जाते हैं परन्तु अर्जुन ऋजु युद्ध पर ही तुला है[1]। तीसरे दिन श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उकसाकर भीष्म के सम्मुख जा खड़ा किया। अर्जुन ने अपने हस्त-लाघव तथा धनुर्विद्या की कुशलता से भीष्म के दो धनुष निरन्तर छेदकर बेकार कर दिये। भीष्म रुष्ट होने के स्थान में प्रसन्न हुए। उन्होंने अर्जुन को साधुवाद दिया। उसे प्रेमपूर्वक लड़ने के लिए बुलाया।[2] यह साधुवाद और

---

१. युधिष्ठिर कृष्ण से कहते हैं:—

अलमेष क्षयं कर्तुं परसैन्येषु मारिष।
आर्जवेनैव युद्धेन वीरो वर्षशतेन वा ॥ १९ ॥
एकास्त्रवित् सखा तेऽयं सोऽप्यस्मानुपेक्षते।
निर्दह्यमानान् भीष्मेण द्रोणेन च महात्मना ॥ २० ॥
दिव्यान्यस्त्राणि भीष्मस्य द्रोणस्य च महात्मनः।
धक्ष्यन्ते क्षत्रियान् सर्वान् प्रयुक्तानि पुनः पुनः ॥ २१ ॥ भीष्म० ५० ॥

२. ततः पार्थो धनुर्गृह्य दिव्यं जलदनिस्वनम्।
पातयामास भीष्मस्य धनुश्छित्वा शितैः शरैः ॥ ५४ ॥
स च्छिन्नधन्वा कौरव्यः पुनरन्यन्महद्धनुः।
निमेषोत्तरमात्रेण सज्जं कृत्वा पिता तव ॥ ५५ ॥
विचकर्ष ततो दोर्भ्यां धनुर्जलदनिस्वनम्।
अथास्य तदपि क्रुद्धश्चिच्छेद धनुरर्जुनः ॥ ५६ ॥

प्रेम का निमन्त्रण अर्जुन के हृदय के साथ साथ भुजाओं को भी शिथिल कर गया। श्रीकृष्ण ने देखा कि चाहे अर्जुन का अपना शरीर तीरों से चलनी हुआ जाता है परन्तु भीष्म के गौरव के कारण वह पूरे ज़ोर से लड़ता नहीं।[१] श्रीकृष्ण ने अपनी सारथि-विद्या का सारा कौशल अर्जुन के बचाने में लगा दिया।[२] वे रथ को ही ऐसे चक्कर देते कि भीष्म के तीर ख़ाली जाते। पर आख़िर लड़ना तो अर्जुन ही को था। श्रीकृष्ण उसका स्थान नहीं ले सकते थे। भीष्म बचाव करते करते भी जहाँ सेना का सफ़ाया कर रहे थे, वहाँ अर्जुन और श्रीकृष्ण को भी घायल किये जाते थे। कृष्ण कुछ समय तो अर्जुन के लाड़-चाव को धैर्य-पूर्वक सहते गये। जब उन्होंने देखा कि पानी सिर से गुज़र रहा है तो वे रथ से उतर आये

तस्य तत् पूजयामास लाघवं शान्तनोः सुतः।
साधु पार्थ महाबाहो साधु भोः पाण्डुनन्दन ॥ ४७ ॥
त्वय्येवैतत् युक्तरूपं बृहत् कर्म धनञ्जय।
प्रीतोऽस्मि सुदृढं पुत्र कुरु युद्धं मया सह ॥ ४८ ॥

१ अर्जुनोहि शरैरतीक्ष्णैर्वध्यमानोऽपि संयुगे ॥ ७२ ॥
कर्तव्यं नाभिजानाति रणे भीष्मस्य गौरवात् ॥ ७३ ॥

२. मण्डलानि विचित्राणि गतप्रत्यागतानि च।
दर्शयामास राजन् ससूतसामर्थ्यलाघवम् ॥ भीष्म० ५५, ५२ ॥

और अपना सुदर्शनचक्र घुमाते हुए पितामह की ओर चले।[1] भीष्म कृष्ण का भक्त था। उसका यह विश्वास था कि और कोई तो संभवत: उसे रण में न जीत सके, कृष्ण या अर्जुन लड़ने पर आजायँ तो उसे मार सकते हैं।[2] उसने कृष्ण को अस्त्र उठाये हुए अपनी ओर आता देख हथियार डाल दिये और कहा—"आप मुझे मार डालिए, आपके हाथों मरना अनुपम पुण्य है।" श्रीकृष्ण ने डाँटा—"यह युद्ध ही आपकी करतूत है। न आप द्यूत होने देते न ये बुरे दिन पृथ्वी पर आते। और यदि दुर्योधन आपकी नहीं मानता था तो आपको उससे अलग हो जाना चाहिए था।" भीष्म ने कहा—"राजा परम देवता है; उसे छोड़ा नहीं जा सकता।" कृष्ण ने झट उत्तर दिया—"हमने कंस को छोड़ दिया था कि नहीं?"[3] इतने में अर्जुन ने रथ से उतरकर

---

१. व्यालम्बि पीतान्तपटश्चकाशे घनो यथा खेऽचिरयापिनद्धः।
सुदर्शनश्चास्य रराज शौरेस्तच्चक्रपद्मं सुभुजोरुनालम्॥
६१. भीष्मपर्व ५९

२. न तं पश्यामि लोकेषु मां हन्याद् यः समुद्यतम्।
ऋते कृष्णात् महाभागात् पाण्डवाद्वा धनञ्जयात्॥ ८५॥

३. त्वं मूलमस्य भुविचयस्य दुर्योधनञ्चाद्य समुद्धरिष्यसि।
दुर्द्यूत देवी नृपतिर्निवार्यः सुमन्त्रिणा धर्मपथि स्थितेन॥ ९९॥
त्याज्योऽथवा कालपरीतबुद्धिर्धर्मातिगो यः कुलपांसनः स्यात्।
भीष्मस्तदाकर्ण्य यदुप्रवीरं राजा परं दैवतमित्युवाच॥ १००॥
त्यक्तस्तु कंसो यदुमिर्हितार्थं सम्बोध्यमानो न बुबोध राजा॥१०१॥
भीष्म० ५९

कृष्ण को पीछे से आ पकड़ा। श्रीकृष्ण उसके रोके रुके नहीं। उलटा उसे ही घसीट ले चले। आखिर उसने बल-पूर्वक उनके पाँव पकड़ लिये। फिर भी वे चलते गये। दसवें क़दम पर रुके। अर्जुन ने प्रतिज्ञा की कि अब देख लेना; पूरे ज़ोर से लड़ूँगा। आप अपनी निरस्त्रता का प्रण न तोड़िए। तब कहीं अर्जुन ठिकाने से लड़ने लगा।

यही तमाशा फिर नवें दिन हुआ। दसवें दिन पाण्डव यह संकल्प करके निकले कि आज भीष्म को मार डालना है। इसके रहते पाण्डव-पक्ष की विजय की कोई आशा नहीं। रात को उन्होंने सलाह की कि भीष्म को कैसे गिराया जाय? राजा विराट की सभा में कभी अर्जुन ने आवेश में आकर कहा था—"भीष्म पितामह का हनन मैं कर दूँगा।" श्रीकृष्ण ने उसे वे वचन याद दिलाये। युधिष्ठिर से यह भी कहा—"यदि विशेष भीड़ आ पड़ी हो तो लीजिए, हमीं शस्त्र ग्रहण किये लेते हैं। हमने तो अपना सब कुछ अर्जुन के ऊपर वार रखा है। उपप्लव में ही प्रतिज्ञा होगई थी कि यदि यह चाहे तो मैं अपनी बोटी बोटी कटा दूँ। अब यदि अर्जुन पराक्रम करे तो भीष्म का मारा जाना निश्चित है। अन्यथा हमें आज्ञा कीजिए। फिर देखिए लड़ाई का रुख़ ही बदल जायगा[१]।"

---

१. प्रतिज्ञातमुपप्लवे यत्तत् पार्थेन पूर्वतः। ३५ ॥
घातयिष्यामि गाङ्गेयमिति लोकस्य सन्निधौ।
अपरीक्ष्यमिदं तावत् वचः पार्थस्य धीमतः ॥ ३६ ॥

श्रीकृष्ण अपनी प्रतिज्ञा को तोड़ कर शस्त्र ग्रहण कर लें, यह तो किसी के स्वप्न में भी नहीं आ सकता था। इस भाषण का अभिप्राय भी सभी समझते थे। यह अर्जुन के लिए प्रोत्साहना थी। परन्तु अर्जुन का भी अपना व्यक्तित्व था। नहीं माना। श्रीकृष्ण दो बार तो शस्त्र उठा ही चुके थे। हाँ! उन्होंने सुदर्शन का प्रयोग नहीं किया। उनका प्रण स्थिर रहा। अर्जुन पहले की अपेक्षा अच्छा लड़ने लगा। पर फिर आखिर दादा दादा ही हैं। कृष्ण के प्रस्ताव को सुनकर अर्जुन का हृदय अत्यन्त खिन्न हुआ। वह खिसियाना होकर बोला—"माधव कुल के लाल! मैं इस बूढ़े बाबा से कैसे लड़ूँ[1]? बचपन में

अनुज्ञातन्तु पार्थेन मया कार्यमसंशयम्।
अथवा फाल्गुनस्यैव भारः परिमितो रणे॥ ३७॥
मांसान्युत्कृत्य दास्यामि फाल्गुनार्थं महीपते॥३३॥ भीष्म० १०८॥

1. गुरुणा कुरुवृद्धेन कृतप्रज्ञेन धीमता।
पितामहेन संग्रामे कथं योद्धास्मि माधव॥ ९०।
क्रीडता हि मया बाल्ये वासुदेव महामनाः।
पांशुरूषितगात्रेण महात्मा कलुषीकृतः॥ ९१॥
यस्याहमधिरुह्याङ्कं बालः किल गदाग्रज।
तातेत्यवोचं पितरं पितुः पाण्डोर्महात्मनः॥ ९२॥
नाहं तातस्तव पितुस्तातोऽस्मि तव भारत।
इति मामब्रवीद्बाल्ये यः स वध्यः कथं मया॥ ९३
कामं वध्यतु सैन्यं मे नाहं योत्स्ये महात्मना।
जयो वधो वा मे भूयात् कथं वा कृष्ण मन्यसे॥ ९४॥
भीष्म० १०८

खेलते खेलते मैंने अपने मिट्टी से लिथड़े शरीर से पितामह की गोद को कई बार मैला किया है। गोद में चढ़ते चढ़ते मैंने कहा—बापू! बाबा ने उत्तर दिया—तेरा बापू नहीं, मैं तो तेरे बाप का बापू हूँ। उन्हें मैं मार गिराऊँ? कदापि नहीं। सारी सेना मर जाय, मैं मर जाऊँ, विजय हो न हो, आप कुछ कहिए, मैं भीष्म बाबा का वध नहीं करूँगा।"

श्रीकृष्ण ने उपप्लव की बात को दुहराया, और बृहस्पति के प्रमाण से कहा कि आततायी बड़ा हो, बूढ़ा हो, गुणी हो, उसे मार ही डालना चाहिए।[१] यही क्षत्रिय का धर्म है। परन्तु वे अब यह जान गये कि अर्जुन बाबा का वध करेगा नहीं।

अर्जुन ने प्रस्ताव किया कि आज के युद्ध का प्रमुख योद्धा शिखण्डी को बना दीजिए। वह भीष्म से दो दो हाथ करे। मैं उसकी सहायता करूँगा। दूसरे महारथियों को रोकना मेरा काम रहा। भीष्म के सम्मुख शिखण्डी हो[२]। शिखण्डी पाण्डवदल के मुख्य योद्धाओं में से था। युद्ध होने से पहले

---

१. यथोवाच पुरा शक्रं महाबुद्धिर्बृहस्पतिः। ६६॥
ज्यायांसमपि चेत् वृद्धं गुणैरपिसमन्वितम्।
आततायिनमायान्तं हन्यात् घातकमात्मनः॥ १११॥

२. अहमन्यान् महेष्वासान् वारयिष्यामि सायकैः।
शिखण्ड्यपि युधां श्रेष्ठं भीष्ममेवाभियोधयेत्। १०४॥

भीम ने तो प्रस्ताव ही किया था कि पाण्डवदल का मुख्य सेनापति शिखण्डी हो।[१] दुर्योधन ने भीष्म से दोनों सेनाओं के महारथियों की गणना कराई थी, तो उन्होंने शिखण्डी को भी पाण्डवों के मुख्य महारथियों में परिगणित किया था।[२]

अर्जुन के प्रस्तावानुसार शिखण्डी भीष्म से भिड़ने को अग्रसर हुआ। पाण्डवदल के और योद्धा इसके पीछे पीछे चले। अर्जुन ने भी अपना स्थान सँभाला। भीष्म पर यह भीड़ पड़ी देख कौरवदल के महारथी उनकी सहायता को निकले। अर्जुन की पहले तो दुःशासन से मुठभेड़ होगई। इसके पीछे वह औरों से दो दो हाथ करता रहा। बीच बीच में भीष्म पर भी वार कर लेता था। अन्त में उसे सात वीरों—द्रोण, कृतवर्मा, जयद्रथ, भूरिश्रवा, शल, शल्य, भगदत्त—से एक साथ जुट जाना पड़ा।[३] अब सात्यकि, भीमसेन,

---

१. भीम कहता है:—

न तं युद्धे प्रपश्यामि यो हन्यात्तं शिखण्डिनम्।
शस्त्रेण समरे राजन् सन्नद्धं स्यन्दने स्थितम् ॥ ३१ ॥
द्वैरथे समरे नान्यो भीष्मं हन्यान्महाव्रतम्।
शिखण्डिनमृते वीरं स मे सेनापतिर्मतः ॥ ३२ भीष्म० १५० ॥

२. भीष्म कहते हैं:—

पाञ्चालराजस्य सुतो राजन् परपुरञ्जयः।
शिखण्डी रथमुख्यो मे मतः पार्थस्य भारत ॥ भीष्म १६०-१ ॥

३. द्रोणश्च कृतवर्मा च सैंधवश्च जयद्रथः।
भूरिश्रवाः शलः शल्यो भगदत्तस्तथैव च ॥ १५ ॥

धृष्टद्युम्न, विराट और द्रुपद उसकी सहायता को पहुँचे। अर्जुन ने भीष्म से लड़ने का एक ही गुर पकड़ रखा था। वह यह कि उसे स्वयं न छेड़ना, उसका धनुष तोड़ देना। इससे पूर्व भी वह यही करता रहा था। अब भी उसने ऐसा ही किया। पितामह ने क्रोध में आकर अर्जुन के रथ पर एक बड़ी भारी शक्ति का वार किया[१]। अर्जुन ने उस शक्ति को भल्ल नामक पाँच बाणों से छेदकर टुकड़े टुकड़े कर दिया। भीष्म नये धनुष से उस पर तीर बरसाने लगा। उसने बाणों को बाणों से रोका और धनुष फिर तोड़ दिया। यही कौतुक कई बार हुआ। यहाँ तक कि भीष्म के पास और धनुष रहा ही नहीं[२]। उधर

सप्तैते परमक्रुद्धाः किरीटिनमभिद्रुताः।
तत्र शस्त्राणि दिव्यानि दर्शयन्तो महारथाः ॥१६॥ भीष्म० १२०॥

१. शक्तिं जग्राह तरसा गिरीणामपि दारिणीम्।
तां च चिक्षेप संक्रुद्धः फाल्गुनस्य रथं प्रति ॥२६॥ भीष्म० १२०॥

२. एवमस्य धनूंष्याजौ चिच्छेद सकलान्यपि ॥५२॥ भीष्म० १२०॥

भीष्म के शिखण्डी पर वार न करने और उसके तीरों को न रोकने का कारण यह बताया गया है कि शिखण्डी पहले स्त्री था। उसने किसी यक्ष के साथ लिंगपरिवर्तन कर पुरुषत्व लाभ किया था। भीष्म बाल-ब्रह्मचारी थे। वे पूर्व-स्त्री पर बाण न चला सकते थे। यह कथा कुछ अलौकिक सी है। हमारे विचार में अर्जुन के लगातार भीष्म के धनुष पर धनुष तोड़ने के कारण उन्हें शिखण्डी के वार रोकने या लौटाने का समय ही न मिल सका था। यह धारणा महाभारत के श्लोकों से अनुमोदित है, और फिर स्वाभाविक भी है।

शिखण्डी अपना काम किये जा रहा था। परिणाम यह हुआ कि भीष्म बाबा रथ से नीचे आ रहे। वे अब जी तो रहे थे पर लड़ने के नितान्त अयोग्य थे। यही पाण्डवों को अभीष्ट था। वे उन्हें लड़ने के लिए अशक्त ही देखना चाहते थे। युद्ध का नियम भी यही था कि गिर पड़े शत्रु पर प्रहार नहीं करना।

हम ऊपर लिख आये हैं कि भीष्म अपने आपको अर्जुन और कृष्ण के सिवा और किसी से पराजेय नहीं समझते थे। अर्जुन को युद्ध-विद्या में इतना कुशल देखकर उन्हें प्रसन्नता होती थी। वे गिरे तो शिखण्डी के बाणों से, परन्तु इस बाण-प्रहार में करामात शिखण्डी के बल की नहीं, अर्जुन के युद्ध-कौशल की थी। दुःशासन से भीष्म ने कहा भी—"इस प्रकार मर्मस्थलों में घुसनेवाले, कवच को चीर कर शरीर को फाड़ देनेवाले, एक साथ गिरकर मूसल की तरह शरीर को निरे बोझ से ही कुचल देनेवाले बाण शिखण्डी के नहीं, अर्जुन के हैं।"[1] वह उनके धनुष तोड़ तोड़ कर उन्हें प्रतिप्रहार के

---

१. निकृन्तमाना मर्माणि दृढावरणभेदिनः।
मुशला इव मे घ्नन्ति, नेमे बाणाः शिखण्डिनः॥ ६०॥

लिखा तो यहाँ यह है कि अर्जुन ने भीष्म के सारे धनुष निकम्मे कर दिये और फिर उन पर बाणों की वर्षा कर दी। यह उसकी पूर्व-प्रतिज्ञा के विरुद्ध है। दूसरे वह छिप कर तो लड़ ही नहीं रहा था। स्वयं भीष्म ने उसके रथ पर शक्ति का प्रहार किया था। वह इनकी आँखों से ओझल तो था नहीं। फिर उसके बाणों को "नेमे बाणाः

अयोग्य न बना देता तो ये बाण उनके शरीर तक जाने ही कहाँ पाते। अर्जुन ने बाबा पर बाण नहीं चलाये परन्तु वे चल गये ही। शिखण्डी के बाण वास्तव में उसी के थे। बूढ़े बाबा को शर-शय्या पर सुलाने का श्रेय, महाभारतकार ने तो शिखण्डी ही को दिया है। परन्तु तत्त्वज्ञ भीष्म ने अपने स्वर्गारोहण का सेहरा अपने पोते के ही सिर बाँधा। सायंकाल हो ही गया था। युद्ध यथा-नियम बन्द होगया। पाण्डवों ने कुछ समय हर्ष के शंख बजाये। उनका सारा दल नाचा-कूदा। फिर शीघ्र शर-शय्या-शायी पितामह के गिर्द सब इकट्ठे हो गये। दोनों पक्षों के राजाओं ने पितामह को अभिवादन किया। घायल बाबा का सिर नीचे लटक रहा था। सिरहाने लाये गये,

---

शिखण्डिनः" कहने का क्या अर्थ? शिखण्डी के बाणों को अर्जुन के बाण इसी लिए कहा गया प्रतीत होता है कि उसी ने उन्हें बाबा के शरीर तक पहुँचने का अवसर दिया। फिर महाभारत में स्थान स्थान पर शिखण्डी को भीष्म का वध-कर्त्ता कहा है। यथा सञ्जय धृतराष्ट्र से कहते हैं:—

> यस्य वीर्यं समाश्रित्य द्यूतं पुत्रस्तवाकरोत्।
> स शेते निहतो राजन् संख्ये भीष्मः शिखण्डिना॥ भीष्म० १३.४॥

ऐसा ही और भी अनेक स्थलों पर कहा है। ये सारी बातें तभी उपपन्न हो सकती हैं कि वध की प्रक्रिया उपरिलिखित मानी जाय। श्लोकों में यह सारी बात पाई जाती है। केवल उसे संगत करने के लिए कुछ असम्भव भाग को जो स्पष्ट प्रक्षिप्त है असंगत समझ लेने की आवश्यकता है।

परन्तु भावुक बाबा को अपने पोते की धनुर्विद्या का एक और चमत्कार देखना अभीष्ट था। अर्जुन को बुलाया और कहा—"जैसी शय्या दी है, वैसा ही सिरहाना भी दो।" अर्जुन ने कमान में चिल्ला चढ़ा तीन तीर लगातार इस प्रकार चलाये कि भीष्म के लटक रहे सिर को सिरहाने का सा सहारा मिल गया।[1] पितामह ने शाबाशी दी।

उस समय सूर्य दक्षिणायन में था। अर्थात् सर्दियाँ थीं। गर्मियाँ आने तक भीष्म घायल पड़े रहे—कवि के शब्दों में शर-शय्या-शायी।[2] तत्पश्चात् उन्होंने प्राण दिये। युद्ध तो आठ ही दिन और रहा। युद्ध की समाप्ति पर युधिष्ठिर

---

१. उपधानं कुरुश्रेष्ठ फाल्गुनोपानयस्व मे। ३।
शयनस्यानुरूपं वै शीघ्रं वीर प्रयच्छ मे॥ ४॥
प्रगृह्यामन्त्र्य गाण्डीवं शरान् सन्नतपर्वणः।
अनुमान्य महात्मानं भारतानां महारथम्॥ ६॥
त्रिभिस्तीक्ष्णैर्महावेगैरन्वगृह्णात् शिरः शरैः॥ ७॥

इसके पश्चात् यहाँ यह भी वर्णन है कि भीष्म को प्यास लगी। उन्होंने पानी मांगा। अर्जुन ने वारुणास्त्र चला कर पृथ्वी में से पानी का फ़व्वारा निकाल दिया जो सीधा भीष्म के मुँह में गया। यह करामात अभी हमारी समझ में नहीं आ सकी।

२. कवि ने भीष्म बाबा को घायल होने के दिवस से मरण-पर्यन्त उसी रण-भूमि में सुलाया है। उनकी चिकित्सा भी नहीं होने दी। मरते दम तक उन्होंने प्राणों का संयम किया। और उन संयत प्राणों के साथ शान्तिपर्व और अनुशासनपर्व का उपदेश करते रहे। यह कवित्व है, इतिहास नहीं।

श्रीकृष्ण आदि सहित उनके पास उपदेश के लिए फिर आये। भीष्म बुद्धि तथा विद्या के भण्डार थे। आयु बड़ी थी। संसार देखा था। विनीत स्वभाव के थे। जीवन भर आप्त महात्माओं का संग किया था। कई राष्ट्रों को उठते और फिर बैठते देखा था। उन्होंने अपने मरने से पूर्व समाज-शास्त्र तथा राज्य-शास्त्र के महामूल्य मोती सरल सरल कथानकों के रूप में युधिष्ठिर को अर्पण किये। इन्हीं मोतियों का महानिधि महाभारत का शान्तिपर्व तथा अनुशासन-पर्व[1] है। वस्तुतः भीष्म का कहा समाज-शास्त्र संसार के नैतिक साहित्य में एक अनुपम प्रतिष्ठा का स्थान पाने का अधिकारी है।

---

१. आदि पर्व ८८-९२ में महाभारत के पर्वों के नाम दिये गये हैं। उनमें अनुशासन पर्व का नाम नहीं आया। और नहीं मौसलपर्व के पश्चात् किसी और पर्व का नाम आया है। प्रतीत यह होता है कि ये पर्व किसी समय महाभारत में न थे। पीछे से मिलाये गये।

अभिमन्यु की वीरता

भीष्म के पश्चात् कौरव-दल के मुख्य सेनापति द्रोण हुए। उनसे दुर्योधन ने प्रार्थना की कि आपका सारा प्रयत्न अब युधिष्ठिर को जीता पकड़ने में लगना चाहिए क्योंकि यदि युधिष्ठिर मारा गया तो अर्जुन भाई का बदला लेने में अपनी पूरी शक्ति लगायेगा और कौरवों का सफ़ाया कर देगा।[1] परन्तु यदि युधिष्ठिर को जीता पकड़ लिया जाये तो उसे फिर जुए पर राज़ी किया जा सकता है। जुए की शर्त फिर वही लम्बा वनवास हो जायेगी। इससे राज्य फिर हमारा हो जायेगा।[2] द्रोण ने कहा—"युधिष्ठिर को जीता पकड़ना संभव तो है, परन्तु यह उसी समय, जब अर्जुन उसको सहायता के लिए उपस्थित न हो।[3]" सो एक दिन द्रोण ने युधिष्ठिर को पकड़ने का भरसक प्रयत्न किया परन्तु इसमें उन्हें सफलता न हुई। दूसरे दिन त्रिगर्त (जलन्धर) के राजा

---

१. हते युधिष्ठिरे पार्थो हन्यात् सर्वान् हि नो ध्रुवम् ॥ द्रोण० १२.१२॥

२. सत्यप्रतिज्ञे त्वानीते पुनर्द्यूतेन निर्जिते।
पुनर्यास्यन्त्यरण्याय पाण्डवास्तमनुव्रताः ॥ १७ ॥

३. न चेद्युधिष्ठिरं वीरः पालयत्यर्जुनो युधि।
मन्यस्व पाण्डवश्रेष्ठमानीतं वशमात्मनः ॥ २० ॥

सत्यरथ ने अपने चार भाइयों—सत्यवर्मा, सत्यव्रत, सत्येषु, सत्यकर्मा—समेत अग्नि को साक्षी कर शपथ खाई कि 'हम अर्जुन को युद्ध-क्षेत्र से परे ललकार कर ले जायँगे, और हटेंगे तभी जब उसको मार डालेंगे।' त्रिगर्तराज का पाण्डवों से पुराना वैर चला आता था। अर्जुन ने उसे कई बार नीचा दिखाया था। इस कसक के निकालने का अवसर अब उसके हाथ आया। महाभारत में इन शपथ लेनेवाले त्रिगर्त-बन्धुओं को संशप्तक-गण कहा है।

अर्जुन युधिष्ठिर की रक्षा का भार धृष्टद्युम्न पर डालकर संशप्तक-गण से लड़ने लगा। इस लड़ाई में उसने और श्रीकृष्ण ने ऐसा युद्ध-कौशल दिखाया कि शत्रुओं का भयंकर संहार हुआ। उनसे निवृत्त होकर इन्होंने साधारण युद्ध में भी भाग लिया।

दूसरे दिन अर्जुन को फिर संशप्तकों ने एक ओर बुला लिया। और द्रोणाचार्य ने अर्जुन की पीठ पीछे चक्र-व्यूह रचा। इस व्यूह के भेदन का ढंग कृष्ण और अर्जुन के सिवाय इन दो वीरों के सुपुत्र, प्रद्युम्न और अभिमन्यु ही जानते थे। प्रद्युम्न तो लड़ाई में आया न था। आख़िर इस दिन को लड़ाई का सारा भार अभिमन्यु पर आ पड़ा। उसकी आयु जैसे हम ऊपर कह चुके हैं, ३० वर्ष के लगभग थी। युद्ध का प्रमुख संचालक होने के लिए वह अभी बच्चा ही था। वह पाण्डवों और यादवों—दोनों की आँखों का तारा था। युधिष्ठिर

की सत्यप्रतिज्ञता, भीम का बल तथा शत्रु-संहार का सामर्थ्य, अर्जुन की युद्ध-कुशलता, नकुल का विनय और आत्म-संयम, सहदेव की सौम्य आकृति और मनोमोहक भाषण—ये सभी गुण एक अभिमन्यु में इकट्ठे हो गये थे। इनके साथ साथ कृष्ण की बुद्धिमत्ता और उदात्त चरित। गुण-गरिमाओं के मेल ने अभिमन्यु को अपने समय का अद्वितीय वीर बना दिया था। मातृवंश तथा पितृवंश दोनों की दृष्टि में अभिमन्यु एक अनमोल मोती था जिसकी रक्षा सबको अभीष्ट थी। परन्तु इस समय संकट ही ऐसा था कि बिना अभिमन्यु की जान जोखों में डाले उससे पार पाना असंभव था। युधिष्ठिर ने विवश हो आज के युद्ध का अगुआ अभिमन्यु को बनाया। अभिमन्यु के सारथि ने उसे रोका परन्तु वीर-पुत्र रोके से रुक थोड़े ही जाते हैं।

अभिमन्यु आगे बढ़ा। द्रोण के नेतृत्व में सब कौरव महारथी इसके सम्मुख हुए। यह सबको परास्त करता हुआ व्यूह में प्रविष्ट हुआ। इसके पीछे पीछे पाण्डव-दल के अन्य महारथी भी आ रहे थे। अभिमन्यु ने व्यूह में छिद्र तो कर ही दिया था। सब उस द्वार से घुस जाते परन्तु कौरव-दल के प्रमुख वीरों का वहीं जमाव हो गया। धृतराष्ट्र का जामाता सिन्धुराज जयद्रथ पाण्डवों का वैरी था। भीमसेन ने द्रौपदी के स्वयंवर में उसे नीचा दिखाया था। उसने उस अपमान का आज बदला लिया। ऐसी वीरता से लड़ा कि अभिमन्यु के

पीछे कोई पाण्डव योद्धा व्यूह के अन्दर घुस नहीं सका। यहाँ तक कि अभिमन्यु के अस्त्र-शस्त्र भी पीछे रह गये।

इस प्रकार अभिमन्यु कौरव-दल की असंख्य अक्षौहिणियों में अकेला घिर गया। इस अकेले ने युद्ध-विद्या के वे जौहर दिखाये कि बड़े बड़े योद्धा दंग रह गये। कौरव-दल के वीर जो इसके सामने आये खेत रहे। दुर्योधन का पुत्र लक्ष्मण, कोशल का राजकुमार बृहद्बल, अंगराज कर्ण के छः सचिव, मागध राजकुमार इत्यादि तो जान से हाथ धो बैठे। और शकुनि, कर्ण, शल्य, दुःशासन, भूरिश्रवा, कृतवर्मा, दुर्योधन आदि सभी वीर अकेले अकेले अभिमन्यु से लोहा लेने में असमर्थ रहे। अभिमन्यु के धनुष के चलाने में अन्तर पड़ता ही न था। कोई उस पर आक्रमण करे तो कैसे? अन्त को द्रोण, अश्वत्थामा, कृप, कर्ण, कृतवर्मा और बृहद्बल—इन छः रथियों ने इकट्ठे मिलकर इकले पाण्डव-कुमार को घेर लिया। इन सबका मुक़ाबिला भी उसने सफलता-पूर्वक किया। यहाँ तक कि बृहद्बल तो जैसे हमने ऊपर कहा है, मारा ही गया। अब कर्ण ने द्रोण से मन्त्रणा की—"इस घोर विपत्ति का उपाय क्या?" द्रोण ने देखा कि कौरव-दल में अभिमन्यु केवल अकेला आया ही नहीं है। इसके पास धनुष आदि युद्ध के शस्त्र भी एक एक हैं। फ़ालतू सामान की गाड़ी चक्रव्यूह में प्रवेश नहीं पा सकी। उसने कर्ण को कहा—"इस विपत्ति का इलाज है अभिमन्यु का धनुष तोड़ना या रथ बिगाड़ देना।"

आफ़त यह है कि न इसका रथ ठहरता है, न हाथ। कहीं कोई चीज़ रुके तो कोई उस पर वार भी करे। आलात-चक्र के से घुमाव में क्या पता लगे, रथ कहाँ है, कमान कहाँ ?[1]" कर्ण ने अब अपनी धनुर्विद्या को सफल किया। अभिमन्यु की चक्कर काटती कमान को जो बिजली की तरह अस्थिर थी अपने तीरों का निशाना बना तोड़ दिया। अब घोड़े चलने से रुक गये। भोजराज ने उन्हें काट गिराया। कृप ने सारथि और पार्ष्णि को मार डाला। अभिमन्यु रथ से उतर आया। कोई साथी था नहीं जिसके रथ पर वह चढ़ जाता। अब वह अकेला रथ से विरथ हुआ, बे तीर-कमान का योद्धा एक तरफ़ था और सारा कौरव-दल अपनी पूरी सुसज्जा के साथ दूसरी तरफ़। अभिमन्यु तलवार लिये पर-सेना पर लपक रहा था। हाथ की उस्तादी यह कि सभी प्रतियोधी यही समझ रहे थे कि लो! वह तलवार अभी मुझ पर गिरी कि गिरी। इतने में द्रोण ने तीरों से तलवार की मुट्ठी चीर दी। कर्ण ने चर्म (ढाल) छेद दिया। अब अभिमन्यु ने श्रीकृष्ण का हथियार—चक्र—उठाया। हत्यारों ने मिलकर उस पर भी तीरों की वर्षा की। वह भी काम का न रहा। अभिमन्यु का अन्तिम शस्त्र था गदा। उसे लेकर दौड़ा। अश्वत्थामा सामने

१. आलातचक्रवत् सर्वान् त्वरमाणः समार्पयन्॥ ६॥
निघ्नन्नमित्रान् सौभद्रः परमास्त्रैः प्रतापवान्।
अदर्शयत तेजस्वी दिक्षु सर्वासु भारत॥ ७॥ द्रोण० ३९॥

था। वह रथ से हट कर तीन पग पीछे चला गया। उसके घोड़े मारे गये और सारथि और पार्ष्णि की भी जान निकल गई। दु:शासन के पुत्र ने गदा उठाकर अभिमन्यु का सामना किया। वह अकेला होता तो एक क्षण भी अभिमन्यु के आगे खड़ा न रह सकता, परन्तु और महारथी भी साथ साथ तीर बरसाते जा रहे थे। एक साथ दु:शासन-सुत और अभिमन्यु धम से पृथिवी पर गिर पड़े। दु:शासन-सुत पहले उठा। उसने गदा लेकर अभिमन्यु के सिर पर इस ज़ोर से चोट की कि उसने उठते उठते तीरों की बौछार के बीच में प्राण त्याग दिये। सब ओर हाहाकार मच गया—अभिमन्यु मारा गया। सारा दिन इस अकेले बालक ने कौरव-दल के वृद्ध तथा युवा वीरों के छक्के छुड़ाये रखे थे। अन्त को केवल शस्त्राभाव के कारण विवश हुआ उधर धुरन्धर धनुर्धारियों की शर-वर्षा को सहन करता था, इधर दु:शासन के पुत्र से गदा के दो दो हाथ करने लगा। इस अवस्था में भी अश्वत्थामा का रथ, सारथि आदि मार गिराये और उसे सामने न आने दिया। इस विवशता की दशा में यदि अभिमन्यु युद्ध में आगे ही आगे बढ़ने के स्थान में पीछे की ओर लौटता तो सम्भवत: उसकी हत्या न होती और विजय पाण्डवों की रहती। परन्तु अभिमन्यु की शिक्षा में, जैसे अर्जुन ने पुत्र-वध का विलाप करते हुए बतलाया, अभी अपूर्णता थी। चक्र-व्यूह के भेदन की उसे प्रवेश-विधि तो सिखाई जा चुकी थी, और वह स्वयं उसके पिता

अर्जुन के द्वारा, परन्तु निर्गमन—बाहर निकलने—की विधि वह अभी नहीं सीखा था।[1] तभी तो महाभारतकार कहते हैं कि अभिमन्यु अभी बच्चा था। गुरु-गर्भ से अभी निकला ही न था। युद्ध में मानों शस्त्र-क्रीड़ा के अभ्यास के लिए आया था। चक्र-व्यूह की भूल-भूलैयों में दिन भर घूमा। अन्त को कुछ तो व्यूह के गोरख-धन्धे ने, और कुछ कौरवों की क्रूरता ने उस गुरु-गर्भस्थ बालक का घात कर दिया।

अभिमन्यु की वीरता रोमाञ्चकारिणी थी, तो हत्या अत्यन्त हृदय-विदारिणी। पाण्डव-दल पर इस घटना से मानो वज्र-पात हो गया। तो क्या कौरव-दल सुखी था? इस लाल सायंकाल में अभिमन्यु का निष्पाप लहू द्रोण, द्रौणि, कृप, कर्ण, कृतवर्मा, दुर्योधन और दुःशासन सभी के सिर पर भूत की तरह सवार था। क्षत्रियों के स्थान में क़साई होते तो संभवतः चैन की नींद सो सकते। काम क़साइयों का-सा कर गुज़रे थे, परन्तु हृदय को क्या करें? वह अभी क़साई न था। विजय पाई सही परन्तु किसने? एक निःशस्त्र बालक पर इतने धनुर्धरों की संयुक्त शर-वर्षा ने और वह भी सीधे, सामने से आकर, वीर की तलवार से लोहा लेकर नहीं, दुःशासन-सुत की गदा की आड़ में। कमानें कड़क कड़क कर कह रही थीं,

---

१. न चोपदिष्टस्तस्यासीन्मयानीकाद्विनिर्गमः ॥ द्रोण० ७२,२१ ॥

विजय अभिमन्यु की हुई है। गदा लज्जित थी कि किस गीदड़ के हाथों सिंहसुत के सिर पर गिरी हूँ। जीते अभिमन्यु ने इनकी भुजाओं को हराया था। मरे अभिमन्यु ने हृदयों को हिला दिया। रात की साँय साँय में अभिमन्यु का ख़ून पुकारता था। भारतों की वीरता का कलङ्कित माथा खाने को दौड़ता था। कौरव क़साई हैं, कौरव क़साई हैं—यह ध्वनि थी जो चारों ओर गूँज रही थी। विजयी कौरव अपना सा मुँह लिये मानों भीरुओं का तरह बिलों में घुसे जा रहे थे। विजय का सेहरा दिग्दिगन्तर संध्या की लालिमा में अभिमन्यु के शोणित-शोभी सिर पर पहिना रहे थे। हतोत्साह कौरवों के हृदय में यह साहस ही कहाँ था कि वीरों के रक्त में नहाई दिशाओं के उस विश्व-व्यापी जय-नाद में अपना करुण स्वर ही मिला सकें। युद्ध की जीत का मोल आत्मा की हार था।

———

पुत्र-वध का बदला

अभिमन्यु की वीरता के वृत्तान्त में हमने कृष्ण और अर्जुन के संशप्तकगण से भिड़े रहने की वार्ता की ओर यथोचित ध्यान नहीं दिया। श्रीकृष्ण की जीवनी में अभिमन्यु के वध ने इतना स्थान इसलिए ले लिया है कि युद्ध का शेष भाग मानों इस क्रूर हत्या के रंग में रँगा हुआ है। अभिमन्यु सात्वती-पुत्र था। उसका कृष्ण के वंश से उतना ही सम्बन्ध था जितना अपने पिता अर्जुन के वंश से। श्रीकृष्ण युद्ध में निश्शस्त्र थे सही, परन्तु समराभिनय के मुख्य नायक, अर्जुन के सारथि होने से और इससे भी बढ़कर युधिष्ठिर के साम्राज्य के कर्णधार—एक-मात्र मंत्री—होने से युद्ध की लीला के सूत्र-धार वही थे। महाभारत का युद्ध श्रीकृष्ण की जीवनी की मुख्य घटना है। इसी पर इनके जीवन के लक्ष्य की सिद्धि या असिद्धि निर्भर है। तब तो जो बाल-वध इस युद्ध की प्रवृत्तियों पर इतना गहरा प्रभाव डालता है कि उस वध के पश्चात् कोई से दो वार लड़ें, अभिमन्यु का शुभनाम उनकी लड़खड़ाती जीभ पर आये बिना रह ही नहीं सकता, उसका सम्बन्ध श्रीकृष्ण के जीवन से कैसे न होगा?

अभिमन्यु की हत्या के पूर्व दिन भी अर्जुन संशप्तकगण से लड़ने गया था। श्रीकृष्ण ने अपनी सारथि-विद्या के और अर्जुन ने अपनी धनुर्विद्या के हुनर ख़ूब दिखाये। अभिमन्यु के रथ और कमान के घुमाओं का वर्णन करते हुए हम उसके अपने और उसके सारथि के कौशल की प्रशंसा ऊपर कर ही चुके हैं। वह लीला शिष्य की थी और यहाँ साक्षात् एक गुरु ही का नहीं, दो गुरुओं—एक गुरु और एक गुरुओं के भी गुरु—उस समय के दो युद्ध-विद्या के सर्वोपरि उस्तादों का—अपना हस्त-लाघव है। कृष्ण ने रथ को वह चक्कर दिये और अर्जुन ने कमान को इस फुरती से उठाया, चलाया, और घुमाया कि संशप्तकों की सेना ने चारों दिशाओं में अर्जुन ही अर्जुन देखे[1]।

---

१. सरथो भ्राजतेऽत्यर्थं मुह्यमाने रणे तदा।
उह्यमानमिवाकाशं विमानैः पाण्डुकैर्हयैः ॥५॥
मण्डलानि ततश्चक्रे गतप्रत्यागतानि च ॥ ६ ॥ द्रोण० १९ ॥

महाभारतकार ने इसे त्वाष्ट्र अस्त्र का चमत्कार बताया है। इसके अतिरिक्त तीरों की बौछार रोक कर उन्हें तितर बितर करने के लिए वायव्यास्त्र का प्रयोग भी इसी प्रकरण में वर्णित है।

अथास्त्रमरिसंघघ्नम् त्वाष्ट्रमभ्यस्यदर्जुनः।
ततो रूपसहस्राणि प्रादुरासन् पृथक् पृथक् ॥११
वायव्यास्त्रेण तैरस्तां शरवृष्टिमपाहरत् ॥ २२ ॥

उस रोज़ यह युद्ध दिन के कुछ हिस्से रहा था। शेष समय अर्जुन ने प्राग्ज्योतिष (आसाम) के राजा भगदत्त से लड़कर उसे मार गिराया था। दूसरे दिन संशप्तकगण का झमेला सारा दिन रहा। सायंकाल उनकी सेनाओं का संहार करके लौटने लगे तो अर्जुन ने कहा—मेरा हृदय धड़क रहा है; मुझसे बोला नहीं जाता, सारे शरीर में सनसनी सी मालूम हो रही है। अवश्य कोई अनिष्ट हुआ है। श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—युधिष्ठिर का साम्राज्य फिर से स्थापित होना निश्चित है। इस बड़े इष्ट की सिद्धि में छोटे-मोटे अनिष्ट हो भी जायँ तो उनकी बहुत पर्वा न करनी चाहिए[1]।

संध्या का समय हो चुका था। दोनों वीरों ने वहीं ईश्वर की आराधना की और इस नित्य कर्म से निवृत्त हो अपनी छावनी की ओर लौटे।[2] वहाँ पहुँचते ही यह अशुभ समाचार मिला कि अभिमन्यु अब इस संसार में नहीं रहा। अर्जुन के हृदय पर मानों बिजली सी गिरी। जब उसे बताया गया कि अभिमन्यु अकेला निःशस्त्र छः महारथियों से घिर गया था तो वह अपने शोकातुर हृदय को थाम न सका। "हाय!

---

१. व्यक्तं शिवं तव भ्रातुः साम्राज्यस्य भविष्यति।
मा शुचः किञ्चिदेवान्यत् स्तोकानिष्टं भविष्यति॥

द्रोण० ७२, ७

२. ततः संध्यामुपास्यैव वीरौ वीरावसादने।
कथयन्तौ रणे वृत्तं प्रयातौ रथमास्थितौ॥ ८॥

मेरे मरते लाल ने मुझे पुकारा होगा। पिता की ओर से उत्तर न पाकर जनक की निष्ठुरता का गहरा घाव मर रहे पुत्र की छाती में पैठ ही तो गया होगा। नहीं, वह वीर था। वह मरते हुए रो नहीं सकता। पाण्डवदल उसकी सहायता को क्यों नहीं गया ? जयद्रथ ने नाका बन्द कर रखा था ? तो फिर लो ! यदि कल सूर्यास्त से पूर्व जयद्रथ का वध न कर लूँ तो स्वयं जलती आग में प्रवेश कर जाऊँगा। हाँ ! यदि जयद्रथ युद्ध से हट जाय या हमारी शरण में आजाय तो उसका बचाव हो सकता है।" अर्जुन ने पुत्र-वध के शोक का बुख़ार इस घोर प्रतिज्ञा के रूप में निकाला। उधर अन्त:पुर में सुभद्रा का हाल अत्यन्त बेहाल हो रहा था। श्रीकृष्ण उसको सान्त्वना देने गये तो वह फूट फूट कर रोई। कृष्ण ने उसे दिलासा दिया। कहा—'जो गति अभिमन्यु की हुई है उसके लिए तो हम सब जन्मकाल से तरसते हैं।[1] ऐसे वीर की माता होकर तू विलाप कर रही है ? तेरे पिता वीर ! तेरे भाई-बन्धु सब वीर ! सारी सुसराल वीरों की ! और फिर यह भीरुओं का-सा विलाप ? अभिमन्यु के वध का बदला जयद्रथ के वध से लिया जायगा। अर्जुन प्रतिज्ञा कर चुका है और वह पूरी होकर

---

१. ये चान्येऽपि कुले सन्ति पुरुषा नो वरानने।
सर्वे तां गतिं यान्तु याभिमन्योर्यशस्विनः॥

द्रोण० ७८,४

रहेगी। अरी! देख तो! वह उत्तरा रो रही है। तू उसे दिलासा देगी या स्वयं रोयेगी? दो कुलों की इकट्ठी शपथ में जादू था। बदले की बात में जादू था। उत्तरा की अनाथता में जादू था। वासुदेव की भगिनी, अर्जुन की पत्नी सुभद्रा शोक छोड़ झट आशीर्वाद देने लगी:—"बेटा! तेरी वह गति हो जो यज्ञ करने-वाले दानशील आत्मवित् ब्राह्मणों की होती है——। जो यशस्वी ब्रह्मचारियों, कठोरव्रत मुनियों, एक पत्नीव्रत गृहस्थों का होती है।——।" जो सुभद्रा अभी ममता की मारी, मोह की मूर्ति, अज्ञान-सागर में डूबी, शोकाश्रुओं का पुञ्ज सी बन रही थी, श्रीकृष्ण के नीतियुक्त उपदेश से, जिसमें कुल के गर्व का, क्षात्र-धर्म का और साथ ही साथ अधम बदले की वृत्ति का भी पुट दिया गया था, एक ही क्षण में पुण्य—अशीषों की पुतली, आदर्श पुत्रवत्सलता की प्रतिमा, सच्ची वीरजाया, वीर-माता बन गई। वेदना और अशीष, मोह और भक्ति ये भाव हैं तो परस्पर विरोधी ही, परन्तु मानव मानस का चमत्कार परस्पर विरोधों के इसी अद्भुत मेल में है। वेदना विरक्ति बन जाती है। शोक के अटूट स्रोत से झट शान्त-रस फूटने लगता है। मोह की मलिन वैतरणी के साथ ही साथ, नहीं उसके झीने झीने आँचल के नीचे ही—ज्ञान की पवित्र गंगा बह रही है। पुत्र-हीना सुभद्रा सहसा विरक्ता साध्वी हो गई। जिसे स्वयं सान्त्वना चाहिए थी, उत्तरा का हाल बुरा देख झट उसे धैर्य के उपदेश देने लगी। कृष्ण ने अनाथा उत्तरा की ओर

संकेत कर उसके प्रति सुभद्रा की कर्तव्य-भावना को प्रेरित कर दिया। कर्तव्य ने मोह को मार दिया—नहीं, संभवत: केवल अन्तर्हित कर दिया।

कृष्ण इस घर के धन्धे से निवृत्त हो सोचने लगे—यह प्रतिज्ञा तो मानों बिना ओर छोर का सागर है। इसके पार लगें तो क्योंकर ? सर्वसाधारण के सामने खुली घोषणाओं के साथ यह भयंकर प्रतिज्ञा की गई थी। गुप्तचरों ने इसका समाचार कौरवदल में पहुँचा दिया। कृष्ण के चर ख़बर लाये कि जयद्रथ ने तो यह भयंकर समाचार सुन युद्ध से भाग जाने का निश्चय कर हो लिया था परन्तु द्रोण ने उसे यह कह कर ठहरा लिया कि कल एक जटिल व्यूह रचेंगे। उसके अन्त में जयद्रथ का स्थान होगा। अवधि एक हो दिन की तो है। कौरवसेना की समूची शक्ति गाण्डीव-धनुष से भी एक दिन के लिए तो जयद्रथ को बचा ही लेगी।

प्रतिज्ञा करने से पूर्व अर्जुन ने कृष्ण की सलाह ही ले ली होती। तब प्रतिज्ञा संभवत: इतनी भयंकर न रहती। पर फिर उसका स्वरूप विस्फोटक का—धम से फूट उठनेवाले मसाले का—न रहता। उसके द्वारा पुत्र-वध का बुख़ार न निकल सकता। अर्जुन को सुलाकर और उसे यह विश्वास दिला कर कि कल गाण्डीव के तीर होंगे और जयद्रथ का सिर होगा, श्रीकृष्ण अपने कैम्प में चले गये। कुछ देर सो कर रात के बीच ही में

उठ खड़े हुए और अपने सारथि दारुक को बुलाकर कह दिया—रथ तैयार कर लो। लड़ाई का सारा सामान सुसज्जित रखो। देखें, कल क्या पेश आती है ?

दूसरे दिन द्रोण ने एक जटिल व्यूह रचा। आगे का भाग सचक्र शकट का था। उसके पीछे सूचीपद्म था। सूचीपद्म के गर्भ में गूढ़ व्यूह था।[1] इन सबकी समाप्ति पर सेनाओं से घिरा हुआ जयद्रथ खड़ा था। शकट के मुख पर द्रोण थे। पद्म के मुख पर कृतवर्मा। जलसन्ध, दुर्योधन, कर्ण आदि इनके सहायक थे।

अर्जुन की पहली मुठभेड़ दुःशासन से हुई। उसे सेना-सहित परास्त कर द्रोण के पास पहुँचा। अर्जुन ने कहा—आप मेरे गुरु हैं, कृपया मुझे रास्ता दे दीजिए। उन्होंने नहीं माना। कुछ देर दोनों धनुर्विद्या के मनोहर जौहर दिखाते रहे। द्रोण ने अर्जुन और कृष्ण दोनों को घायल कर दिया। और कमान घुमा घुमा कर उनके चारों ओर तीर तीर कर दिये। अर्जुन इन तीरों को रोकता रहा। स्वयं भी तीर चलाता रहा। परन्तु वह तो मानों गुरुदेव को उनका पढ़ाया पाठ सुनाना-मात्र था। इन शरों में अर्जुन हस्त-लाघव का तो प्रदर्शन करता था परन्तु गुरु-चरणों को चोट नहीं पहुँचाता था। कृष्ण ने उसके

---

1 द्रोण पर्व ८७,२२-२४

इस लाड़-चाव के अंदाज़ को ताड़ लिया। कहा—भाई! समय जाता है। अर्जुन ने गुरु के रथ की प्रदक्षिणा कर द्रोण के नाके से छुट्टी पाई। इस पर आगे चलकर दुर्योधन सटपटाया। कहने लगा—आचार्य ने अपने प्यारे शिष्य पर कृपा दिखाई है। परन्तु कर्ण ने उसे समझा दिया—भाई! रास्ता तो वह बाहुओं के बल से ही ले सकता था। आचार्य ने अपना मान भी रख लिया और युद्ध का नियम निभाने को उससे दो हाथ भी कर लिये। इस पर क्रुद्ध काहे को होना? द्रोण पीछे से तीरों की वर्षा करता रहा परन्तु इसका अर्जुन की प्रगति पर कोई असर न हुआ।

अब भोज और कृतवर्मा अर्जुन के सामने आये। इन दोनों को आन की आन में पार कर कम्बोज (अफ़ग़ानिस्तान) के राजा सुदक्षिण और श्रुतायुध से भेंट हुई। कृतवर्मा को अर्जुन ने छोड़ दिया परन्तु इन दोनों को मृत्यु का द्वार दिखा ही दिया। इनके पश्चात् श्रुतायु, अच्युतायु, दीर्घायु तथा नियतायु को मार गिराया। इन युद्धों में एक बार अर्जुन अच्युतायु के शूल से मूर्च्छित होगया। कृष्ण ने उस समय रथ को भी सँभाला, अर्जुन को भी। रथ के चलाने-मात्र से शत्रुओं के वार ख़ाली लौटाये। इस हल्ले में स्वयं श्रीकृष्ण पर भी तीरों की वर्षा हो गई। आगे चलकर अम्बष्ठ ने इन पर गदा चलाई। अर्जुन ने इसका बदला चुकाने में देर न की। उस गदा को तो तीरों से छेद दिया और जब अम्बष्ठ ने एक

और गदा उठाई तो क्षुरप्रों से, जो चपटे अग्रभाग के तीर होते हैं, गदा भी काट दी और अम्बष्ठ की भुजायें भी उड़ा दीं। एक और तीर से उसका सिर गर्दन से अलग कर दिया।

इसके पश्चात् दुर्योधन स्वयं लड़ने को बढ़ा। श्रीकृष्ण ने कहा—लो! अभी युद्ध का फ़ैसला हो जायगा। सारे उपद्रवों का मूल यही दुष्ट है। अपने समस्त संकटों का स्मरण कर इस एक को गाण्डीव का ग्रास बनाओ। फिर कोई लड़नेवाला रहेगा ही नहीं। अर्जुन ने गाण्डीव का बहुतेरा ज़ोर लगाया। तीर ठीक निशाने पर बैठे परन्तु दुर्योधन पर आँच न आई। श्रीकृष्ण हैरान हुए। अर्जुन ने कहा—आचार्य की कृपा है[1]। उनसे कवच लाया है। यह इस समय मरेगा नहीं। तो भी उसके घोड़े मार डाले। चाप चीर दिया, सारथि और पार्ष्णि का घात कर दिया। शरीर का जो भाग कवच के बाहर था, उसे घायल कर दिया। दुर्योधन इस व्यथा में फिर सामने खड़ा न रह सका।

आज की लड़ाई में कल की सी अवस्था न थी। अर्जुन ने जहाँ व्यूह का भेदन किया वहाँ दूसरे योद्धाओं का भी व्यूह में प्रवेश हो गया। स्थान स्थान पर संकुल युद्ध हो

---

१. द्रोणेनैषा मतिः कृष्ण धार्तराष्ट्रे निवेशिता।
अभेद्या हि ममास्त्राणामेषा कवचधारणा ॥१०२,११॥

रहे थे। अर्जुन जिन वीरों को जीत कर आगे निकल जाता, वे पाण्डव-सेना के और महारथियों से उलझ जाते थे। इस प्रकार अर्जुन का भार हलका हो जाता था।

हाँ! इन महारथियों में इतना बल अथवा फुर्ती न थी, न इनके कृष्ण ऐसे सारथि थे कि वे भी अर्जुन के साथ साथ कौरव-दल को लाँघ कर जयद्रथ तक पहुँच सकते। ज्यों ज्यों दिन ढलता गया, अर्जुन और उसके अनुयायी योद्धाओं के बीच का अन्तर बढ़ता गया। यहाँ तक कि पहले तो अर्जुन का रथ पाण्डव-सेना की दृष्टि से ओझल हुआ, फिर उसके तीरों, तथा ज्या की आवाज़ आनी भी बन्द हो गई। अर्जुन ने कई और विजयें प्राप्त कीं और श्रीकृष्ण ने प्रसन्न होकर शङ्ख बजाया। इस शङ्ख की ध्वनि विशेष थी। युधिष्ठिर उसके सुनते ही समझा—अर्जुन की सम्भवतः मृत्यु हो गई है, और कृष्ण स्वयं अपने दिवंगत सखा की प्रतिज्ञा पूरी करने में लग गये हैं। यह विचार आते ही उसकी छाती दहल गई। उसने सात्यकि से कहा—अपने गुरु की ख़बर लाओ। सात्यकि ने लाख कहा—उनका बाल बाँका करनेवाला कौरव-दल में कोई नहीं। फिर मैं तो उन्हीं के आदेश से आपकी रक्षा पर नियुक्त हूँ। मेरे पीछे आपको द्रोण राहु की तरह ग्रस लेगा। परन्तु युधिष्ठिर ने नहीं माना। कन्याओं द्वारा सात्यकि का अभिषेक कराया[1],

---

१. लाजैर्गन्धैस्तथा माल्यैः कन्याभिश्चाभिपूजितः ॥

द्रोणपर्व ११२,६४

और मंगल कामनाओं के साथ अर्जुन का पता लेने को भेजा। सात्यकि चेला अर्जुन ही का था। उसी रास्ते से कौरवदल में प्रविष्ट होता गया जिससे अर्जुन उससे पूर्व घुसा था। अन्य वीरों के साथ साथ इसकी मगधराज जलसन्ध से मुठभेड़ हो गई। जलसन्ध ने इसकी बाईं भुजा छेद दी और तलवार के वार से कमान काट डाली। जलसन्ध हाथी पर सवार था। सात्यकि ने उसके हाथी को तो लहूलुहान कर ही दिया था। अब पैनी धार के दो तीरों से उसकी दोनों भुजाएँ, और फिर तीसरे तीर से उसका सिर शरीर से अलग कर दिया।

द्रोण और कृतवर्मा को सात्यकि पीछे छोड़ आया था, परन्तु द्रोण ने फिर सात्यकि पर आक्रमण किया और उसके सारथि को मूर्च्छित कर दिया। सात्यकि ने इधर रथ को स्वयं सँभाला,[1] उधर द्रोण के वारों का प्रत्युत्तर तीरों से देता रहा। यह कृष्ण की शिक्षा का चमत्कार था। द्रोण सात्यकि के आगे ठहर न सके। व्यूह-द्वार की ओर लौट गये। सात्यकि के सामने यवन हुए, पार्वतीय राजा हुए। सबका

---

१. चकार सात्यकी राजन् सूतकर्मातिमानुषम् ।
अयोधयच्च यद्द्रोणं रश्मीन् जग्राह च स्वयम् ॥
द्रोणपर्व ११७,२५

श्रान्तश्च श्रान्तवाहश्च विमनाः शस्त्रपीडितः ।
ईदृशं सात्यकिं संख्ये निर्जित्य च महारथम् ॥२९॥
अधिकं त्वं विजानीषे स्ववीर्यवशमागतम् ॥३०॥
द्रोण० १४३

अपना अपना युद्ध का प्रकार था। सबकी अपनी अपनी रण-सामग्री थी। उससे यहाँ प्रयोजन नहीं। सार यह कि सात्यकि संग्राम के उसी क्षेत्र में जा पहुँचा, जहाँ अर्जुन था। अर्जुन की दृष्टि इस पर उस समय पड़ी जब यह भूमि पर गिरा पड़ा था। भूरिश्रवा ने इसकी छाती पर लात मार एक हाथ से इसके सिर के बाल पकड़ रखे थे, दूसरे हाथ में तलवार लिये खड़ा था। सात्यकि ने अपने शरीर के चक्करों से उसकी तलवार अपनी गर्दन के ठीक सामने थोड़ी देर तक न आने दी।[१] इतने में कृष्ण ने इसकी इस व्यथा की ओर अर्जुन का ध्यान आकृष्ट किया।[२] अर्जुन ने गाण्डीव पर क्षुरप्र चढ़ा दिया, वह सीधा भूरिश्रवा की भुजा को काट कर सात्यकि के सिर की रक्षा का हेतु जा बना।

भूरिश्रवा ने अर्जुन को धिक्कारा। कहा—"पर-पुरुष से लड़ रहे एक कौरव भाई का ख़ून करता है? अपने पराये का भेद ही नहीं जानता? यह कृष्ण के सखित्व का फल है।

---

१. तावत् क्षणं सात्वतोऽपि शिरः संभ्रमयंस्त्वरन्। ६१॥
यथा रथाङ्गं कौलालो दण्डविद्धन्तु भारत।
सहैव भूरिश्रवसो बाहुना केशधारिणा ॥६२॥ द्रोण० १४२॥

२. क्षीणायुधे सात्वते युध्यमाने ततोऽब्रवीदर्जुनं वासुदेवः।
१४२,४८

अरे ! वृष्णि तो व्रात्य है—बिरादरी से निकले हुए। तूने किनका सहारा लिया[1] ?"

---

१. इदं तु यदतिक्षुद्रं वार्ष्णेयार्थे कृतम् त्वया ।
वासुदेवमतं नूनं नैतत्त्वय्युपपद्यते ॥ १३ ॥
को हि नाम प्रमत्ताय परेण सह युध्यते ।
ईदृशं व्यसनं दद्यात् यो न कृष्णसखा भवेत् ॥ १४ ॥
व्रात्याः संश्लिष्टकर्माणः प्रकृत्यैव विगर्हिताः ।
वृष्ण्यन्धकाः कथं पार्थ प्रमाणं भवता कृताः ॥१५ द्रोण० १४३॥

प्रतीत यह होता है कि श्रीकृष्ण ने राष्ट्र-प्रेम अथवा वंश-प्रेम के स्थान में सत्य-प्रेम का सिद्धान्त प्रचलित किया था। अपने कुलवाले का पक्ष लेना, अन्यवंशीय से उसे हर अवस्था में अच्छा समझना—इस विचार के स्थान में जो अपना साथी है, अपने उद्देश्य से सहमत है और उसी के लिए लड़ रहा है, उसकी अपने वंशजों से भी रक्षा करना—यह सिद्धान्त चालू किया था । इससे राष्ट्रीयता-प्रधान (Natonalism-ridden) नीतिज्ञों की दृष्टि में यादव लोग व्रात्य—बहिष्कृत थे ।

भीष्म के सामने चक्र उठाय कृष्ण-द्वारा राजाओं के देवत्व के सिद्धान्त का निराकरण कंस-वध के उदाहरण से किये जाने का वर्णन ऊपर हो चुका है । दुर्योधन के निग्रह का प्रस्ताव भी कृष्ण की इस नई क्रान्तिकारिणी नीति का क्रियात्मक प्रचार था । ऐसे सिद्धान्तों के प्रतिपादन से राष्ट्र-जगत् में विप्लव मचना तथा पुराने ढर्रे के राज-भक्तों तथा राजाओं में कृष्ण का व्रात्य समझा जाना स्वाभाविक था ।

कृष्ण के जीवन की ये झाँकियाँ महाभारत में हैं कम परन्तु इनसे कृष्ण की नीति पर प्रकाश ख़ूब पड़ता है ।

अर्जुन ने उत्तर दिया—"भाई! हमारे तो वही अपने हैं जो आपत्ति में आड़े आयें। रही यह बात कि मैंने तुझ पर ऐसी अवस्था में, जब तू किसी और के साथ लड़ रहा था, वार क्यों किया? संकुल युद्ध में एक से एक नहीं लड़ सकता। फिर तूने भी तो निश्शस्त्र श्रान्त सात्यकि के बाल पकड़ रखे थे और उसका सिर काटना चाहता था।" भूरिश्रवा कर्मकाण्डी था। योग का अभ्यास किया करता था। उसने समझा—मृत्यु निकट है। ध्यानावस्थित हो गया। उधर सात्यकि ज़मीन से उठ खड़ा हुआ था। भूरिश्रवा की वह लात की चोट जो अभी उसकी छाती पर लगी थी ताज़ा ही थी। क्रोधाभिभूत सात्यकि झट तलवार लेकर उस योगावस्थित महात्मा पर लपका। कृष्ण ने रोका, अर्जुन ने रोका, भीम ने रोका, प्रतिद्वन्द्वियों में से तो सबने रोका ही। परन्तु सात्यकि ने अपने ताज़ा तिरस्कार के प्रतिकार-रूप में उसका सिर धड़ से उतार ही दिया।

सात्यकि को भूरिश्रवा के वध से रोकनेवालों में हमने भीम का नाम भी लिया है। भीम भी सात्यकि की तरह अर्जुन, और उसके साथ साथ सात्यकि की भी, ख़बर लाने के लिए भेजा गया था। उसके पराक्रम का वर्णन हम यहाँ न करेंगे। श्रीकृष्ण के जीवन से इसका सम्बन्ध नहीं। इतना उल्लेख आनेवाले वृत्तान्त को सुगम बनाने के लिए आवश्यक है कि भीम द्रोण से लड़ कर और उन्हें हटा कर ही आगे

निकला। अर्जुन और सात्यकि की तरह उनकी प्रदक्षिणा नहीं की। वास्तव में भीम का द्रोण में गुरुभाव था ही नहीं। या तो शील की कमी थी या आचार्य से यह कुछ विशेष सीखा ही न था। कर्ण से भीम की कई बार टक्कर हुई। उसे बहुत बार नीचा दिखाया, परन्तु मारा इसलिए नहीं कि वह शिकार अर्जुन का है। अन्तिम टक्कर में कर्ण विजयी रहा। उसने भीम के प्राणों पर आँच न आने दी, क्योंकि उसे पता था कि यह मेरा कनिष्ठ सहोदर है—एक ही माँ का जाया है। कुन्ती से प्रतिज्ञा भी कर चुका था कि अर्जुन के सिवा और भाइयों की जान न लूँगा।

अब पाण्डव-पक्ष के ये तीन वीर एक ओर थे और कौरवों का सारा दल-बल दूसरी ओर। कृष्ण ने अपने शंख की विशेष प्रकार की ध्वनि से अपना आदेश पाण्डव-दल में खड़े सारथि दारुक के पास पहुँचा दिया। वह कृष्ण का रथ लिये, जहाँ घमासान का रण पड़ रहा था, आ उपस्थित हुआ। वह रथ सात्यकि को दे दिया गया। भूरिश्रवा के वध से लेकर इस समय तक सात्यकि भीम के रथ में खड़ा लड़ रहा था।

सायंकाल होने को था। अर्जुन व्यूह के उसी भाग में उपस्थित था जिसमें जयद्रथ। कर्ण, कृप, अश्वत्थामा, कर्ण का पुत्र वृषसेन, शल्य, दुर्योधन सब एक साथ जुटे हुए जयद्रथ की रक्षा कर रहे थे। इधर अर्जुन की प्रतिज्ञा थी, उधर यह विचार था कि यदि यह प्रतिज्ञा निष्फल हो जाय तो अर्जुन

तो निश्चय जीता ही चिता पर चढ़ कर मर जायगा। फिर पाण्डवों का क्या है? दोनों पक्ष ढलते दिन को क्षण क्षण गिन रहे थे। अपना सारा बल तथा सारा युद्ध-कौशल युद्ध के इन क्षणों ही पर केन्द्रित कर देने में कोई वीर ज़रा भी कोर-कसर न कर रहा था।

श्रीकृष्ण अपनी प्रातःकाल की समर-सज्जा में अँधेरा पैदा करनेवाले योगों का प्रबन्ध कर लाये थे।[1] इस समय उन्होंने इन योगों का प्रयोग किया। ऐसे योग आजकल की लड़ाइयों में भी प्रयुक्त होते हैं जिनसे चारों ओर जल-थल दोनों में अँधेरा छा जाता है। अर्जुन तो सचेत था ही। विपक्षी यह चमत्कार देख चकित रह गये। जयद्रथ और उसके साथी सूर्य की ओर देखने लगे। कर्ण आदि व्याकुल तो हुए परन्तु

---

१. ततोऽसृजत्तमः कृष्णः सूर्य्यस्यावरणं प्रति।
योगी योगेन संयुक्तो योगिनामीश्वरो हरिः ॥६८॥ द्रोण० १४६॥

श्रीकृष्ण का इस समय अँधेरा करना बहुत प्रसिद्ध है। इसलिए हमने इसका उल्लेख यहाँ कर दिया है। इससे युद्ध के प्रकार में कोई अन्तर पड़ा प्रतीत नहीं होता। कर्ण आदि ने अर्जुन को जयद्रथ के पास पहुँचा देखा। अर्जुन ने पराक्रम, जैसा ऐसी अवस्था में स्वाभाविक था, ख़ूब दिखाया। विजय महाभारतकार के मत में भी उसी पराक्रम का परिणाम है। योग का अर्थ महाभारत की परिभाषा में है, उपाय नीति, नुस्ख़ा, चारा। युद्ध में कई योग बर्ते गये हैं। यथा द्रोण दुर्योधन से कहते हैं:—

योगेन केनचिद्राजन्नर्जुनस्त्वपनीयताम् ॥ द्रोण० ३३,१४।

अपने कर्तव्य से नहीं हटे। अंधकार का फल केवल इतना हुआ कि अर्जुन अपने स्थान से झट आगे बढ़ गया। उसे कौरवों के एक बड़े जमाव को तितर-बितर करना पड़ा। इसके पश्चात् आन की आन में जयद्रथ के पास जा उसे एक अचूक तीर का निशाना बना दिया। कर्ण, कृप, अश्वत्थामा आदि अर्जुन पर तीर फेंकते रहे परन्तु वे तो मानों हवा में ही लाठी चला रहे थे। इधर अंधकार हटा, अस्त होते सूर्य ने आख़िरी झाँकी दी, उधर जयद्रथ का सिर कट कर उसके पिता वृद्धक्षत्र की गोद में जा पड़ा[1]।

कल जो अवस्था पाण्डव-दल की थी, वही आज कौरव-दल की हो गई। जयद्रथ धृतराष्ट्र का जामाता था। उसका मारा जाना कौरवों के लिए उतना ही आपत्ति-जनक था जितना उत्तरा-नाथ अभिमन्यु का मारा जाना पाण्डवों के लिए। अभिमन्यु को भी छः वीरों ने घेर कर मार डाला था।

---

१ यहां महाभारतकार एक कथा श्रीकृष्ण के मुँह से कहलवाते हैं। वह यह कि वृद्धक्षत्र को पता था कि उसके पुत्र का सिर कटेगा। उन्होंने इसे वर दिया था कि जिसके हाथों इसका सिर पृथ्वी पर गिरेगा, उसका अपना सिर तुरन्त टुकड़े टुकड़े होकर पृथ्वी पर आ रहेगा। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इस शाप से पहले ही सचेत कर दिया और उससे कह दिया कि तू दिव्य अस्त्र-द्वारा इसके सिर को वृद्धक्षत्र की गोद में फेंक। इससे वह सिर पृथ्वी पर वृद्धक्षत्र की गोद से गिरा। शाप का प्रभाव उसी पर पड़ा। संभवतः पुत्र-वध के मानसिक आघात से पिता के मर जाने का यह पौराणिक शैली का वर्णन है।

जयद्रथ का वध भी छः वीरों के घेरे में ही हुआ। भेद केवल इतना था कि अभिमन्यु अपने साथियों से परे अकेला शत्रु-सेना में आ घिरा था और जयद्रथ अपने दल में ही घिरा खड़ा था। छः शूरों ने मिल कर अभिमन्यु की तो जान ली थी पर इसकी बचाई या बचाने का प्रयत्न किया। अभिमन्यु अपने दल से दूर जान देने आया था, इस पर घर बैठे इसका जान-लेवा आ लपका।

अर्जुन की प्रतिज्ञा पूरी हुई। पाण्डवों ने शंख, भेरियाँ, पणक, अनक, भाँति भाँति के बाजे बजाये। अभिमन्यु के वध को वे जैसे भूल ही गये। क्या जयद्रथ के मरने से अर्जुन की झोली फिर पुत्र-रत्न से भर गई? क्या उत्तरा अनाथा से सनाथा हो गई? उसका वैधव्य रहेगा। सुभद्रा सदा के लिए निपूती की जा चुकी। पर बदला फिर बदला है। लड़ाई के दिनों के लिए पाण्डवों की आँखें बदले के रूमाल से पोंछ ली गईं। वे ख़ुश हैं कि विजय उनकी हुई है। लड़ाई के स्थिर परिणाम तो युद्ध-क्षेत्र के बाहर ही सोचे जाते हैं। रणभूमि में योद्धाओं का हृदय तलवारों की नोक के साथ साथ नाचता है। पिता मर गया है, उसके घातक को मार दो, यही उस मृत पितर का श्राद्ध है। पुत्र की हत्या हो गई है, दो आँसुओं की जलाञ्जलि उसे दे दो। और यदि उसके घातक का भी वध हो गया तो मानों मरा हुआ लाल जी उठा। रण-भूमि का तर्क यही है। इसी तर्क की तुला पर

वहाँ के हानि और लाभ को तोला जाता है। पाण्डवों का पलड़ा आज भारी है। उन्हें वध-विनिमय में आज बड़ा भारी लाभ हुआ है। कल इस लाभ को मूलधन बनाकर नया व्यापार किया जायगा।

घटोत्कच की बलि

जयद्रथ के वध से कौरव इतने बौखलाये कि रात को भी सेनाओं को आराम नहीं लेने दिया। युद्ध जारी रहा। प्रदीप जला दिये गये। हाथियों पर, घोड़ों पर, रथों पर, पदातियों के हाथों में प्रदीप ही प्रदीप थे। इस युद्ध में श्रीकृष्ण की जीवनी से संबन्ध रखनेवाली घटना केवल यह है कि कर्ण ने पाण्डव-सेना का बहुत संहार किया। अर्जुन कर्ण से लड़ने को तैयार हुआ परन्तु कृष्ण ने रोक दिया। भीम का राक्षस-जाति की कन्या हिडिम्बा से एक पुत्र था घटोत्कच। वह भी पिता की तरह शारीरिक-शक्ति का धनी था। वह कर्ण के सम्मुख जाने को उद्यत हुआ। श्रीकृष्ण ने उसे जाने दिया। उसका दम ताज़ा था और अर्जुन सारे दिन अकेला अनेक महारथियों से लड़ा था। महाभारत में राक्षसों के लड़ने के ढंग की कुछ विशेषतायें वर्णन की हैं। वे सब घटोत्कच की युद्ध-शैली में विद्यमान थीं। उनके रथ आठ पहियों के थे। वे माया कर स्वयं छिप जाते थे और आकाश से शस्त्रों की वर्षा करते थे। कभी धुआँ कर देते थे। कभी आग बरसाते थे। प्रतीत यह होता है कि ये जंगली जातियाँ किसी विचित्र समर-सामग्री का प्रयोग करती थीं जो नगरों में रहनेवाले

आर्यों को ज्ञात न थीं। घटोत्कच ने उस रात बड़ा पराक्रम दिखाया, यहाँ तक कि कौरवों को कर्ण की जान के लाले पड़ गये। परन्तु कर्ण ने भी दिन की कसर रात को निकाल ली। उसने घटोत्कच का सामना बड़े बल से, बड़ी वीरता से, बड़ी युद्ध-कुशलता से किया। अन्त को एक शक्ति के प्रहार से उस राक्षसी-पुत्र का ख़ातमा कर दिया। इससे स्वभावतः पाण्डवों को शोक हुआ परन्तु श्रीकृष्ण अपनी बुद्धिमत्ता से सन्तुष्ट थे[1]। शक्ति के प्रहार से यदि किसी की मृत्यु होनी ही थी

---

१ महाभारत (द्रोण० १८१,२) में घटोत्कच की मृत्यु पर श्रीकृष्ण का नाचना-कूदना लिखा है। सो तो इनके गंभीर स्वभाव के सर्वथा विपरीत है। उनकी यह डींग भी कि अर्जुन की ख़ातिर मैंने संसार भर के राक्षस और भारत के अन्य वीर जो अर्जुन के सामने खड़े हो सकते, यथा जरासन्ध, शिशुपाल, एकलव्य, हिडिम्ब, किर्मीर, घटोत्कच इत्यादि मार दिये हैं या निकम्मे कर दिये हैं, एक ओछी गप्प है। (द्रोण० १८२) इसमें सत्य की मात्रा भी सूक्ष्मवीक्षिका-द्वारा ही अन्वेषण करने योग्य है। महाभारत का यह अंश स्पष्ट प्रक्षेप है। इनमें से कई वीर ऐसे हैं जिनकी मृत्यु का कृष्ण से बादरायण-सम्बन्ध भी नहीं।

यह भी लिखा है कि कर्ण ने जिस शक्ति-द्वारा घटोत्कच का संहार किया वह उसने अर्जुन के लिए सुरक्षित रख छोड़ी थी। श्रीकृष्ण की कृपा से वह शक्ति घटोत्कच पर पड़ गई, अर्जुन बच गया। पर पूर्व दिवस कर्ण जयद्रथ के रक्षकों में था। चाहता तो उस शक्ति को अर्जुन पर फेंक देता। यह बात भी बनती प्रतीत नहीं होती। न तो कृष्ण घटोत्कच की मृत्यु चाहते थे और न उस शक्ति के अन्यत्र प्रयुक्त हो चुकने

तो वह किसी और की हो जाय, इससे इतनी हानि न थी, जितनी अर्जुन की मृत्यु से। अर्जुन से कृष्ण को विशेष प्यार भी था और अभी साम्राज्य की स्थापना में उसी के करने का बहुत काम शेष था। अर्जुन कृष्ण की दाहिनी भुजा था। कृष्ण सोचते थे, अर्जुन करता था। यह ज्ञान और कर्म का मेल विचित्र था। इसी मेल पर भारत-साम्राज्य की स्थापना निर्भर थी। दैव बलवान् है। बलि चढ़ने चला कौन था और चढ़ गया कौन ?

के कारण उन्हें हर्ष था। उन्हें हर्ष केवल इस बात का था कि जैसे आज घटोत्कच की मृत्यु हो गई, यदि वह मृत्यु अर्जुन की हो जाती तो सारा काम चौपट हो जाता। संभव है, अर्जुन कर्ण को जीत लेता परन्तु संभावना इसके विपरीत भी थी। ऐसी अनिष्ट संभावना के टल जाने पर प्रसन्न होना स्वाभाविक है। महाभारत के ये दो अध्याय १८१-१८२ अधिकांश उथले से हैं। किसी अच्छे कवि की कृति प्रतीत नहीं होती। तो भी ऐसे श्लोक इनमें हैं जिनसे मूल-घटना का पता लग सके।

शठे शाठ्यम्

द्रोण का वध

यह तो हुई पाण्डव-सेना की बात। कौरव-सेना का भी रात्रि के युद्ध में बहुत ह्रास हो गया था। दुर्योधन, जैसे उसकी आदत थी, अपनी सेना का यह ह्रास देख द्रोणाचार्य के पास आया और कहने लगा—महाराज! आपकी पाण्डवों पर कृपा-दृष्टि है। नहीं तो आपके पास इन दिव्यास्त्रों के रहते ये लोग कैसे ऐंठे फिरते? द्रोण इशारे को समझ गये। उलाहने से खिन्न भी हुए परन्तु इसमें उनका वश क्या था? वे यह जानते थे कि यदि युद्ध धर्म-पूर्वक रहा तो पाण्डवों से पार पाना कठिन है। उन्हें अपने सेनापतित्व की लाज भी तो रखनी थी। ऋजु-युद्ध का—जिसे दूसरे शब्दों में धर्म-युद्ध कहा जाता है—यह नियम था कि अस्त्र अस्त्रवित् पर ही चलाना चाहिए, अनस्त्रवित् पर नहीं। द्रोण आचार्य ही दिव्यास्त्रों के थे। उनकी बड़ाई इसी में थी कि वे ऐसे अस्त्र चलाना जानते थे जो साधारण योद्धा नहीं जानते थे। इस समय तक ऐसे अस्त्रों का प्रयोग उन्होंने उन्हीं लोगों पर किया था जो इन अस्त्रों का उत्तर ऐसे ही और अस्त्रों-द्वारा दे सकते थे। अब आवेश में आकर उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि चाहे

पुण्य हो चाहे पाप, दुर्योधन के कहने से मैं यह क्षुद्रता भी करूँगा कि अस्त्र न जाननेवालों पर अस्त्र चलाऊँ[1]।

इस प्रकार आज द्रोण चले ही पाप का संकल्प ले कर। इस कूट-विधि का अवलम्बन कर उन्होंने असंख्य सेनाओं का संहार किया। अर्जुन उनके सब भेद जानता था परन्तु वह तो शिष्य-भाव के वश उनके सामने जाता ही न था। न स्वयं कौरव-सेना पर इस प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग करता था। जैसे भीष्म से लोहा लेने को शिखण्डी नियुक्त हुआ था वैसे ही द्रोण का सामना करने को धृष्टद्युम्न नियत हुआ। उसने द्रोण पर आक्रमण किया। द्रोण ने उसका रथ निकम्मा कर दिया। वह उस निकम्मे रथ से ही द्रोण के घोड़ों पर आगे की ओर से चढ़ आया। घोड़ों की पूँछ के निकट आकर द्रोण पर समीप से वार करने लगा। द्रोण ने यह वार भी असफल कर दिया और उसके घोड़ों को भी मार डाला। रथ से उतर कर वह तलवार उठाये द्रोण के आगे पीछे घूमने लगा। द्रोण से अब और कुछ न बन पड़ा। वैतस्तिक नाम के तीर उनके पास थे। इनका चलाना केवल उन्हें, कृप, अर्जुन, अश्वत्थामा,

---

१. अतः परं मया कार्य्यं क्षुद्रं विजयवर्द्धिना ॥१०॥
अनस्त्रविदयं सर्वो हन्तव्योऽस्त्रविदा जनः।
यद् भवान् मन्यते चापि शुभं वा यदि वाऽशुभम् ॥११॥
तद्वै कर्ताऽस्मि कौरव्य वचनात्तव नान्यथा ॥१२॥
द्रोण० १८६ ॥

अभिमन्यु, प्रद्युम्न तथा सात्यकि को ही आता था।[1] धृष्टद्युम्न इन तीरों की विद्या से अनभिज्ञ था। साधारण जनों पर तो जो उन्होंने किया सो किया। अब धृष्टद्युम्न पर भी वही कूट-युद्ध का वार होने लगा। इन तीरों से धृष्टद्युम्न को सात्यकि ने बचा लिया। परन्तु अब प्रश्न इसी एक समय का न रहा था। प्रश्न आगे का भी था।

श्रीकृष्ण के पास यह समस्या लाई गई कि द्रोणाचार्य आज न किसी नियम के वश में हैं न नियन्ता के। इसका उपाय क्या? श्रीकृष्ण ने सोचा—बिगड़ा ब्राह्मण धर्म से क़ाबू न आयेगा। पहले तो ब्राह्मण को लड़ने से काम ही क्या? फिर अर्थ-दास होकर अनर्थ का पक्ष लेता है! यह भी सही! कौरवों का नमक खाया है, उसे हलाल कर ले। भला ब्राह्मण और नमक! तो भी युद्ध के नियम तो सबको पालन करने ही चाहिएं। ब्राह्मण के हाथ में धर्म की नकेल है। यदि उसने अपने हाथों वह नकेल तोड़ दी तो धर्म रहा ही कहाँ? धर्म तो नाम ही संयम का, क़ाबू का,

---

१. ये तु वैतस्तिका नाम शरा ह्यासन्नयोधिनः ॥४२॥
निकृष्टयुद्धे द्रोणस्य नान्येषां सन्ति ते शराः।
ऋते शारद्वतात् पार्थाद् द्रौणेर्वैकर्त्तनात्तथा ॥४३॥
प्रद्युम्नयुयुधानाभ्यामभिमन्योश्च ते शराः।
अथेषुं स समाधत्त दृढं परमवेगिनम् ॥४४॥
अन्तेवासिनमाचार्यो जिघांसुः पुत्रसम्मितम् ॥४५॥
द्रोण० १९२॥

नकेल का है। द्रोण ने पाप का सहारा लिया है। उसी पाप-द्वारा उसका हनन करना चाहिए। यह द्रोण की अपनी लठिया है—इसी से इसका सिर कूटो। द्रोण जहाँ विद्वान् है, शूर है, वेद-वेदांग का जाननेवाला है, वहाँ उसमें एक बहुत बड़ी दुर्बलता यह है कि उसे सन्तान का बड़ा मोह है। कोई उसे सुना दो—तेरा पुत्र मर गया। बस वहीं हथियार रख देगा।

श्रीकृष्ण ने यह युक्ति अपने अनुभव के आधार पर गढ़ी थी। पाठकों को स्मरण होगा कि सौभनगर की लड़ाई में सौभराज शाल्व ने इन्हें यह झूठमूठ की ख़बर पहुँचवाई था कि इनके पिता वसुदेव का देहान्त हो गया। उस समाचार के सुनते ही ये कुछ समय के लिए अचेत हो गये थे। थोड़ी देर में इन्होंने अपने आपको सँभाल लिया और फिर ख़ूब लड़े। अर्थात् इन्होंने उस क्षणिक मोह पर विजय पा ली। तो भी यह वृत्ति कितनी बलवती है, इसका इन्हें आप-बीती से अनुभव हो गया।

अर्जुन ने यह नीति—महाभारत के शब्दों में "योग"—पसन्द न किया। भीम को द्रोण की अनीति का यह उपाय ख़ूब जँचा। हम ऊपर कह आये हैं कि भीम के हृदय में गुरु-भक्ति का भाव कुछ ऐसा-वैसा ही था। वह द्रोण को मट्टी का माधो समझता था। वह झट अपनी सेना में गया और अश्वत्थामा नाम का हाथी मरवा दिया। बस फिर

क्या था ? सारी पाण्डव-सेना में कोलाहल मच गया—अश्वत्थामा मारा गया ! अश्वत्थामा मारा गया ! युधिष्ठिर जैसे धर्म-भीरुओं को चुपके से यह कहने का अवसर भी हो गया कि वह अश्वत्थामा था हाथी । इस योग से सहमत युधिष्ठिर आरम्भ से ही था[1] । हाँ अश्वत्थामा नाम के हाथी का मार देना भीम की अपनी उपज थी । इसका श्रेय उसी को देना चाहिए, कृष्ण को नहीं । कृष्ण को तो कार्य की चिन्ता थी, धर्म-भीरुओं के लचकीले, कोमल अन्तरात्मा की नहीं । भीम ने इधर सेना में जाकर तो यह लीला रचाई । उधर उसी क्षण द्रोण के रथ के पीछे खड़ा हो कर, संभवतः आवाज़ बदल कर, यह उपदेश करने लगा:—यदि ब्राह्मण अपने पढ़ाने के काम में ही लगे रहें, युद्ध में न उतरें तो क्षत्रियों का नाश क्यों हो ? ब्राह्मण का धर्म है अहिंसा, विशेषतया आप जैसे वेद के मर्मज्ञ ब्राह्मणों का । अरे द्रोण ! तू तो चाण्डाल है । अरे ! इतने जनों का संहार कर रहा है ! उन लोगों का भी जो अस्त्र चलाना नहीं जानते ! जैसे परपक्षी सभी म्लेच्छ हों और तू श्वपाक ! इस क्रूरता का कारण है गिरस्ती का मोह । ले ! जिसके लिए तू इतना मर रहा है, धर्म तक को छोड़ कर लोक-संहार में रत है, वह तेरे जीवन का एक-मात्र अवलम्ब—अश्वत्थामा—तेरी पीठ के पीछे ही

---

१. अन्ये त्वरोचयन् सर्वे कृच्छ्रेण तु युधिष्ठिरः ॥ १९१. १४ ॥

मरा पड़ा है।[1] वह देख! धर्मराज युधिष्ठिर जो कभी असत्य नहीं बोलते स्वयं कह रहे हैं—अश्वत्थामा मारा गया![2]

द्रोण ने इधर यह अशुभ समाचार सुना, उधर देखा—तीर भी ख़तम हो गये हैं। पाँच दिन, एक रात—जब से वह मुख्य सेनापति हुआ था—लगातार लड़ता चला आया था। इससे भुजायें थक गई थीं।[3] भीमसेन के शब्द को वह ऋषियों की आवाज़ समझा। दुर्योधन से प्रतिज्ञा तो कर आया था कि तेरे कहने से क्षुद्र, अयोग्य, अधर्म-युद्ध भी कर लूँगा। पर आख़िर विद्वान् था। सारी आयु धनुर्वेद का ही तो उपदेश किया था। शस्त्रों के प्रयोग की अपेक्षा लड़ाई का आचार-शास्त्र

---

१. यदि नाम न युध्येरँशिक्षिता ब्रह्मबन्धवः।
स्वकर्मभिरसन्तुष्टा न स्म क्षत्रं क्षयं व्रजेत् ॥३७॥
अहिंसा सर्वभूतेषु धर्मस्य विस्तरं विदुः।
अस्य च ब्राह्मणो मूलं भवान् हि ब्रह्मवित्तमः ॥३८॥
श्वपाकवत् म्लेच्छगणान् हत्वा चान्यान् पृथग्विधान्।
अज्ञानान् मूढवद् ब्रह्मन् पुत्रदारधनेप्सया ॥३९॥
यस्यार्थे शस्त्रमादाय यमपेक्ष्य च जीवसि।
स चाद्य पतितः शेते पृष्ठेनावेदितस्तव ॥४१॥

२. धर्मराजस्य यद्वाक्यम् नाभिशंकितुमर्हसि ॥४२॥

द्रोण० १९३. ॥

३. तस्य त्वहानि चत्वारि क्षपा चैकास्यतो गता।
तस्य चाह्नस्त्रिभागेन क्षयं जग्मुः पतत्रिणः ॥९॥

द्रोण० १९२ ॥

इस विद्या का अधिक महत्त्व-पूर्ण अंग है। आज उसी का हनन इन हत्यारे हाथों से कर रहा था। इससे सहसा आत्म-ग्लानि पैदा हुई। उसे प्रतीत हुआ कि सभी ऋषि, मुनि, धनुर्वेद के पुराने आचार्य, उसके अपने पूर्वज अंगिरा आदि द्युलोक से उसे धिक्कार दे रहे हैं—द्रोण! तू धर्म-द्रोही है। अरे! तूने अनभिज्ञों पर दिव्य अस्त्र चला दिये! तेरी मौत आगई। द्विजाधम! इस कुत्सित कर्म से रुक जा।[१]

---

१. त एनमब्रुवन् सर्वे द्रोणमाहवशोभिनम्।
अधर्मतः कृतं युद्धं समयो निधनस्य ते ॥३६॥
नातः क्रूरतरं कर्म पुनः कर्तुं त्वमर्हसि।
वेदवेदाङ्गविदुषः सत्यधर्मपरस्य ते ॥
ब्राह्मणस्य विशेषेण तवैतन्नोपपद्यते ॥३८॥
ब्रह्मास्त्रेण त्वया दग्धा अनस्त्रज्ञा नरा भुवि।
यदेतदीदृशं विप्र कृतम् कर्म न साधु तत् ॥३९॥
द्रोण० १९१॥

वर्तमान महाभारत का संपूर्ण वर्णन घटना को इतना शीघ्र समाप्त नहीं करता। भीम के अश्वत्थामा नाम का हाथी मरवा देने और उसके साथ साथ यह शोर करने से कि अश्वत्थामा मारा गया द्रोण पर कोई विशेष असर हुआ प्रतीत नहीं होता। यह शोर सुनकर भी वे विश्वास नहीं करते कि अश्वत्थामा सा पराक्रमी आसानी से मारा जा सकता है। वे लड़ते ही जाते हैं। इसके पश्चात् उन्हें द्युलोक से ऋषियों की भर्त्सना सुनाई देती है। यह भर्त्सना सुनकर वे युधिष्ठिर से अश्वत्थामा के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं। युधिष्ठिर श्रीकृष्ण के यह कहने पर कि प्रजा की रक्षा के लिए असत्य कह दीजिए, उस

F. 16

द्रोण के हाथों ने शस्त्र उठाने से इनकार कर दिया। शस्त्र चलते ही न थे, थे ही नहीं। द्रोण वहीं रथ ही में ध्यानावस्थित हो गया। धृष्टद्युम्न ने अवसर अनुकूल देखा। झट तलवार लेकर निरस्त्र आचार्य पर लपका। कौरव-दल से आवाज़ उठी—न्यस्तशस्त्र को मत मार। योगावस्थित को

असत्य समाचार का समर्थन करता है। तो भी द्रोण लड़ते ही जाते हैं। इसके बाद उनके पास तीर ख़तम हो जाते हैं। दिव्य अस्त्र स्फुरित नहीं होते। तब भी लड़ना रुका नहीं। ख़तम हुए तीर कैसे चल पड़े, यह नहीं बताया गया। धृष्टद्युम्न का रथ निकम्मा इन ख़तम हुए तीरों से हुआ है। उसके घोड़े भी इन्हीं से मारे गये हैं। इन सारी घटनाओं के अनन्तर भीम द्रोण के रथ के पीछे से द्रोण को उपदेश तथा डाँट-डपट करता है। इस पर वे न्यस्तशस्त्र हो जाते हैं।

महाभारत में प्रक्षेप तो बहुत हुआ ही है। प्रतीत यह होता है कि मूल घटना का विस्तार कुछ बहुत सोच-समझ कर नहीं किया गया। बंकिम की यह शङ्का युक्ति-संगत प्रतीत होती है कि जब अश्वत्थामा की मृत्यु का अनिष्ट समाचार सुनने के पश्चात् इतना लम्बा समय मिल ही गया था तो द्रोण ने कौरव-दल से ही इसकी सचाई की जाँच क्यों नहीं करा ली? दुर्योधन जैसा धूर्तराज पाण्डवों की इस धूर्त्तता का उपाय समय रहते भी नहीं कर सका? यह बात असंभव जान पड़ती है। द्रोण का युधिष्ठिर से प्रश्न करना और युधिष्ठिर का श्रीकृष्ण की सलाह से उत्तर देना, श्रीकृष्ण का इंगितरूप में नहीं, स्पष्ट कहना कि आप असत्य कह दीजिए, नहीं तो सेनाओं का संहार हो जायगा, और फिर इस उत्तर को द्रोण का स्वीकार कर लेना, द्रोण के भोलेपन का नहीं, पागलपन का प्रमाण है। युधिष्ठिर के असत्य

मत मार। अर्जुन ने दौड़ कर धृष्टद्युम्न का हाथ पकड़ना चाहा, पर उसके पहुँचने तक आचार्य का सिर धड़ से जुदा हो ज़मीन पर लुढ़कता कौरव-दल में जा पड़ा। कुछ समय पीछे अर्जुन और धृष्टद्युम्न में इस विषय पर बमचख़ हो गई। परन्तु इस बात का जवाब अर्जुन के पास क्या था कि धर्मध्वंस का श्रीगणेश स्वयं आचार्य ने किया है! बालक अभिमन्यु का घात इस क्रूरता से कभी न होता यदि आचार्य इसका रास्ता कर्ण को न दिखाते। एक भोले भाले बालक पर

का भी कुछ प्रभाव हुआ नहीं दीखता। न थकान और न तीरों के समाप्त हो जाने से ही द्रोण के पराक्रम में बाधा पड़ी प्रतीत होती है। फिर भीम के रथ के पीछे से भाषण करने में कौन सा ऐसा जादू था कि आचार्य झट निरस्त्र हुए और झटपट समाधिस्थ हो गये?

हमारे विचार में आचार्य्य की विरक्ति किसी एक घटना का नहीं, कई कारणों का संयुक्त परिणाम थी। कारणों के इस समूचे प्रभाव की ओर महाभारतकार द्रोणपर्व १९२, १०-११ में संकेत करते भी हैं :—

> स शरव्रयमासाद्य पुत्रशोकेन चार्दितः।
> विविधानाञ्च दिव्यानामस्त्राणामप्रसादतः ॥१०॥
> उत्स्रष्टुकामः शस्त्राणि विप्रवाक्यप्रचोदितः।
> तेजसा पूर्य्यमाणस्तु युयुधे न यथा पुरा ॥११॥

इससे पूर्व पाँच दिन और एक रात लगातार लड़ते रहने का वर्णन भी है। इन सारे कारणों के एक साथ जुटने में बहुत समय अपेक्षित नहीं। सारी घटनायें अकस्मात् हो जाने से द्रोण का वैराग्य कोई

छः महारथियों का एक साथ आक्रमण ! यह कौन सा धर्म था ? कौन सा न्याय था ? भूरिश्रवा ने सात्यकि को गिरा हुआ देख उसकी छाती पर पैर रखा और उसके सिर पर तलवार घुमाई। वह कौन सा न्याय था ? भूरिश्रवा ने इससे पूर्व सात्यकि के दस पुत्रों की हत्या एक साथ की थी। परन्तु इसका बदला सात्यकि ने नहीं लिया। इसकी चर्चा तक नहीं की। हाँ ! जब भूरिश्रवा ने अधर्म-पूर्वक भरी सेना में उसका अपमान किया तो सात्यकि ने भी उसके न्यस्तशस्त्र होने की पर्वा नहीं की। योगावस्थित दशा में ही उसका सिर काट कर फेंक दिया। अर्जुन ने स्वयं अभिमन्यु के वध का विलाप करते हुए कहा था—यदि अभिमन्यु का वध धर्म-पूर्वक किया जाता तो उसे रोष न होता।

दुरूह वार्ता प्रतीत नहीं होती। भीम के रथ के पीछे से बोलने और ऋषियों के उपदेश की मानसिक प्रतीति में एक मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध प्रतीत होता है।

अश्वमेधपर्व में जहाँ कृष्ण ने अपने पिता को युद्ध की मुख्य मुख्य घटनाओं का वृत्तान्त सुनाया है, वहाँ द्रोण को—

ततो द्रोणः परिश्रान्तो धृष्टद्युम्नवशं गतः ॥ ६०,१८॥

थक कर धृष्टद्युम्न के क़ाबू आ गया, ऐसा कहा है।

महाभारत के आरम्भ में अनुक्रमणिका-अध्याय है। वहाँ द्रोण की मृत्यु के सम्बन्ध में केवल इतना ही उल्लेख है:—

यदाश्रौषं द्रोणमाचार्यमेकं धृष्टद्युम्नेनाभ्यतिक्रम्य धर्मम्।
रथोपस्थे प्रायगतं विशस्तं तदा नाशंसे विजयाय सञ्जय ॥

आदि० १,१६६

धृष्टद्युम्न के साथ साथ अर्जुन ने युधिष्ठिर को भी आड़े हाथों लिया। उससे कहा—तेरी वही अकीर्त्ति होगी जो राम की बाली को छिपकर मारने से हुई। भीम और धृष्टद्युम्न ने इन भर्त्सनाओं का उत्तर दिया। सात्यकि ने तो अर्जुन की बात कटती देख गुरु-भक्ति के आवेश में गदा उठा ली। वह धृष्टद्युम्न पर वार करने चला ही था कि श्रीकृष्ण ने

इन दोनों स्थानों पर अश्वत्थामा की मृत्यु के असत्य समाचार की ओर संकेत नहीं। बङ्किम इससे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि अलीक समाचार की सम्पूर्ण वार्ता ही पीछे की गढ़न्त है। हमारे विचार में पीछे के प्रक्षेप की सिद्धि के लिए केवल इतना ही प्रमाण पर्याप्त नहीं। अश्वमेधपर्व में श्रीकृष्णद्वारा सुनाया गया युद्ध का वृत्तान्त अत्यन्त संक्षिप्त तथा आंशिक है। सारे युद्ध की कहानी तीस एक श्लोकों में समाप्त कर दी गई है। उस संक्षिप्त वृत्तान्त का भीष्म-पर्व आदि में आई विस्तृत वार्ता से कहीं विरोध हो, तब तो उस अंश में एक वर्णन यथार्थ और दूसरा अयथार्थ मानना युक्ति-युक्त होगा। संक्षिप्त वर्णन में एक अंश का वर्णन न होना विस्तृत वर्णन की उस अंश में असत्यता स्वीकार करने के लिए पर्याप्त हेतु नहीं। यही अवस्था अनुक्रमणिका-अध्याय की है। वहाँ मुख्य मुख्य घटनाओं का क्रम बताया गया है। कुछ घटनाओं के अवान्तर अंशों का उल्लेख भी हो गया है। वहाँ भी यदि कोई उल्लेख बृहत् पुस्तक में आये वर्णन का विरोधी हो तो एक वर्णन अशुद्ध मानना होगा। किसी घटना का कोई अवान्तर अंश अनुक्रमणिका में वर्णित न होने से अलीक नहीं समझा जा सकता। अतः हमने मूल घटना का ज्यों का त्यों वर्णन कर दिया है। केवल असंगत अंशों को ही हटा दिया है।

भीम को बीच-बचाव कर देने का इशारा किया। भीम ने पहले तो सात्यकि की बाहें पकड़ीं। फिर पाँवों में गिर पड़ा। छठे पग पर कहीं सात्यकि रुका। सहदेव ने भी उसे समझाया कि अभी तो बहुत लड़ना है। और फिर हम हैं कितने? वृष्णि और पांचाल ही आपस में लड़ पड़े तो शेष रह कौन जायगा? इस समय तीन वंश हो तो मित्र हैं—वृष्णि, पाण्डव और पांचाल।

हम हैरान हैं कि द्रोण की इस हत्या के कारण और सबको तो किसी न किसी रूप में दोषी ठहराया गया है परन्तु कृष्ण साफ़ अछूते छूट गये हैं। इन्हें किसी ने बुरा नहीं कहा। हाँ! भीम ने अर्जुन का मुँह बन्द करने को इनका प्रमाण अवश्य दिया है। यदि युधिष्ठिर की अकीर्ति इस असत्य के कारण अमिट हो जानी थी तो कृष्ण की क्यों नहीं? और तो और, इन पर अश्वत्थामा को भी क्रोध नहीं आया। उससे कहा गया है कि असत्य का मूल प्रस्ताव कृष्ण का था। वह बहुत गर्जा है। उसने बदला लेने को कुछ समय प्रलयङ्कर युद्ध भी किया है। युधिष्ठिर आदि के विरुद्ध विष भी उगला है, परन्तु श्रीकृष्ण को अछूता छोड़ गया है। अर्जुन भी इनसे नहीं बिगड़ा। और ये सारे विवादों में चुप्पी ही साधे रहे हैं। संभवतः इन्होंने देखा कि काम तो हो ही गया है और युक्तियाँ पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों में प्रबल हैं। क्या अधर्म में पहल करनेवाले को उसके अपने ही प्रयुक्त किये

अधर्म के हथियार से हराना चाहिए या नहीं ? अर्जुन कहता था—नहीं। दूसरों का पक्ष था—हाँ। कृष्ण इस दूसरे पक्ष के थे। इस पक्ष का पोषण युक्तियों से करना, इसकी डोंडी पीटना, इसे विवाद का विषय बनाना, समाज अथवा व्यक्ति—किसी की दृष्टि से भी हितकर नहीं। ऐसा व्यवहार यदि धर्म हो भी तो आपत्काल का ही धर्म है। और आपत्काल का धर्म केवल क्रिया की वस्तु है, उपदेश या व्याख्यान की नहीं। क्रिया में इन्होंने कर्ण तथा दुर्योधन दोनों की हत्या के समय अर्जुन को अपना अनुयायी बना लिया। इसका वर्णन यथावसर आगे होगा। हमारी दृष्टि में श्रीकृष्ण का यह मौन उनकी बुद्धिमत्ता का उतना ही सूचक है जितनी अन्य अवसरों पर उनकी सारगर्भित और युक्तियुक्त वक्तृतायें। असत्य का प्रस्ताव करते हुए भी अधिक हेतुओं से काम नहीं लिया। जो सोचना था, अपने मन में ही सोच लिया। अश्वत्थामा की मौत की ख़बर आख़िर थी तो असत्य ही ना। फल की दृष्टि से संभवतः ऐसा असत्य श्रेयस्कर हो। लोक-व्यवहार में जो अनय है, संभव है, सूक्ष्म-तत्त्व की दृष्टि से—अन्ततः अहिंसा का साधन होने के कारण—वही सुनय हो। परन्तु नैतिक तत्त्वों का ऐसा गम्भीर विश्लेषण साधारण, व्यावहारिक बुद्धि-द्वारा होना संभव नहीं। आपत्काल के कर्तव्य का निश्चय आप्त पुरुष दो ही चार शब्दों के एक संक्षिप्त आदेश के रूप में कर देता है। उसके हेतुओं की व्याख्या नहीं करता। ऐसे विषयों में तर्क

तथा हेतु अनय के प्रचार के सिवा और कुछ काम नहीं देते। यह आदेश आगे के लिए उदाहरण का काम भी नहीं दे सकता। साधारण अवसरों पर साधारण नय ही चलना चाहिए। असाधारण अवसरों के लिए असाधारण नय के निश्चायक असाधारण पुरुष ही हो सकते हैं। भीम के उपर्युक्त प्रामाण्य से उस समय श्रीकृष्ण की यही—आप्त पुरुष की—स्थिति थी, ऐसा प्रतीत होता है। इनका अपना मूक व्यवहार भी इसी बात का साक्षी है। अन्य लोगों ने इस नय पर कटाक्ष तो किये परन्तु सीधा इनके सम्मुख कोई नहीं हुआ। यह भी नहीं कि इन कटाक्षों का उत्तर श्रीकृष्ण ने न दिया हो। हाँ! उस समय आग गर्म थी। उस पर घी नहीं डाला। आगे चलकर यथावसः इस गुत्थी को सुलझाया है।

———

मनस्विनी प्रतिज्ञा

कोप का पात्र बदल दिया

द्रोण के पश्चात् अश्वत्थामा की सलाह से कर्ण कौरव-सेना के अधिपति नियुक्त हुए। उनका शास्त्र-विधि से अभिषेक हुआ। मोतियों से जड़े सोने के कलसों में पानी भर कर तथा चोवा, कोंच, नागकेसर आदि मादक एवं सुगन्धयुक्त ओषधियों के घोलों को मिला कर उन्हें स्नान कराया गया। और रेशम से ढके हुए उदुम्बर के आसन पर बैठा कर मन्त्रपाठ-पूर्वक अभिषिक्त किया गया। कर्ण ने कौरव-सेना को मकर-व्यूह का रूप दिया। इस महान् मगरमच्छ की चोटी पर कर्ण का अपना रथ था। आँखों का स्थान शकुनि और उलूक ने लिया। सिर पर अश्वत्थामा और गर्दन पर दुर्योधन के भाई थे। स्वयं दुर्योधन बीच में था। बाएँ पाँव पर कृतवर्मा नारायण-सेना-समेत उपस्थित था। दाहिने पाँव पर त्रिगर्त्तों और दाक्षिणात्यों-समेत कृपाचार्य थे। कृतवर्मा के पीछे शल्य था और कृप के पीछे सुषेण। पुच्छ-स्थानीय चित्र और चित्रसेन थे। इनके मुक़ाबले में अर्जुन ने पांडव-सेना को अर्धचन्द्र की आकृति में सुसज्जित किया। इस अर्धचन्द्र के दाएँ और बाएँ पार्श्व पर क्रमशः धृष्टद्युम्न और भीमसेन उपस्थित थे। मध्य में महाराज युधिष्ठिर

थे। उनके पीछे नकुल और सहदेव खड़े थे। उत्तमौजा और युधामन्यु इनके चक्ररत्तक थे। अर्जुन इनकी भी रत्ता पर नियुक्त था। अन्य राजा लोग अपने अपने स्थान पर चौकस थे। युद्ध बड़े ज़ोरों का हुआ। कर्ण ने ख़ूब हाथ दिखाये। सत्यसेन ने अर्जुन के साथ लड़ते लड़ते लगे हाथ कृष्ण पर भी आक्रमण कर दिया। यहाँ तक कि कृष्ण के हाथ से घोड़ों की बाग-डोर छूट गई, चाबुक गिर गया। अर्जुन से यह अपमान न सहा गया। उसने वहीं सत्यसेन पर वार कर उसका सिर गर्दन से अलग कर दिया। फिर यह वार तो मानों एक महान् संहार की भूमिका थी। असंख्य शूर खेत रहे। जीत पाण्डवों की हुई।

रात को कौरव-सेना के महारथियों की सभा में कर्ण ने कहा—इधर मैं अकेला लड़ता हूँ, उधर अर्जुन के सारथि स्वयं कृष्ण हैं। वे दो शूर हैं। कृष्ण अश्व-विद्या में निपुण हैं। घोड़ों के अन्त:करणों तक में पैठे हुए हैं। फिर समयोचित मंत्रणा से अर्जुन का दिल बढ़ाते हैं। हमारी सेना में मद्र-राज शल्य वैसे ही अश्व-शास्त्र-विशारद हैं। यदि वे मेरा सारथि होना स्वीकार कर लें तो कल हमारी विजय होनी निश्चित है।

दुर्योधन ने शल्य से प्रार्थना की। उन्होंने पहले तो इस प्रस्ताव को ही बुरा माना। त्तत्रिय का सारथि सूत को होना चाहिए। यहाँ सूत-पुत्र का सारथि त्तत्रिय को बनाया जा रहा है। यह त्तत्रिय का अपमान है। परन्तु जब दुर्योधन ने कहा कि शल्य

को कौरव-दल में वही स्थान दिया जा रहा है जो पाण्डवों में कृष्ण का है। अर्थात् जैसे पाण्डव-दल के योद्धाओं में अर्जुन अग्रणी हैं परन्तु उनके रथ की बागडोर कृष्ण के हाथ में है, ऐसे ही कौरवदल के मुख्य योद्धा कर्ण के रथ की बागडोर शल्य के हाथ में रहेगी। कर्ण अर्जुन से युद्ध-विद्या में अधिक प्रवीण है तो शल्य सारथि-विद्या के पाठ कृष्ण को पढ़ा सकते हैं। इस चाटु का शल्य पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा। शल्य ने कर्ण का सारथि होना स्वीकार कर लिया। वास्तव में शल्य के कर्ण का सारथि होने की संभावना युद्ध आरम्भ होने से पूर्व ही की जा रही थी। कौरवों की ओर से लड़ना स्वीकार करने के पश्चात् जब शल्य युधिष्ठिर से मिले तो उन्होंने भानजा होने के नाते इनसे यह प्रतिज्ञा करा ली थी कि कर्ण का सारथि होने की अवस्था में ये उसका उत्साह भंग करते रहेंगे। शल्य का सारथित्व के प्रस्ताव पर इतना रोष मानों उस प्रतिज्ञा के पालन की भूमिका थी। दुर्योधन के अधिक अनुनय-विनय करने पर इन्होंने कर्ण का रथवान होना स्वीकार तो किया परन्तु यह शर्त साथ ही लगा दी कि मुझे कहने सुनने का यथेच्छ अधिकार रहेगा। उस दिन का युद्ध पीछे आरम्भ हुआ, पहले कर्ण और शल्य में काफ़ी लम्बी ले दे हो ली। शल्य ने अर्जुन की सराहना की और कर्ण को उसके सामने क्या वीरता, क्या बल और क्या सुजनता सभी गुणों में क्षुद्र कहा। इस पर कर्ण बिगड़ा। दोनों ने एक दूसरे के कुल, अभिजन, देश, जाति

सबकी एक साथ निन्दा कर डाली। दूसरे शब्दों में चाहे कर्ण को एक निपुण सारथि की शारीरिक सहायता प्राप्त हो गई, परन्तु इन रथी सारथि में मनमुटाव इतना था कि एक दूसरे को देखकर जल रहा था।

उधर अर्जुन संशप्तकों से जा जुटा। उस दिन का अधिक भाग उन्हीं को परास्त करते बीता। मुख्य रणक्षेत्र को भीम ने सँभाला। कर्ण को उसने एक बार परास्त भी किया। अर्जुन को अश्वत्थामा ने ललकारा। वह गुरु-पुत्र से उलझना न चाहता था परन्तु अश्वत्थामा ने युद्ध की भिक्षा माँग ली। अर्जुन को विवश लड़ना पड़ा, परन्तु कुछ अनमना सा होकर। अश्वत्थामा के वार अपना काम किये जाते थे। अर्जुन दबता चला जा रहा था। कृष्ण को यह असह्य हुआ। अर्जुन को कड़े शब्दों में सचेत किया। क्या बाहुओं में वह बल नहीं रहा या गाण्डीव की शक्ति कम हो गई है? आख़िर अश्वत्थामा से नीचा देखने का क्या अर्थ? चेतावनी प्रबल थी। अकारथ न गई। पहले ही वार में अश्वत्थामा अचेत हो गया और उसका सारथि रथ को हाँक कर एक ओर ले गया।

दुर्योधन को पाण्डव-सेना के महारथियों में घिरा देख कर कर्ण उसकी सहायता को लपका। उसने युधिष्ठिर पर ही धावा बोल दिया। उनके और नकुल के घोड़ों को मार दिया, रथों को निकम्मा कर दिया और स्वयं उन दोनों को भी ऐसे भारी घाव लगाये कि उन्हें सहदेव के रथ पर चढ़ कर

रणक्षेत्र से भाग जाना पड़ा। ख़ेमे में पहुँच कर युधिष्ठिर तो बिछौने पर लेट गये और कुशल वैद्यों ने उनकी चिकित्सा आरम्भ की। इतना बचाव भी इसलिए हो गया कि शल्य ने कर्ण को याद दिला दिया कि उसका प्रतिस्पर्धी अर्जुन है, युधिष्ठिर नहीं।

अर्जुन ने अश्वत्थामा से निपट कर देखा कि कर्ण ने पाण्डव-दल में धाँधली मचा रखी है। संजय आदि लोग अर्जुन को रक्षा के लिए पुकार रहे हैं। उसने कृष्ण से कहा, रथ को उधर ले चलिए। इस समय कृष्ण ने अर्जुन को सूचना दी कि कर्ण ने केवल सेना का ही बुरा हाल नहीं किया किन्तु इस महान् संहार का श्रीगणेश तो स्वयं महाराज को भारी घाव लगाने से किया है। भीम ने इस समाचार को प्रमाणित किया। अर्जुन ने चाहा कि भीम युधिष्ठिर के पास जाकर उनका कुशल-समाचार लावे और अर्जुन युद्ध-क्षेत्र में उसका स्थान ले ले। भीम को यह सलाह पसन्द न आई। उसे भय हुआ कि लोग उसे डर के कारण भाग गया समझेंगे। अर्जुन रण-क्षेत्र के इस हिस्से में अभी नया आ रहा था। उसके आने में देर हो जाय तो हानि नहीं। श्रीकृष्ण की सम्मति भी यही थी। सो अर्जुन और श्रीकृष्ण दोनों युधिष्ठिर के कैम्प में गये।

युधिष्ठिर का घाव तो शान्तिकारक ओषधियों से अच्छा हो चला था परन्तु हृदय अत्यन्त खिन्न था। बाल्यावस्था से

कर्ण ग्रह की तरह पाण्डवों के भाग्य-भानु को ग्रस रहा था। उसी की दुर्मन्त्रणा से जतुगृह का निर्माण हुआ था। उसी की कृपा से द्यूत का हथकण्डा प्रयुक्त हुआ था। भरी सभा में द्रौपदी के अपमान में वही मुख्य था। युद्ध में दुर्योधन की विजयाशा का आधार कर्ण ही था। उसका सहारा न होता तो संभवतः दुर्योधन ने आरम्भ ही में सन्धि कर ली होती। आज युद्ध-क्षेत्र के बीच में दोनों सेनाओं के देखते देखते युधिष्ठिर का मोल एक कौड़ी भी तो नहीं रहा। इस घोर अनादर का मूल वही कर्ण ही तो था। युधिष्ठिर को अपने कैम्प में लेटे लेटे सब ओर से कर्ण ही कर्ण एक भयानक भूत के रूप में दृष्टिगोचर हो रहा था। इस अवस्था में उसका अवलम्ब अर्जुन था। क्षण क्षण में उसे तीव्र प्रतीक्षा हो रही थी कि कोई अभी यह शुभ समाचार लायेगा कि अर्जुन ने कर्ण को कण्टक की तरह रास्ते से हटा दिया। इतने में अर्जुन ने कृष्ण-समेत स्वयं आकर युधिष्ठिर के चरण छू लिये। इन्होंने झट पूछा—कर्ण को मार कर आ रहे हो? हमारे जीवन भर के शूल इस एक हत्या से हटा कर आ रहे हो? कहो उसे कैसे मारा?

अर्जुन के पास समाचार ही और था। उसने पहले संशप्तकों की पराजय, तत्पश्चात् अश्वत्थामा को परास्त करने का हाल सुनाया। फिर कहा—भ्रातृपादों को पीड़ाग्रस्त सुन कर आपका कुशल पूछने आया हूँ। यहाँ से लौट कर कर्ण से निपटूँगा।

युधिष्ठिर इस लम्बी कथा के लिए तैयार न था। उसके धैर्य्य का प्याला लबालब भर रहा था। उसे अर्जुन की और सारी विजयें सार-हीन प्रतीत हुईं। झट कहा—मुझे पहले पता होता तो मैं यह खखेड़ सहेड़ता ही न। अर्जुन! तूने कुन्ती के गर्भ को कलङ्कित किया है। हमें सदा आश्वासन देता रहा कि कर्ण का कण्टक मैं हटाऊँगा। आज जब समय आया तो भीम को अकेला छोड़ रण-क्षेत्र से भाग आया है। तुझे धिक्कार है। अब गाण्डीव धनुष किसी और को सौंप दे। तू उसके उठाने के योग्य ही नहीं रहा।

अर्जुन यह भर्त्सना चुपचाप खड़ा सुन रहा था। युधिष्ठिर ने गाण्डीव का नाम क्या लिया कि अर्जुन की तलवार झट म्यान से निकल आई। कृष्ण ताड़ गये—तेवर अच्छे नहीं। पूछा—यह यम-सहोदरा किसके ख़ून की प्यासी है? अर्जुन ने कहा—यह तो हमारी प्रतिज्ञा है कि जो हमें गाण्डीव के अयोग्य कहेगा और सलाह देगा कि इसे किसी और के हाथ में दे दो, उसका सिर उसके धड़ से अलग कर देंगे। महाराज ने आज यही बात हमसे कह दी है।

कृष्ण ने कहा—यह वृद्धों की सेवा न करने का फल है। गुरुजनों के पास रहे हो, उनकी सेवा-शुश्रूषा की हो, उनके उपदेशों से लाभ उठाया हो तो कर्तव्य-अकर्तव्य को समझो। कहने को तो झट कह दिया कि प्रतिज्ञा की थी और उसका पालन करने लगे हैं? प्रतिज्ञा कब की थी? बाल-काल में?

उसका मूल्य क्या ? क्या युधिष्ठिर को उस प्रतिज्ञा का पता था ? यह भी पता है कि इस समय युधिष्ठिर का हृदय किस घोर शूल का शिकार है ? वह दया का पात्र है या दण्ड का ? पितृ-तुल्य भ्राता का घात कर डालेंगे ? किया कराया काम सारा चौपट हो जायगा। राजा के मारे जाने से युद्ध का कुछ अर्थ न रहेगा। जो बात भीष्म तथा द्रोण के पन्द्रह दिन के विकट पराक्रम से नहीं हो पाई, वह अर्जुन की एक 'सत्य-प्रतिज्ञता' से क्षणभर में हो जायेगी। चलो, सत्य-प्रतिज्ञ तो कहलायेंगे। राज्य आये जाए। द्रौपदी का मान हो, अपमान हो। कुन्ती पराये टुकड़ों पर पड़ी रहे। पुत्र सत्य-प्रतिज्ञ तो कहलायेंगे ही।

कृष्ण की इस डाँट से अर्जुन को झट होश आ गया। वह मन्त्र-मुग्ध-सा अवाक् खड़ा रह गया। कृष्ण ने देखा कि क्रोध का बाह्य आवेश तो हट गया है परन्तु अन्दर की आग ठण्ढी नहीं हुई। मनस्वी वीर का अपमान हुआ अवश्य है। अब कुशल इसमें है कि इसका बुख़ार निकाल दिया जाये परन्तु इस तरह कि युधिष्ठिर पर आँच न आवे। अर्जुन को संबोधित कर फिर कहा:—तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा पालन करनी है, करो। यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि धर्म का मर्म अहिंसा है। जिस भी कर्म से किसी प्राणी की जान जाये वह श्रेयस्कर नहीं। सत्य का स्थान धर्माचरण में मुख्य है। परन्तु अहिंसा के सम्मुख वह भी गौण है। अहिंसा साध्य है, सत्य

साधन। प्रकरण आ पड़ा है तो लो! एक बात और भी तुम्हें समझा दूँ। विवाह में, स्त्री-संग के समय, प्राण-संकट में, सर्वस्व लुट जाने की अवस्था में, ब्राह्मण की रक्षा के लिए—इन पाँच दशाओं में असत्य भाषण पाप नहीं। कारण कि इन अवस्थाओं में हिंसा की संभावना रहती है और उसका निवारण धर्म है। इन अवस्थाओं में भी असत्य का विधान उसी अंश में शास्त्र-सम्मत है जहाँ उसके द्वारा ख़ूनख़राबी से बचाव हो, कुल, जाति तथा देश की रक्षा हो। अब एक ओर तुम्हें सत्य धर्म का पालन करने के लिए युधिष्ठिर की हत्या करनी है, दूसरी ओर इसी से अहिंसा-धर्म का उल्लंघन होता है। तो लो! तुम्हारे लिए हम एक बीच का मार्ग निकाले देते हैं, जिससे साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। मान्य पुरुष की अप्रतिष्ठा उसके प्राण-घात से भी बढ़कर होती है। तुम युधिष्ठिर को 'आप' नहीं 'तू' कहकर बुला लो। बस उनकी हत्या हो गई। उनको खरी-खोटी सुना लो। इसी में उनका वध हो गया।

अर्जुन भरा खड़ा था। उसने अब आव देखा न ताव। युधिष्ठिर को कह ही तो दिया कि कमाई तो या भीम की है या मेरी। तुम मुफ़्त में मौजें उड़ाते हो। द्रौपदी के साथ मिल कर राज्य-पाट का सुख भोगते हो। आज भी रण-क्षेत्र से भाग तो तुम आये हो और उलाहना मुझे देते हो। ऐसी धौंसों का अधिकार भीम को है जो निरन्तर युद्ध के मैदान में जान

लड़ा रहा है। तुम्हारी धौंस में कौन आता है? दिग्विजय हमने किया, राज्य तुम्हारा हो गया। जुआ तुम खेले और आपत्ति में पड़े हम। फिर भी ऐंठ यह है कि कर्ण को क्यों नहीं मारा? स्वयं मार लो।

युधिष्ठिर ने अर्जुन की इस प्रकार की उद्दण्डता पहले कभी न देखी थी। पहले ही खिन्न बैठा था। भाई के उच्छृङ्खल व्यवहार से हक्का-बक्का रह गया। स्वभाव में पहले से ही वैराग्य की मात्रा अधिक थी। वनवास की तैयारी असंख्य बार की और असंख्य बार छोड़ दी थी। अब सहसा उठ खड़े हुए और कहा—लो भाई! राज्य तुम्हारा हुआ। सिंहासन पर भीम को बैठा देना और उसके साथ मिलकर साम्राज्य के आनन्द लेना। मैं निखट्टू अब से तुम्हारा कुछ नहीं लगता।

युधिष्ठिर का सारा खेद इस एक वैराग्य की तरंग में शान्त हो गया। अर्जुन भाई की ओर से सहसा त्याग की इस पराकाष्ठा के लिए तैयार न था। युधिष्ठिर ने सचमुच उसी समय वन को चले जाने की तैयारी ही कर ली। अर्जुन की आँखें अब तक आग बरसा रही थीं। अब झट पानी बरसाने लगीं। आषाढ़ की धूप ने सावन की बदली का रूप धारण कर लिया। जाते हुए भाई के पाँव पकड़ लिये। कृष्ण भी इस अनुनय में उसके साथ हो गये। दोनों भाइयों का रोष आँसुओं की धारा ने आन की आन में शान्त कर दिया।

युधिष्ठिर ने अर्जुन को उठाया और बाहु पकड़ कर गले लगा लिया। आँसुओं ने चुपके से कृष्ण को धन्यवाद की बलि पेश की। युद्ध की विजय से यह विजय कहीं अधिक महान् है। दो फटे दिल मिला दिये हैं। प्रेम ने वैमनस्य पर विजय पाई है—विजयी प्रेम प्राकृत—अपरीक्षित—प्रेम से अधिक गाढ़ है—अधिक बलशाली है। अब तक युधिष्ठिर की कृपा विनीत अर्जुन पर थी। उद्दण्ड अर्जुन पर कृपा करना उसने आज सीखा है। अर्जुन प्यार करता था परन्तु मृदुभाषी युधिष्ठिर से। आज से वह कठोर, कटु-कटाक्ष-वर्षी, नहीं, क्रूर, अन्यायी युधिष्ठिर से भी प्यार करेगा। बन्धुत्व का दूसरा नाम है सहनशीलता। इसका पाठ कृष्ण ने दोनों भाइयों को एक साथ पढ़ा दिया। अब कर्ण के साथ लड़ने अर्जुन की केवल भुजायें हो न जायँगी, कर्ण की इकली पुरानी ज़ियादतियाँ ही न जायेंगी, आज का युधिष्ठिर का अपमान जिसकी कटुता युधिष्ठिर के जलते हृदय और फड़कते होंठों ने तो सही ही, अर्जुन के कानों के साथ साथ उसकी ओजस्विनी छाती ने, नहीं नहीं, गाण्डीव की डोरी ने भी तीखे तिरस्कार के रूप में सह ली, युधिष्ठिर का वह अपमान अर्जुन की अधीर आत्मा पर ताज़े कोड़े का काम देगा। गाण्डीव के तिरस्कार का दोषी अब युधिष्ठिर नहीं, कर्ण है। हत्या उसी की होनी चाहिए। मनस्विनी प्रतिज्ञा के कोप का पात्र वही है।

——

एक हताश जीवन का अन्त

संग्राम-धर्म और सदाचार-धर्म

युधिष्ठिर का हार्दिक, रोमाञ्चकारी आशीर्वाद लेकर अर्जुन अब कर्ण से लोहा लेने चला। इधर अश्वत्थामा ने स्वयं अर्जुन के हाथों पछाड़ खाकर और कर्ण को भीम के आगे से भागता देख कर निश्चय कर लिया था कि पाण्डव-पक्ष प्रबल है। उसने दुर्योधन को सलाह दी—अब तक बहुत जनक्षय हो चुका है। वृद्ध, युवा, शूर-वीर असंख्य मारे जा चुके हैं। यदि अब भी सन्धि कर ली जाय तो जो बाक़ी हैं, वे सब बच जायँगे। परन्तु दुर्योधन ने एक न सुनी। वह एक बार कर्ण और अर्जुन का संग्राम देख ही लेना चाहता था। बाल-काल से कर्ण पर कृपाओं की वर्षा होती चली आई थी—उसके लाड़-चाव सब सहे थे, उसकी बात कभी न मोड़ी थी। अंगदेश का राज्य तक दे दिया था। सो इसी समय के लिए। दुर्योधन की दृष्टि में इन दो वीरों का द्वन्द्व-युद्ध महाभारत-संग्राम का निर्णायक होना था।

अर्जुन ने आते ही कर्ण को चुनौती दे दी। रास्ते में कृष्ण ने उसे सावधान भी किया था। उसे चिता दिया था कि कर्ण ऐसा वैसा योद्धा नहीं है। वह तुम्हारे समान तो है ही।

संभवत: अधिक बलशाली हो। इसलिए प्रयत्न में अपनी तरफ़ से कोई कोर-कसर न रखनी चाहिए। उसके अत्याचारों की कथा भी दोहरा दी थी कि जिससे वैर की आग पूरी भड़क उठे। यह कह सुनकर अर्जुन के पराक्रमों का वृत्तान्त वर्णन किया था जिससे उसके हृदय में जोश आये और आत्म-विश्वास अटूट होकर निश्चित विजय का साधक हो।

कर्ण की सारी आयु का क्रोध इसी अवसर के लिए सञ्चित था। उसने दाँत पीस पीस कर अर्जुन पर वार किये। अर्जुन ने भी सारी शक्ति कर्ण की हेकड़ी हटाने पर केन्द्रित कर दी। दोनों वीर आक्रमण तथा आत्म-रक्षा के विचित्र विचित्र दाव खेल रहे थे। दोनों सेनायें चकित हो इस द्वन्द्व-युद्ध का अवलोकन कर रही थीं। इतने में कर्ण ने एक सर्पाकार बाण ज्या पर चढ़ा ऐसा फेंका कि समस्त दर्शक-दल चिन्तित हो उठा। यहाँ कृष्ण का सारथित्व काम आया। उसने घोड़ों की वाग को नीचे खेंच उन्हें जानुओं पर बैठा दिया।

इससे रथ नीचा हो गया और उसके पहिये पृथ्वी में गड़ गये। तीर अर्जुन के सिर पर से गुज़रा और उसका मुकुट—जिससे वह किरीटी कहलाता था—सिर से उतर कर पीछे जा पड़ा। अर्जुन का सिर बाल-बाल बच गया। अर्जुन ने मुकुट की जगह रूमाल बाँध लिया। कृष्ण रथ से

उतरे और पहियों को पृथ्वी से निकाल फिर अपने सारथि-कर्म में लग गये। युद्ध के नियमानुसार इस समय कर्ण को लड़ना छोड़ देना चाहिए था परन्तु उसने ऐसा किया नहीं। थोड़ी देर में अर्जुन के तीरों से वह स्वयं मूर्च्छित हो गया। अर्जुन ने उसकी इस व्यथा से लाभ न उठा कर उसे सचेत होकर लड़ने का अवसर दिया। यह अर्जुन की उदारता थी। इतने में कर्ण के रथ का पहिया पृथ्वी में धँस गया। उसने अर्जुन को संग्राम-धर्म की दुहाई दी। कहा—आप इस समय के योद्धृ-दल के शिरोमणि हैं। यदि आप इन नियमों का पालन न करेंगे तो और कौन करेगा? मुझे रथ का पहिया ठीक करने दीजिए, फिर लड़ लेंगे। यह कह दैव को उलाहना देने लगा कि हमने सारी आयु धर्म-पूर्वक आचरण किया है, फिर भी तो भाग्य है कि साथ नहीं देता। कृष्ण अर्जुन की भोली उदारता का एक उदाहरण अभी देख चुके थे। अब उसे उत्तर का अवसर न देकर स्वयं कर्ण को संबोधित किया। संग्राम-धर्म का उल्लंघन तो कर्ण ने अभी अर्जुन का रथ पृथ्वी में धँसा देख कर और फिर भी अपनी बाण-वृष्टि में व्यवधान न आने देकर कर लिया था। कर्ण का दैव को उलाहना देना ही बतला रहा था कि वह अपनी प्रार्थना को कोरी ढिठाई समझता था। यह धर्म तो फिर भी आपस के समझौते का धर्म था। योद्धाओं ने मिलकर नियम बनाये थे कि निःशस्त्र पर वार नहीं करना, दीनता की अवस्था में प्रतिद्वन्द्वी पर

दया करनी, उसे सँभलने देना इत्यादि। इस धर्म के आधार-भूत नैतिक—सदाचारिक—सिद्धान्त हैं। लक्ष्य उन्हीं का पालन करना है। युद्ध के नियम तो उन सिद्धान्तों का एक विशेषरूप हैं। कृष्ण ने उन्हीं सिद्धान्तों की ओर संकेत कर कहा—जब भीम को विष-युक्त भोजन दिया गया था, तब तुम्हारा धर्म कहाँ था? जब जतु-गृह निर्माण कर उसके अन्दर ही अन्दर पाण्डवों को कुन्ती-समेत भस्म करने का प्रयत्न किया गया था, तब तुम्हारा धर्म कहाँ था? एकवस्त्रा द्रौपदी को सभा में घसीट लाते समय तुम्हारा धर्म कहाँ था? तेरह वर्ष का वन-वास पूरा कर चुकने पर भी जो तुमने पाण्डवों का राज्य पाण्डवों को नहीं दिया, उस समय यह धर्म की दुहाई चुप हो कहाँ दुबक गई थी? पापी लोग हमेशा दैव को कोसते हैं, अपने कुकर्म को नहीं। अकेले अभिमन्यु को, जो तुम लोगों के पुत्र के तुल्य था, छः महारथियों ने मिलकर मार दिया। आज वे ही आततायी लोग धर्म की दुहाई देकर चाहते हैं कि उनको विपत्ति में देख उन पर दया की जाय। ऐसे लोगों को धर्म का नाम ज़बान पर लाते लज्जित होना चाहिए। धर्म तो सारे जीवन का भूषण है, केवल युद्ध ही के लिए थोड़ा विहित है। कर्ण ने यह डाँट सुन मुँह नीचा कर लिया और उस धसे हुए रथ में बैठा बैठा लड़ने लगा। एक तीर अर्जुन की छाती में ऐसा मारा कि अर्जुन सन्न होकर रथ ही में बैठ गया।

इस सुअवसर से लाभ उठा कर कर्ण रथ से उतर पड़ा और पहिये को गढ़े से निकालने लगा। इतने में अर्जुन चौकस हो ही गया था। कृष्ण ने कहा—वही अवस्था है ना जो हमारी अपने रथ का पहिया निकालते समय थी। उस समय कर्ण ही कहाँ रुका था। ले! अर्जुन! अवसर न जाने दे। इसी अवस्था में इसका बेड़ा पार कर। अर्जुन ने तीर कमान पर कस परमेश्वर का नाम ले कर्ण की गर्दन ही पर उसका निशाना जमा दिया। क्षण-मात्र में शत्रु का क़िस्सा पाक था।

अर्जुन के चले आने पर युधिष्ठिर भी रण-क्षेत्र में आ विराजे थे। उन्होंने कर्ण के मरने की ख़बर सुनी तो सही, पर उन्हें विश्वास नहीं हुआ। पाण्डव-कुल का यह मूर्त अनिवार्य दुर्दैव इस प्रकार मृत्यु का ग्रास बन सकता है, वह सहसा मानने को तैयार न हुए। दैव का ऐसा अचल दुर्विपाक जिसने बचपन से लेकर अब तक इनका निरन्तर पीछा किया, वह सहसा इनके रास्ते से हट जाय, यह नितान्त असंभव है। युधिष्ठिर अपनी आँखों से उस भूतराज का निर्जीव शव देखने आये। जिसने बरसों इनकी नींद हराम कर दी थी, आज वह निस्सीम अन्तिम महानिद्रा के वश में है। उसमें प्राण नहीं, चेष्टा नहीं। षड्यन्त्र की शक्ति नहीं। यह देख युधिष्ठिर के नयनों ने अकथनीय शीतलता पाई।

कर्ण शास्त्रों का जाननेवाला था। नित्य नियमों का पक्का था। जप, तप, यज्ञ, याग सभी विधिपूर्वक करता था। दान का

तो ऐसा धनी था कि आज भी दानशीलता का आदर्श उसी को मानते हैं। किसी बड़े दानी को उपमा देनी हो तो कर्ण ही से दी जाती है। कर्ण को अभिमान इसी धर्म का था। इसी के कारण उसका एक नाम "वृष" भी था जो धर्म का पर्याय है। बल पराक्रम की वह मूर्ति ही था। दुर्योधन की जितनी विजयें हुईं, वे सब उसकी कृपा थीं। वास्तव में वह कुन्ती के पुत्रों में जैसे आयु में सबसे बड़ा था, वैसे ही बल आदि में भी सबसे श्रेष्ठ था। सूर्य-पुत्र वह इसी लिए कहलाता है कि उसमें सूर्य का प्रखर वीर्य था। उसका दुर्भाग्य यह था कि वह कानीन था। उसके पिता का पता अन्त समय तक न लग सका। किसी सूत के हाथ पड़ जाने से उसका पालन-पोषण सूतों ही के घर में हुआ था। इतना बड़ा वीर होते हुए भी उसे जन्म का हेय समझा जाता था। क्षत्रियों के सम्मेलनों में उसका अपमान ही होता था। द्रोण के विद्यार्थि-साम्मुख्य में वह अर्जुन से भिड़ने निकला था परन्तु क्षत्रिय-पुत्र के सामने आने का अधिकारी सूत-पुत्र को न समझा गया। दुर्योधन ने उसे तत्काल अङ्गदेश का राजा बना दिया परन्तु जन्म की नीचता ने इतने पर भी पीछा न छोड़ा। ऐसा ही तिरस्कार द्रौपदी के स्वयंवर में भी हुआ। उस क्षेत्र का विजेता भी अर्जुन ही था। इससे उसे स्वभावतः ईर्ष्या हो गई। वह बल, पराक्रम, विद्या, धर्म किसी बात में भी इससे कम न था। परन्तु वीरों में मुख्य इसी को

मानते थे और उसकी सदा, सूत कह कर अवहेलना ही की जाती थी। दुर्योधन को सभी पाण्डवों से ईर्ष्या थी। इन दोनों का पक्ष एक हो जाना स्वाभाविक था। दोनों अर्जुन के नाम से जलते थे। दोनों के जीवन का ध्येय उसी एक को नीचा दिखाना था। दुर्योधन की अपनी दृष्टि भीम पर लगी हुई थी। वह उसे हराने के लिए गदा-युद्ध का अभ्यास भी करता रहता था। एक लोहे का भीम बनवा रक्खा था। उस पर ज़ोर आज़माता था। परन्तु वह यह जानता था कि पाण्डवों की सफलता का सहारा है अर्जुन। द्रौपदी का अपमान इसी ईर्ष्या का ही एक कुत्सित प्रकाश था। परन्तु उससे आग बुझी नहीं, विषयासक्ति की आग की तरह ज़बान के चटख़ारों से इस आग पर भी घी ही पड़ा और यह और भड़क उठी। कर्ण को भी यह पता लग चुका था कि वास्तव में उसकी जननी राधा नहीं, कुन्ती है। पाण्डव उसके सहोदर हैं। श्रीकृष्ण ने ही हस्तिनापुर से लौटते हुए उसे इस तथ्य से सूचित कर दिया था। फिर कुन्ती ने स्वयं भी, जब वह गंगा के किनारे जाप कर रहा था, उसे अपने वात्सल्य की क़सम देकर शेष पाण्डवों की जान तो उससे सहसा बख़शवा ली थी। हाँ! अर्जुन पर उसका दाँत अन्तिम समय तक रहा। उसे क्षमा करने को वह तैयार न हुआ। माँ को यह कह कर सान्त्वना दी कि चाहे मैं मरूँ और चाहे अर्जुन, आपके पाँच पुत्र बने रहेंगे।

कर्ण स्वभाव का बुरा भी न था। जप तप करता था। वेद-पाठी था। वीर पूरा था। किसी चीज़ की—क्षत्रियोचित किसी गुण की—कमी न थी। पर हा! कानीनता की लानत ने उसे बर्बस सूत-सन्तान बना दिया था। क्षत्रिय-समाज ने उसका यह अपराध क्षमा न किया। संभवत: महाभारत के युद्ध का एक कारण तात्कालिक समाज की यही संकीर्णता थी। कर्ण इतना क्यों गिरता, क्यों बिगड़ता, यदि उसको क्षत्रिय-धर्म के पूरे अधिकार प्राप्त हो जाते। दुर्योधन को सन्धि न करने, कृष्ण जैसे एलची को टका सा जवाब देकर लौटा देने का साहस ही कर्ण के बलबूते पर हुआ।

हमारी समझ में कर्ण इतना रोष या दण्ड का पात्र नहीं, जितना दया का। उससे घोर अपराध हुए, परन्तु इन अपराधों का उत्तरदायित्व परिस्थितियों ही पर था। स्वभाव का उदार, दयालु, क्षमाशील कर्ण संकीर्ण, ईर्ष्यालु, मत्सर की मूर्ति बन गया। केवल इसलिए कि समाज ने उसको माता के दोष का दण्ड उसे दिया। भीष्म की दृष्टि में वह कभी न जँचा। दुर्योधन आदि के साथ उसके षड्यन्त्रों के कारण इनके उस पर सदा तेवर चढ़े रहे, यहाँ तक कि युद्ध के ऐन बीच में इन्होंने उसे पूरा रथी नहीं माना। इस पर कर्ण बिगड़ा और युद्ध के पहले दस दिन उसने शस्त्र नहीं उठाया। पर हाँ! जब भीष्म घायल हो शरशय्याशायी हुए तो वह अकेले में उनके चरणों में जा बैठा। भीष्म ने उसे प्यार किया और अब भी युद्ध रोकने

का उपदेश दिया परन्तु वह माना नहीं। अर्जुन के साथ उसका वैर अशम्य देख अन्त को उन्होंने उसे लड़ने की अनुमति दे दी। नित्य झिड़कने, सदा नया तिरस्कार करनेवाले भीष्म के चरण छूने में कर्ण का विनीत स्वभाव स्पष्ट प्रकाशित हो रहा था। उनका उपदेश नहीं सुना। कारण कि परिस्थितियों का घाव गहरा था। और तो और, श्रीकृष्ण ने भी, जब उसने जान देने से पूर्व अर्जुन को संग्राम-व्यवस्था की दुहाई दी, उस व्यवस्था की आधार-भूत एक ऊँची, इससे महत्तर, आचार-व्यवस्था की ओर निर्देश कर कहा—उस व्यवस्था के न्यायालय में कोरे यज्ञ-याग तथा जप तप धर्म-ध्वजियों की भड़कीली ध्वजा ही तो हैं। संग्राम के नियम तो उस व्यवस्था का खोल-मात्र हैं। धर्म का सार तो सदाचार है। और उसे तुम कौड़ियों के मोल लुटाते रहे हो।

कर्ण का महत्त्व उसकी नीचे झुक गई आँखों में था। हज़ार पतित हो, लाख पापी हो, ढीठ न था। रण-क्षेत्र की रूढ़ियों का अतिक्रमण वह स्वयं कर चुका था। इसलिए उन्हें अपने प्राणों की ओट न बना सकता था। एक शूर की तरह अपने पापों का फल भोगने को तैयार हो गया पर कृष्ण की दया का भिखारी न हुआ।

कर्ण की मौत के साथ एक उच्च आकांक्षा-युक्त, संकल्प के संसार में आकाश की ओर उड़ान लेनेवाली, प्रकृति की ओर से सर्व-साधन-सम्पन्न, यथेच्छ ऊँचाई तक उड़ सकनेवाली, परन्तु

वास्तविकता के, सांसारिक रूढ़ियों के, सामाजिक अवसरों के, क्षेत्र में परकटी, बाहु-विहीन, नितान्त हताश आत्मा का ख़ून हुआ। अर्जुन को क्या पता था कि उसके हाथ से उसका अपना माँ-जाया भाई, संभवतः उससे अधिक योग्य पृथा-पुत्र का प्राणान्त हो रहा है, जिसकी मृत्यु उसके इस कुकर्म का दण्ड है कि उसका नाम पाण्डु जैसे किसी क्षत्रिय-कुलोत्पन्न के नाम से नहीं जोड़ा जा सका। कृष्ण इस रहस्य को जानते थे। उन्होंने कर्ण को उसके योग्य स्थान स्वयं पाण्डव-कुल में, युद्ध आरम्भ होने से पूर्व, देना चाहा था परन्तु मनस्वी वीर ने, अपने जन्म-समय की सखी, बालकाल की संगिनी, हताशता—नितान्त हताशता—पर क्रूर कृतघ्नता की सहोदरी, लोभ की लाड़ली साम्राज्य-लक्ष्मी को न्योछावर करते देर न लगाई। प्राण दे दिये पर दुर्योधन का नमक हलाल ही किया।

यदि कर्ण ने कृष्ण की बात मान ली होती तो कृष्ण के जीवन में संभवतः एक और स्वर्णीय अध्याय की वृद्धि हो जाती। यह अध्याय और सब अध्यायों को अपनी मंगलमयता के कारण मात कर जाता। सूत-पुत्र नाम से प्रसिद्ध एक लोक-पद-दलित वीर को भारत का सम्राट् बनाने में समाज के कितने प्रबल विरोध का सामना करना पड़ता! कर्ण युधिष्ठिर से बड़ा था। यदि कुन्ती का पुत्र होने के नाते कृष्ण उसे पाण्डु का पुत्र स्वीकार करा सकते तो तात्कालिक परिस्थिति में एक चमत्कार-पूर्ण क्रान्ति होती। युधिष्ठिर को सम्राट् पद उसके

लिए ख़ाली करना होता। कृष्ण कर्ण के उद्धारक हो जाते। कर्ण के उद्धार के साथ साथ समाज का भी कल्याण कर जाते। माता-पिता के पापों का फल आगे को सन्तानों को न भोगना होता। कर्ण कृष्ण के हत्थे चढ़ा नहीं। उसने इन्हें उद्धारक के स्थान में अपने कुत्सित कर्मों का दण्ड-विधायक होने का ही अवसर दिया। कृष्ण के लिए इन दो विरोधिनी स्थितियों के बीच की कोई और स्थिति थी ही नहीं। कर्ण ने जन्म भर की हताशता में एक अन्तिम हताशता यह जोड़ ली कि जिन कर्मों को वह धर्म समझता रहा था, वह वास्तव में धर्म नहीं, धर्म की ध्वजा-मात्र थे। कृष्ण की इस क्रूर चेतावनी को वह उसी कालकूट के घूँट में मिला कर चुपचाप पी गया जिसका पान वह जन्म-काल से कर रहा था। उसका घात गाण्डीव के तीर ने किया ? समाज की जड़ रूढ़ियों ने किया ? या कृष्ण की क्रूर चेतावनी ने ? यह प्रश्न है जो कर्ण का ख़ून पुकार पुकार कर भारतीय समाज से पूछ रहा है।

———

सम्राट् की मान-रक्षा

शल्य का वध

कल के युद्ध में शल्य ने सारथि का काम चतुरता से तो किया हो परन्तु कर्ण से इनका कुछ विशेष स्नेह न था। ध्यानपूर्वक देखने से कुछ ऐसा भी प्रतीत होता है जैसे अन्दर से इनकी कर्ण से लाग सी हो। पहले तो उसे हतोत्साह करने में इन्होंने कोई बात उठा न रक्खी। फिर सिठनियों और उलहनों तक भी नौबत पहुँची। फिर और युद्ध तो जैसे तैसे हुआ। अन्त को रथ का मट्टी में धँसा हुआ पहिया कर्ण को स्वयं निकालना पड़ा और इसी में उसका प्राणान्त हुआ। अर्जुन के रथ के सम्बन्ध में भी इस प्रकार के कार्य की आवश्यकता पड़ी थी, सो तो कृष्ण ने कर दिया था। शल्य या तो उस समय घोड़ों के सँभालने के काम में ही इतने मसरूफ़ थे कि रथ से उतर न सके, या वे सारथि का काम कर ही कुछ अनमने से होकर रहे थे। महाभारतकार ने इस विषय को पाठक की कल्पना के लिए खुला छोड़ दिया है।

कर्ण के वध के पश्चात् ये रथ लौटाकर कौरव-दल में चले गये। कर्ण के वध का शोक दुर्योधन को बहुत अधिक

था। बहुतेरा रोया पीटा। परन्तु दैव के आगे विवश था। अन्त को सेनापति के पद पर शल्य का अभिषेक किया गया और दूसरे दिन सेना के मुख्य नायक वेही हुए। कृपाचार्य यह जानते थे कि युद्ध में दुर्योधन का मुख्य अवलम्ब कर्ण ही था। उसकी मृत्यु पर उन्होंने समझा कि सम्भवतः दुर्योधन अब संधि के लिए उद्यत हो जाय। उन्होंने वर्तमान अवस्था की ऊँच-नीच सब दुर्योधन के सामने खोल कर रखी। यह भी कहा कि कृष्ण धृतराष्ट्र की बात को न टालेंगे और पाण्डव कृष्ण के कथन की अवहेलना न करेंगे। परन्तु दुर्योधन ने अपने जीवन का अन्तिम मार्ग निश्चित कर लिया था। इस युद्ध के पश्चात् या वह रहेगा वा पाण्डव। सन्धि का अब अवसर ही कहाँ था? पहले ही दोनों पक्षों में पर्याप्त लाग थी। और अब तो युद्ध की मार-काट ने सभी योद्धाओं के हृदयों पर गहरे गहरे नये अमिट घाव लगा दिये थे। अभिमन्यु की मौत से पाण्डव तो दुःखी थे ही, कृष्ण भी सोये सोये चौंक उठते थे और अभिमन्यु की बाल-मृत्यु का विचार कर, रह रह कर व्याकुल हो उठते थे। दुर्योधन सन्धि का प्रस्ताव किसके आगे रखता? क्षत्रिय के लिए स्वर्ग का द्वार रणक्षेत्र की मौत है। दुर्योधन सन्धि से इस मौत को श्रेष्ठ समझता था।

शल्य के सेनापति होने का समाचार युधिष्ठिर को मिला तो उसने कृष्ण से शल्य के साम्मुख्य के सम्बन्ध में सम्मति

चाही। कल के रण-क्षेत्र के त्याग से युधिष्ठिर अपनी ही सेना की दृष्टि में गिर रहा था। अर्जुन का युधिष्ठिर पर निखट्टू होने का दोषारोप चाहे क्रोध ही के आवेश में किया गया था तो भी उसकी अन्तरात्मा के एक आकस्मिक उद्गार के रूप में उसकी तथा उसके अन्य भाइयों की मानसिक वृत्ति का सूचक अवश्य था। हो सकता है, प्रत्यक्षत: पाण्डव युधिष्ठिर को निकम्मा, दूसरों की कमाई के सहारे मौजें उड़ानेवाला, या कम से कम लड़ाई के मैदान का चोर न भी समझते हों। तो भी अनजाने में, एक असावधानता के क्षण में अर्जुन के मुँह से बे सोचे समझे निकल गई बात किसी गहरी, अर्जुन की परोक्ष चिति में काम कर रही भावना की सूचक अवश्य थी। मनोवैज्ञानिक मानवचिति के दो स्तर मानते हैं—एक प्रत्यक्ष दूसरा परोक्ष। प्रत्यक्ष चिति वह है जो सदा हमारे सम्मुख है। हम उसमें उठ रही भावनाओं, विचारों तथा उत्तेजनाओं को जानते हैं। इसके नीचे हमारे अन्त:करण के अन्तस्तल में परोक्ष चिति का क्षेत्र है। हम स्वयं उससे परिचित नहीं। हमारी रुचि, अरुचि के आकस्मिक उद्गार, हमारी झट से प्रकाशित होनेवाली प्रवृत्तियाँ, हमारे पूर्वत: अज्ञात दृष्टि-बिन्दु— ये सब उसी परोक्ष चिति में बन तथा बस रही सृष्टि है। हमारे वास्तविक आध्यात्मिक तथा नैतिक जीवन का आधार इसी परोक्ष चिति में वास कर रही भावनायें हैं। प्रत्यक्ष चिति पर सामाजिक औचित्य-अनौचित्य का दबाव रहता है।

हम आडम्बर से भले या बुरे, प्रेम या द्वेष के प्रकाशक, हो सकते हैं। कभी कभी यह आडम्बर ज्ञात होता है। हम अपने हृदय का भाव जान-बूझ कर प्रकट नहीं होने देते। परन्तु किसी किसी दशा में इस आडम्बर का भाव नित्य के अभ्यास या और किसी कारण से इतना गहरा पैठ जाता है कि हमें स्वयं उसका पता नहीं होता। हमारी आन्तरिक चिति में ईर्ष्या काम कर रही होती है। किसी किसी आवेश या असावधानी के क्षण में वह अपनी झलक दे भी जाती है। परन्तु चूँकि शिष्टाचारवश हमें ईर्ष्यालु होना पसंद नहीं, इसलिए हम इस क्षणिक प्रकाश को दबा देते हैं और समझते हैं कि हम ईर्ष्या से बच गये। मनुष्य की वास्तविक साधुता-असाधुता का पता तो उन्माद या इसी प्रकार की किसी और विवशता—आपे से बाहर होने—की अवस्था ही में लग सकता है। इसी प्रकार की छिपी हुई, परन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि में वस्तुतः विद्यमान, एक गर्हात्मक भावना या सम्मति का प्रकाश अर्जुन से एक संयमाभाव के क्षण में हो गया था। युधिष्ठिर ने उसे क्षमा कर दिया। अर्जुन क्रियात्मकरूप में उसके लिए पश्चात्ताप ही नहीं, सम्भवतः प्रायश्चित्त भी कर चुका था। बात आई गई हुई। परन्तु कृष्ण के लिए वह गर्हा अभी चिन्ता का विषय थी। ये जिसे सम्राट् पद के लिए योग्य समझते थे, उसे रणक्षेत्र का भीरु समझा जाय, और वह भी, उसके मुख्य योद्धा-द्वारा—उस वीर द्वारा जो साम्राज्य

की दाहिनी भुजा था, यह कृष्ण को कभी सह्य न था। कुछ हो, युधिष्ठिर का पराक्रम रण-भूमि में अवश्य प्रदर्शित हो जाना चाहिए। इन्होंने शल्य की इस प्रकार प्रशंसा कर कि वह भीष्म, द्रोण तथा कर्ण के जोड़ का तो है ही, संभव है उनसे बढ़ा-चढ़ा योद्धा हो, युधिष्ठिर को एक नपा तुला, मीन-मेख की सम्भावना से रहित आदेश दे दिया कि उससे लोहा आप ही को लेना होगा। आदेश का वाह्य रूप प्रार्थना के रूप में इस मन्त्रणा का था कि उससे आपके सिवा कोई लोहा ले न सकेगा। परन्तु युधिष्ठिर कृष्ण की मन्त्रणा का अर्थ समझते थे। वह मन्त्रणा उनके लिए अटल, अनिवार्य, गुरु की आज्ञा थी।

शल्य पाण्डव-दल के महारथियों से अलग अलग भी भिड़ता रहा, एक साथ भी। शल्य और भीम में गदा-युद्ध ठना। दोनों की भारी भारी चमकीली गदाओं, लम्बी मोटी लोहे सी सख़्त भुजाओं और लाल लाल नेत्रों से एक साथ चिनगारियाँ निकल रही थीं। इस योद्धृ-युगल में से कौन बचेगा, यह संशय का विषय था। आख़िर दोनों का एक दूसरे पर एक साथ प्रबल प्रहार होने से दोनों अचेत होगये। शल्य को कृपाचार्य अपने रथ पर बैठाकर ले गये। भीम पीछे से आह्वान करता रहा।

एक साम्मुख्य में युधिष्ठिर ने शल्य के घोड़ों को मार दिया, रथ को निकम्मा कर दिया, सारथि तथा पार्ष्णि का

भी वध कर दिया। यही हाल कृतवर्मा का किया। अश्वत्थामा कृतवर्मा की सहायता को आया। वह उसे अपने रथ में सवार कर दूर ले गया। इसके बाद के साम्मुख्य में पाँसा शल्य के पक्ष में पड़ गया। युधिष्ठिर बिना घोड़ों के, बिगड़े हुए रथ पर खड़े लड़ने लगे। इस अवस्था में कृष्ण की प्रोत्साहना उनका दिल बढ़ा रही थी। सारे युद्ध का भार अपने कन्धों पर समझ उन्होंने एक भारी शक्ति लेकर शल्य पर उसका वार किया। उसके लगते ही शल्य चित रहा। उसके अंग अंग से ख़ून बहने लगा। विजय युधिष्ठिर की रही।

अर्जुन आज के युद्ध में पीछे पीछे ही रहा। कृतवर्मा और अश्वत्थामा तथा संशप्तकों के साथ उसके दो दो हाथ हुए और उन्हें उसने नीचा दिखाया। परन्तु शल्य के सामने वह नहीं हुआ। उसका युधिष्ठिर से अलग अलग रहना ही इस बात का चिह्न था कि वह अपनी कल की करतूत से लज्जित है और उसका मानसिक प्रतिकार वह युधिष्ठिर को अकेला शल्य का योग्य-प्रतिद्वन्द्वी स्वीकार करके कर रहा है। युधिष्ठिर अपने पाँव पर खड़ा हो सकता है और युद्ध की अन्तिम, निर्णायक विजय उसी के हाथों हुई है, इस तथ्य को दर्शकों ने तो अनुभव किया ही। कृष्ण ने अर्जुन से क्रियात्मक रूप से व्यवहार ही ऐसा कराया कि उसे इसमें मीन-मेख हो ही न सके। परोक्ष चिति की उद्दण्ड भावना

के उपशमन का उत्तम मनोवैज्ञानिक उपाय यही था कि जैसे वह भावना सहसा उद्बुद्ध हुई थी, वैसे ही नैसर्गिक रूप से प्रतिपक्ष-भावना को भी अर्जुन के अन्तःकरण में चुपचाप, अनजाने में, प्रविष्ट होने का अवसर दिया जाय। प्रत्यक्ष प्रयत्न का प्रभाव इससे उलटा होता। कृष्ण की मनोवैज्ञानिक कर्म-पटुता का यह एक और उज्ज्वल उदाहरण है।

——

दुर्योधन की वीरगति

शल्य के मरते ही कौरव-सेना में भगदड़ पड़ गई। पाण्डव-दल ने पीछा कर असंख्य सैनिकों का संहार किया। यहाँ तक कि कौरव-पक्ष के महारथियों में से केवल चार—अश्वत्थामा, कृप, कृतवर्मा तथा स्वयं दुर्योधन ही बच रहे। दुर्योधन भाग कर द्वैपायन नाम के सर में जा छिपा[१]। शेष तीनों वीरों ने बीहड़ जङ्गल का रास्ता लिया। पाण्डवों ने दुर्योधन की खोज में रणभूमि का चप्पा चप्पा छान मारा। अन्त को शिकारियों के एक समूह ने, जो दुर्योधन को कृप आदि के साथ वार्तालाप करते सुन चुके थे, भीम को दुर्योधन के छिपने के स्थान की सूचना दी। पाण्डव कृष्ण-समेत वहाँ

---

१. महाभारत में लिखा है कि दुर्योधन ने इस तालाब के पानी को रोक लिया—जलस्तम्भन किया। और उसमें गदा-समेत सो रहा। इस प्रकार वह छिप भी गया और उसे थकान उतारने का समय भी मिल गया। जल में सोया सोया वह अपने साथियों, और जब पाण्डव वहाँ पहुँचे तो उनके साथ भी, बातचीत करता रहा। यह किस प्रकार हुआ, हमारी समझ में नहीं आया। छिपना तो इस चमत्कार-युक्त क्रिया के बिना भी हो सकता है। हमने केवल छिपने ही को स्वीकार किया है और इतनी ही बात हमारी कथा के प्रयोजन के लिए आवश्यक है।

पहुँचे और दुर्योधन को लड़ने के लिए ललकारा। युधिष्ठिर ने उसके इस प्रस्ताव को न्याय्य समझा कि उसके साथ पाण्डवों में से कोई एक गदायुद्ध करे। इसमें जो पक्ष जीत जाय, राज्य उसी का हो। कृष्ण को युधिष्ठिर का यह निर्णय कोरी मूर्खता प्रतीत हुआ। जो राज्य इतनी कठिनता से जीता था, उसे एक द्वन्द्व-युद्ध पर निर्भर कर देना भला कौन सी बुद्धिमत्ता है? यह युधिष्ठिर का एक और जुआ था। जो मनुष्य जीवन से निराश हो चुका हो, जिसके लिए जीना-मरना एक-सा हो, जिसकी दृष्टि में हार जाना, या प्राणों तक से हाथ धो लेना कोई घाटे का सौदा न हो, क्योंकि वह मर तो पहले ही रहा है—उसके साथ लड़ाई ठानना अपने प्राणों को ख़ाहमख़ाह बलि चढ़ाना है। उसे तो अब जान तोड़कर लड़ना ही है। यदि वह मर जायगा, तो इससे उसकी नई हानि क्या होगी? ऐसे हताश मनुष्य के मुक़ाबले में अपनी जान मुफ़्त जोखों में डालना और कुछ हो, नीति नहीं। किसी एक पाण्डव पर उसने विजय पा ही ली तो दूसरों को उसे नीचा दिखाने का अधिकार क्यों न हो? यदि सारा महाभारत का युद्ध युधिष्ठिर के स्वीकार किये न्याय-नियम पर लड़ा गया होता तो और बात थी। तब तो अभिमन्यु युद्ध को कभी का जीत चुका होता। जब सारा युद्ध इस नियम के विरुद्ध लड़ा गया है तब तो अनियम ही नियम है। युद्ध का यह परिशिष्ट भाग इस अनियम-रूप नियम का

अपवाद क्यों हो ? पर अब तो युधिष्ठिर द्वन्द्व-युद्ध की स्वीकृति दे चुके थे। कृष्ण के लिए थोड़ी देर क्रुद्ध कर चुप हो रहने के सिवाय चारा ही क्या था ?

दुर्योधन से गदा-युद्ध करने को भीम आगे निकला। इस समय तक श्रीकृष्ण के भाई बलराम भी तीर्थयात्रा से लौट आये थे। दुर्योधन और भीम दोनों गदायुद्ध की विद्या में उन्हीं के शिष्य थे। उनकी दुर्योधन पर विशेष कृपा-दृष्टि थी क्योंकि वह इस विद्या में अधिक निपुण था। वे भी अपने शिष्य-युगल का गदा-साम्मुख्य देखने लगे। पराक्रम दोनों का देखने योग्य था। दोनों ने युद्ध-विद्या के अच्छे हाथ दिखाये। चक्रों में, छालों में, दाँवों में, पेचों में, एक दूसरे को मात ही तो कर रहे थे। परास्त कोई न होता था।

अर्जुन कौतूहलभरी आँखों से अपने भाई के कौशल को देख रहा था। दोनों पक्षों को बराबर पराक्रम दिखाता देखकर वह अधीर हो उठा। उसने श्रीकृष्ण से पूछा—आपकी सम्मति में विजय किसकी होगी ? कृष्ण भी गदा-युद्ध के धनी थे। उनके हथियारों में गदा भी उतनी ही प्रसिद्ध है जितनी तलवार और चक्र। उन्होंने कहा—बलवान् तो भीम अधिक है परन्तु युद्ध के दाँव दुर्योधन को अधिक आते हैं। और विजय आख़िर दाँवों ही की होती है। लड़ाई नियम-पूर्वक रही तो भीम हार जायगा। हाँ ! यदि उसे अपनी वह प्रतिज्ञा स्मरण आजाय जो उसने

दुर्योधन के निर्लज्जता-पूर्वक भरी सभा में द्रौपदी के सम्मुख अपनी रान खोल दिखाने पर की थी कि यदि मैं दुर्योधन की यह रान गदा से न तोड़ूँ तो नारकी होऊँ, तब जीत भीम की हो सकती है।

अर्जुन युद्ध के नियमों का बड़ा पक्षपाती था परन्तु अब तो वह भी कौरव-दल के द्वारा किये गये अनियमों और उनके प्रत्युत्तर में किये गये अपने पक्ष के नियम-भंग का मानों अभ्यस्त सा हो गया था। वह भीम के सम्मुख जा खड़ा हुआ और उसने उसे दिखा दिखा कर अपनी रान पर हाथ मारा।

गदा-युद्ध में नाभि के नीचे वार करना वर्जित है। भीम ने पहले तो दुर्योधन के सामने यथापूर्व चक्कर काटे और कई प्रकार के सरल दाँवों से गदा के वार किये। अन्त में जब वह ऊपर को उछला तो इसने गदा के प्रखर प्रहार से उसकी रान तोड़ दी। इस प्रहार का आघात इतना प्रबल हुआ कि वह अन्तिम साँसें लेने लगा।

बलराम इससे जोश में आगये और भीम को उसके नियम-भंग का दण्ड देने को आगे बढ़े। परन्तु कृष्ण ने अपनी भुजाओं के घेरे में उन्हें रोक लिया और यह कह कर उनका जोश ठण्डा किया कि यह नियम-भंग भीम ने अपनी प्रतिज्ञा-पालनार्थ किया है। बलराम उसी कुपित अवस्था में रण-क्षेत्र से चल दिये।

भीम दुर्योधन को मार गिराने से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने गिरे हुए दुर्योधन के सिर पर लात मारी और उसे कुवाक्य कहे। युधिष्ठिर इस पर बिगड़ा। आख़िर वह भी तो राजा था! एक दम तोड़ रहे राजा का वृथा का अपमान उसे असह्य हुआ। कृष्ण ने भी कहा—मरे धूर्त को और क्या मारना? इस पर दुर्योधन को क्रोध आगया। उसने कृष्ण को ख़ूब जली कटी सुनाई। उसे कहा—भीष्म का कूटविधि से वध अर्जुन से करानेवाले तुम ही तो हो। द्रोण की मृत्यु के लिए असत्य-भाषण की मन्त्रणा देनेवाले तुम ही तो हो। जयद्रथ को मरवानेवाले तथा भूरिश्रवा का सिर उसकी योगावस्थित स्थिति में कटवा देनेवाले और फिर कर्ण पर आपत्ति में वार करानेवाले तुम्हीं तो हो। अब यदि तुम्हारी सलाह से अर्जुन ने भीम को इशारा कर गदा-युद्ध के नियमों के विरुद्ध मेरी भी रान तुड़वा दी तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? मैं इतने नियमों के भंग का दोष अकेले तुम्हारे सिर पर धर कर तथा तुम सबको नारकीय बनाकर स्वर्ग चला हूँ।

श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को वही उत्तर दिया जो वे इससे पूर्व कर्ण को दे चुके थे। इतने में दुर्योधन ने आँखें मोच लीं और परलोक के प्रस्थान की तैयारी करते करते कहा—हमें तो क्षत्रियोचित गति प्राप्त हो गई है। इसी दिन के लिए क्षत्रिय-पुत्र संसार में आता है। रहे युद्ध के अनिष्ट परिणाम, इनका भार उन्हें उठाना होगा जो पीछे रहेंगे।

मरते समय दुर्योधन की मुद्रा निर्भय वीरों की सी थी। महाभारतकार ने और तो सब स्थलों पर दुर्योधन के माथे पर ख़ूब कालिख पोती है, परन्तु यहाँ उससे पूरा न्याय किया है। लाख पतित हो, पापी हो, दुर्योधन भीरु न था। रणक्षेत्र में अपनी जान हथेली पर लिये लिये फिरा था। सन्धि के प्रस्तावों को जैसे युद्ध के पूर्व ठुकरा देता रहा था, युद्ध के बीच में—ऐसे क्षणों में भी जब उसके पक्ष की स्पष्ट पराजय हो रही थी—उसी शान से रद कर देता रहा। विपक्षी की कृपा का भिक्षुक होने के स्थान में प्राणोत्सर्ग इसे अधिक इष्ट रहा। योधाओं की दृष्टि में यह वृत्ति वीर-वृत्ति है और उस समय के क्षत्रियों में प्रचलित विश्वास के अनुसार यदि किसी शठ में भी यह मनोवृत्ति पाई जाय तो वह भी रणभूमि में खेत रहा सीधा स्वर्ग को सिधारता है। दुर्योधन के सिर पर महाभारतकार ने इस समय आकाश से फूलों की वर्षा कराई है। उसे स्वर्ग ले जाने को देवोचित विमान ला खड़ा किया है। गन्धर्वों और अप्सराओं-द्वारा स्वर्ग जाते वीर की स्तुति कराई है। शूर-शठ दुर्योधन की यह ठाठ-बाट की मौत देख कुछ समय तो पाण्डव, कृष्ण और सात्यकि खिसियाने रह गये। उन्हें इस बात की लज्जा रही कि कुछ हो, इस आततायी ने अपनी निर्भीकता के कारण अन्तिम श्वासों में ही वीरगति प्राप्त कर ली है और हम सत्य और न्याय का पक्ष लेकर भी अभी उससे वंचित रहे हैं।

सताये हुओं को सान्त्वना

दुर्योधन के और सब भाई तो लड़ाई में काम आये, एक भाई बच रहा। उसका नाम युयुत्सु था। वह था तो धृतराष्ट्र की सन्तान पर गान्धारी के पेट से नहीं, एक वैश्य-कुलांगना के गर्भ से। वह युद्ध आरम्भ होने के समय पांडवों की ओर हो गया था। सम्भवत: उसकी माता की जाति छोटी होने के कारण उसका कौरव-कुल में वह मान न होता हो, जो उसके अन्य भाइयों का। दुर्योधन के भाग जाने पर उसने कौरव-कुल की स्त्रियों को निस्सहाय देख युधिष्ठिर से उन्हें हस्तिनापुर पहुँचा आने की छुट्टी चाही। युधिष्ठिर ने अपना रथ जुतवा दिया और कहा—भौजाइयों को पूर्ण मानपूर्वक राज-प्रासाद में पहुँचा दो।

धृतराष्ट्र को दुर्योधन के पराजित होकर भाग जाने का समाचार युयुत्सु-द्वारा मिला। इसके पश्चात् दुर्योधन के सरोवर में जा छिपने, वहाँ उसके पकड़े जाने, गदा-युद्ध लड़ने और भीम-द्वारा अनियम से मारे जाने का वृत्तान्त भी ज्ञात हुआ। उसकी व्याकुलता अकथनीय है। महारानी गान्धारी एक धर्मपरायणा तपस्विनी थी। वह इस लड़ाई के पश्चात् निपूती रह गई। उसकी ठण्डी आह का भय युधिष्ठिर को

भी था। उसने श्रीकृष्ण को धृतराष्ट्र और गान्धारी को समझाने भेजा। इन्होंने अपनी अलौकिक बुद्धि द्वारा दुर्योधन के बूढ़े माता-पिता दोनों को ढाढ़स दिया और उनसे यह सचाई अन्त को स्वीकार करा ही ली कि इस भयंकर आपत्ति का मूल कारण दुर्योधन का हठ था। यदि वह अपनी माता के हितकर उपदेशों को सुन लेता तो आज इस बुढ़िया को यह दिन देखना नसीब न होता। धृतराष्ट्र को तो सञ्जय ने युद्ध का समाचार सुनाते हुए बार बार यह कड़वी सचाई कर्ण-गोचर कराई थी कि यदि वह पुत्र पर इतना मुग्ध हो अपनी विवेक की आँख न फोड़ लेता तो उसे एक साथ लगभग सारे कुल के संहार के कटु-समाचार न सुनने होते। कृष्ण धृतराष्ट्र की इस दोमुँही चाल से परिचित तो थे ही परन्तु निर्दयी दैव से पहले ही बुरी तरह सताये गये उस नेत्र-हीन वृद्ध पर दया कर उसके दोष को इस समय उन्होंने उसके मुख पर न कहा। यह कृष्ण का शिष्टाचार था।

सोतों का संहार

धृतराष्ट्र के पास बैठे बैठे श्रीकृष्ण को विचार स्फुरित हुआ कि कहीं अश्वत्थामा रात के समय आक्रमण ही न कर दे।[1] इन्होंने धृतराष्ट्र से छुट्टी माँगी और सीधे पाण्डवों के शिविर में गये। महाभारत में आगे यह नहीं लिखा कि उस सम्भावित आक्रमण के प्रतिकार के लिए इन्होंने प्रबन्ध क्या किया ?

कृप, अश्वत्थामा तथा कृतवर्मा ने दुर्योधन से, जब वह अपने जीवन के अन्तिम श्वास ले रहा था, भेंट की थी। उसने मरते मरते अश्वत्थामा को सेनापतित्व का अभिषेक कराया था। रात का समय इन्होंने कहीं दूर जङ्गल में जा बिताया।

---

१. समाश्वास्य च गान्धारीं धृतराष्ट्रञ्च माधवः ।
द्रौणिसंकल्पितं भावमन्वबुध्यत केशवः ॥
ततस्त्वरित उत्थाय पादौ मूर्ध्ना प्रणम्य च ।
द्वैपानस्य राजेन्द्र ततः कौरवमब्रवीत् ॥
आपृच्छे त्वां कुरुश्रेष्ठ मा च शोके मनः कृथाः ।
द्रौणेः पापोऽस्त्यभिप्रायस्तेनास्मि सहसोत्थितः ॥
पाण्डवानां वधे रात्रौ बुद्धिस्तेन प्रदर्शिता ।

शल्यपर्व ६३, ६८-७१

कृप और कृतवर्मा तो सो गये और अश्वत्थामा जागता रहा। उस पर बदले का भूत सवार था। बैठे बैठे उसने अपने साथियों को जगा दिया और कहा कि जिस वृक्ष के नीचे हम विश्राम कर रहे हैं, इस पर कौओं के घोंसले हैं। अचेत पड़े कौओं पर अभी उल्लू झपटा था। वह इन्हें सोते ही सोते में मार गया। मुझे पाण्डवों से बदला लेने का यह उपाय पसन्द आया है कि उन पर निद्रित अवस्था में आक्रमण किया जाय। कृप ने जो अश्वत्थामा का मामा था, इस विचार की नैतिक दुष्टता प्रदर्शित कर उसे इस कलुषित कर्म से रोकना चाहा। परन्तु अश्वत्थामा रुका नहीं। अन्त को तीनों ने रात्रि के ही समय पाण्डवों के शिविर पर छापा मारा।[१]

ये सीधे पाञ्चालराज के आवास पर पहुँचे। धृष्टद्युम्न से अश्वत्थामा का विशेष द्वेष था क्योंकि उसी ने योगावस्थित द्रोण का सिर क़लम कर ज़मीन पर फेंक दिया था। जैसे हम ऊपर कह चुके हैं, इस क्रूर प्रहार की सम्भावना श्रीकृष्ण ने की थी। संभवत: पांचालों ने श्रीकृष्ण की चेतावनी पर ध्यान न दिया हो। या रक्षा के सब उपाय रहते भी छापा मारनेवालों

---

१. महाभारत में लिखा है कि धृष्टद्युम्न के शिविर के द्वार पर भूत खड़ा था। वह अश्वत्थामा के बस का न था। शिव की उपासना कर अश्वत्थामा ने उसे शान्त किया। यह स्पष्ट शैवों का प्रक्षेप है।

ने लुक-छिपकर आकस्मिक छापा मारा हो। कुछ हो, तीन योद्धाओं के हाथों अनेक वीरों का संहार एक साथ हो गया। पाञ्चालों की छावनी द्रौपदी के जायों की ननसाल थी। वे भी वहीं सो रहे थे। अन्य रथियों महारथियों के साथ इस बेख़बरी के युद्ध में वे भी काम आये। इस सुप्त-संहार से बचे पाँच पाण्डव, श्रीकृष्ण और सात्यकि। इस प्रकार जहाँ कल की प्रलयंकर लड़ाई में कौरव-दल के तीन महारथी बच गये थे, वहाँ आज के गुप्त छापे में पाण्डव-सेना के भी केवल सात महायोद्धा शेष रहे।

दूसरे दिन कौरवों के प्रासाद में पाण्डवों की धृतराष्ट्र आदि गुरुजनों से भेंट और राजमहलों में रानियों का विलाप—ये दोनों दृश्य अत्यन्त करुणाजनक हुए। भारतों का सारा अवशिष्ट वंश अब रणक्षेत्र में पहुँचा। प्रत्येक विधवा बाला ने अपने मृत पति के शव को ढूँढ़ा और वह उसके पास बैठ कर रोई। अभिमन्यु की धर्मपत्नी उत्तरा का विलाप अत्यन्त रोमाञ्चकारी था। उस ग़रीब का विवाह हुए अभी छः ही मास हुए थे। मित्र अमित्र दोनों ने उस बालविधवा की व्यथा देख संवेदना के अविरल आँसू बहाये।

महाभारत का युद्ध-प्रकार

पिछले परिच्छेदों में हमने महाभारत के युद्ध का उन्हीं घटनाओं का वर्णन किया है जिनसे श्रीकृष्ण का विशेष सम्बन्ध है। इससे साधारणतया युद्ध की सभी मुख्य घटनाओं पर स्वत: ही प्रकाश पड़ गया है। कृष्ण पाण्डव-पक्ष के कर्णधार थे। समस्त युद्ध की नीति का निश्चय यही कर रहे थे। फिर मुख्य योद्धा के सारथि होने से युद्ध की सभी प्रधान घटनाओं में इनका क्रियात्मक रूप से भी हाथ था। यह सब कुछ होने पर भी युद्ध की सामान्य प्रणाली पर हमने अब तक प्रकाश नहीं डाला है। प्रत्येक पक्ष में कितने योद्धा थे? उनकी युद्ध-सामग्री क्या थी? समर-भूमि को युद्ध के लिए कैसे तैयार किया गया? सैनिकों को व्यूहों में कैसे बाँटा गया? युद्ध के नियम क्या निश्चित हुए? इन बातों का युद्ध के मुख्य नायक के जीवन से सम्बन्ध तो है ही, उस समय की युद्ध-नीति पर भी इन बातों के वर्णन से विशेष प्रकाश पड़ेगा। कृष्ण महाभारत-काल के प्रमुख योद्धा तथा नीतिज्ञ थे। वे किस परिस्थिति में पैदा हुए और उसमें उन्होंने अपना कृत्य किस प्रकार निभाया? ये प्रश्न श्रीकृष्ण की जीवनी में उठाये जाने के लिए केवल प्रासंगिक ही नहीं, स्वाभाविक हैं।

युद्ध कुरुक्षेत्र में हुआ था, यह बात तो सभी जानते हैं। उसमें पाँच योजन स्थान[1] लड़ने के लिए छोड़कर पश्चिम की ओर पाण्डवों ने डेरा किया और पूर्व की ओर कौरवों ने। युधिष्ठिर ने सम, स्निग्ध, लकड़ी और घास से परिपूर्ण भूमि अपने शिविर के लिए चुनी। श्मशान, देव-मन्दिर, ऋषियों के आश्रम और तीर्थ छोड़ दिये गये[2]। उन दिनों युद्ध में इन स्थानों को छोड़ देने का नियम ही था। राजा शाल्व ने भी द्वारिका पर चढ़ाई करते समय इस नियम का पालन किया था। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को साथ लेकर सारी भूमि का चक्कर लगाया। धृष्टद्युम्न और सात्यकि ने सारी छावनी को मापा। हिरण्वती नदी के किनारे घाट आदि बनवा कर सेना का आवास कराया गया। श्रीकृष्ण ने वहाँ परिखा खुदवा कर एक गुप्त सेना आवश्यकता के अवसर के लिए सुरक्षित करा दी। प्रत्येक राजा की छावनी अलग अलग थी। श्रीकृष्ण सबको लकड़ी, भोज्य, पेय आदि सब दिलवा रहे थे। चतुर शिल्पी और वैद्य उपकरणों-सहित नियत किये गये। युद्ध की सब सामग्री पर्याप्त राशि में हरेक के पास पहुँचाई गई। हाथी कवच पहने लोहे के पहाड़ से प्रतीत हो रहे थे। शस्त्र फेंकने के बड़े बड़े यन्त्र विद्यमान थे।

---

१. पञ्च योजनमुत्सृज्य मङ्गलं तद्रणाजिरम्। उद्योग० १६६,१५।

२. उद्योगपर्व १५१,१।

यही अवस्था कौरवों की छावनी की थी। लिखा है—दुर्योधन ने समर-भूमि में एक नया हस्तिनापुर बसा लिया था। दोनों पक्षों के राजा अपने पूरे परिवारों-सहित आये थे। कोष, रत्न, धन, धान्य सब उपस्थित था। वणिक, शिल्पी, यहाँ तक कि वेश्यायें और तमाशा देखनेवाले सभी प्रकार के लोग युद्ध-क्षेत्र में आये थे और सबके आवास दुर्योधन ने स्वयं जा जाकर देखे[1]।

युधिष्ठिर ने अलग अलग संज्ञायें निश्चित कर सबको बता दिया कि इन संकेतों का कहनेवाला स्वपक्षीय समझा जायगा[2]। प्रमुख लड़ैतों की पहचान उनके रथ, घोड़ों के रंग, ध्वजा, शंख की ध्वनि आदि से होती थी। भीष्म का छत्र, कमान, घोड़े और ध्वजा सभी श्वेत थे। द्रोण के घोड़े लाल रंग के थे। युधिष्ठिर का छत्र-दण्ड हाथीदाँत का और रथ सोने का था। उस पर रत्न जड़े हुए थे।

कौरवों की सेना में ११ अक्षौहिणियाँ और पाण्डवों की सेना में सात अक्षौहिणियाँ थीं। उद्योगपर्व के १५४ वें अध्याय में इनकी संख्या कई प्रकार से दी गई है। २२ वें श्लोक में एक रथ के साथ १० हाथी १०० घोड़े १००० पुरुष—ऐसी गणना दी गई है। परन्तु २३ वें श्लोक में एक रथ के साथ ५० हाथी ५००० घोड़े और ३५००० मनुष्य

---

१. उद्योगपर्व १९६।

२. भीष्मपर्व १।

गिनाये गये हैं। २४ वें श्लोक में एक सेना में १०५ हाथी और उतने ही रथ गिनाकर दस सेनाओं की एक एक पृतना और दस पृतनाओं की एक वाहिनी कही गई है। परन्तु २५ वें श्लोक में लिखा है—सेना, वाहिनी, पृतना, ध्वजिनी, चमू और अक्षौहिणी पर्याय-वाची हैं। प्रतीत यह होता है कि उस समय सेना के विविध विविध प्रकार के विभाग (Division) होते थे। कौरव-दल के ११ डिवीज़न थे और पाण्डव-दल के ७। सम्भव है, भिन्न भिन्न डिवीज़नों की संख्या भिन्न भिन्न रही हो। छोटे से छोटा डिवीज़न १० रथों, १०५ हाथियों, १०५० घोड़ों और १०५०० पुरुषों का रहा होगा। बड़े डिवीज़नों में १०५०० हाथी और उतने ही रथ होंगे। सम्भव है, इस प्रकार के डिवीज़नों में पैदल और घुड़सवार न रहे हों।

लड़ाई के नियम[1] ये निश्चित हुए:—

(१) विहित युद्ध-काल की समाप्ति पर आपस में प्रीति हो जाया करेगी। फिर एक दूसरे को छला न जायगा।

(२) वाणी से युद्ध करनेवालों (तमाशा देखनेवालों, केवल शब्दों में ही किसी दल का पक्ष लेनेवालों) से वाणी से ही युद्ध होगा। लड़ाई से बाहर रहनेवालों का वध न किया जायगा।

(३) रथी रथी से लड़ेगा, हाथी-चढ़ा हाथी-चढ़े से, घुड़सवार घुड़सवार से और पैदल पैदल से।

---

१. भीष्मपर्व १, २७–३२।

(४) व्याकुल तथा जिसे विश्वास दिलाया गया हो उस पर प्रहार न किया जायगा।

(५) किसी के साथ लड़ रहे, लड़ाई से विमुख, शस्त्र-रहित तथा कवचहीन का वध न किया जायगा।

(६) सूतों, धुरी पर खड़े हुओं, शस्त्र-निर्माताओं, भेरी तथा शंख बजानेवालों पर प्रहार न किया जायगा।

कई प्रकार के शस्त्र ऐसे थे जिनका प्रयोग धर्म-युद्ध में नहीं होता था, यथा बहुत छोटा तीर (नालीक) जिसके शरीर में ही रह जाने का भय होता था; दो उलटे काँटों से संयुक्त बाण जो शरीर के अन्दर घुसा हुआ बड़े कष्ट से बाहर निकल सकता था; (कर्णी) विषलिप्त बाण; गौ तथा हाथी की हड्डी का बाण, संश्लिष्ट अर्थात् ऐसा बाण जिसके कई भाग हों, और एक भाग दूसरे भाग से ढीला जुड़ा हो; सड़ा हुआ बाण; टेढ़ा चलनेवाला बाण। आजकल के युद्ध में भी विषैली गैसों तथा फैल जानेवाली गोलियों का प्रयोग निषिद्ध है। इन नियमों का पालन उसी समय हो सकता है जब दोनों पक्ष सुसभ्य हों और दोनों इन नियमों पर आचरण करें। इस समय भी आज-कल की परिस्थितियों के अनुसार युद्ध के नियम बने हुए हैं। परन्तु इनके पालन न होने की शिकायत रहती है। यही अवस्था महाभारत के युद्ध की थी। कई प्रकार के

निषिद्ध शस्त्रों का प्रयोग किया गया। 'ऋजु युद्ध' अर्जुन ही के हिस्से आया। और इसका कष्ट सब अनुभव करते रहे।[1]

सेनाओं की रचना व्यूहों में की जाती थी। महाभारत के युद्ध में इन व्यूहों का प्रयोग हुआ था:—

सर्वतोमुख, वज्र अथवा सूचीमुख, महाव्यूह, क्रौंच, गरुड़, अर्धचन्द्र, मकर, श्येन, मण्डल, शृंगाटक, सर्वतोभद्र, चक्र, सचक्र शकट।

इन व्यूहों के भाग तुण्ड, मुख, नेत्र, पक्ष या पार्श्व; पृष्ठ, सेना-जघन थे। शृंगाटक व्यूह के शृंगादि भाग थे। प्रत्येक भाग में एक अथवा अनेक मुख्य योद्धा उचित दलों-समेत नियुक्त किये जाते थे। वज्र-व्यूह के सम्बन्ध में लिखा है कि इस व्यूह-द्वारा छोटी सेना बड़ी सेना को हरा लेती थी। मण्डल-व्यूह सातवें दिन के युद्ध में पाण्डवों ने रचा था। उसमें एक एक हाथी के साथ सात सात रथ थे। एक एक रथ के साथ सात सात घोड़े, एक एक घोड़े के साथ सात धनुर्धर और एक एक धनुर्धर के साथ सात चारी थे।[2] सचक्र शकट दोहरा व्यूह प्रतीत होता है। इसका दूसरा नाम सूचीपद्म दिया गया है। इस व्यूह के बीच में एक और व्यूह था जिसे गर्भ-व्यूह कहते थे। गर्भ-व्यूह के अन्दर गूढ़व्यूह नाम का तीसरा व्यूह था। इन व्यूहों की रचना किस प्रकार

---

१. शान्तिपर्व० ९५। द्रोण० १९०, ११-१२।

२. भीष्मपर्व० ८२. १४–१५।

होती थी, इसका वर्णन कहीं नहीं किया गया। प्रत्येक व्यूह के नाम से उसके आकार का कुछ कुछ अनुमान होता है। विविध पक्षियों के आकार में कुछ अवान्तर भेद होते होंगे, जिनका पता लगाना इस समय असम्भव है। सचक्र शकट व्यूह का परिमाण बारह गव्यूति लिख कर उसके पीछे का विस्तार पाँच गव्यूति बताया गया है। यह व्यूह और सब व्यूहों से बड़ा था। जयद्रथ की रक्षा के लिए द्रोण ने इसकी रचना विशेष चतुराई से की थी। इसके आगे चक्र था और पीछे शकट।

लड़ाई दो प्रकार से होती थी—एक द्वन्द्व-युद्ध, दूसरा संकुल-युद्ध। द्वन्द्व में एक वीर के सम्मुख एक ही वीर होता था। संकुल में सेनायें लड़ती थीं। महाभारत-युद्ध के वृत्तान्त के पढ़ने से पता लगता है कि द्वन्द्व और संकुल दोनों प्रकार के युद्ध साथ साथ चलते रहते थे। मुख्य योद्धा एक एक रहते भी उनकी सहायता को दोनों पक्षों से अनेक वीर आ उपस्थित होते थे। संकट के समय अपने साथी को बचाना तथा किसी अन्य आवश्यकता के अवसर पर उसके आड़े आना सर्वथा विहित था। भीष्म से शिखण्डी लड़ रहा था परन्तु उसे सब तरह की सहायता अर्जुन देता चला जाता था। यही बात दूसरे पक्ष के योद्धा भी कर रहे थे। अभिमन्यु पर छः महारथियों का वार अवैध इसलिए समझा गया कि वह अकेला और निःशस्त्र था।

द्वन्द्व-युद्ध द्वारा किसी राजनैतिक झगड़े का निर्णय करने का रिवाज भी उस समय प्रचलित था। जरासन्ध और भीम के द्वन्द्व-युद्ध ने भारत की एक बड़ी राजनैतिक समस्या का अन्त कर दिया। महाभारत के युद्ध की समाप्ति भी हुई तो दुर्योधन और भीम के द्वन्द्व-युद्ध पर ही, परन्तु इस विधि का अवलम्बन दुर्योधन ने तब किया जब और सब विधियाँ असफल रहीं। पाण्डवों की प्राप्त की हुई विजय को सन्देह में डाल कर दुर्योधन ने कुछ समय तो श्रीकृष्ण जैसे स्थितप्रज्ञ को भी चिन्तित कर दिया।

युद्ध की मुख्य सामग्री हाथी, घोड़े, रथ, बाण और धनुष थे। गजसूत्र अर्थात् हाथियों की विद्या का अभ्यास क्षत्रिय लोग करते थे। प्राग्ज्योतिष् का भगदत्त और अवन्ति के विन्द और अनुविन्द हाथियों का एक बड़ा समूह साथ लाये थे। मनुष्य की तरह हाथियों को भी कवच पहिनाये जाते थे। इनका प्रहार भयंकर होता था। परन्तु भीम-सदृश कई वीर पैदल और बिना शस्त्र के हाथियों को व्याकुल कर देने में प्रवीण थे। हाथी के नीचे जाकर गदा-द्वारा उसकी गत बनाना, यह इन वीरों के लिए बायें हाथ का खेल था। हाथियों के सिर पर ख़ोद भी रहता था।

रथ दो पहिये के होते थे। प्रत्येक रथ में चार घोड़े जुता करते थे। रथ के बीच में योद्धा और उसके आगे सारथि बैठता था। प्रवीण रथी सारथि-विद्या का भी धनी होता था।

श्रीकृष्ण और शल्य इस विद्या के उस्ताद माने गये। सात्यकि और दु:शासन ने भी संकट-समय में इस विद्या के जौहर दिखाये। रथ को घुमाना, उसे तेज़ तेज़ चक्कर देकर तथा नीचे-ऊपर उतार-चढ़ाव देकर सारथि रथी को बचाता भी था और उसकी युद्ध में सहायता भी करता था। रथी थोड़े से शस्त्र तो इसी रथ में रख लेता होगा, परन्तु शस्त्रों का भण्डार बड़े बड़े रथों में उसके साथ रहता था। जिस दिन कर्ण कौरव-सेना का सेनापतित्व कर रहा था, अश्वत्थामा शस्त्रास्त्र के सात रथ अपने साथ ले गया था। भीम के राक्षस-पुत्र घटोत्कच के रथ का वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

फौलाद का अत्यन्त घोर, रीछ के चमड़े से मढ़ा हुआ बड़ा, ३० नल्व[1] लम्बा,........आठ चक्रोंवाला विशाल रथ जिसका झण्डा ऊपर उठा हुआ था। झण्डे पर बड़े गिद्ध का चित्र था। लहू से सना हुआ, अँतड़ियों की माला से सुशोभित था।

(द्रोण० १५६,५६-६०)

ऐसा ही वृत्तान्त अलाम्बुष के रथ का मिलता है।

(द्रोण० १६८, १७)

रथ के निम्नलिखित अंग होते थे:—

चक्र, ईषा, यूग, अक्ष, कूबर, अनुकर्ष, आदि।

(द्रोण० १४६, ३४)

---

१ नल्व का परिमाण ४०० हाथ लिखते हैं। सम्भव है, महाभारत-काल में इसका परिमाण कम हो।

युद्ध के शस्त्र[1] ये थे:—

क्षेपणी—अर्थात् गोपिया जिसमें पत्थर रख कर फेंकते थे। शस्त्रों में आयस के गुड़ों का नाम भी आता है। गुड़ का अर्थ है गोली। इस गोली के फेंकने के लिए किस मशीन का प्रयोग होता था, यह नहीं लिखा। सम्भव है, क्षेपणी से यह काम भी लेते हों।

गदा—इस पर सोने के या सुनहरी (जाम्बूनदमय) पट्ट होते थे।

शक्ति—लोहे का बना कचनार की शकल के मुखवाला नीचे से गोस्तनाकार चार हाथ लम्बा हथियार।

प्रास—दो हत्थोंवाला ठोस लोहे का या अन्दर से लकड़ी का और ऊपर लोहे से मढ़ा चौबीस अंगुल का हथियार।

भीष्मपर्व ७६, १४।

असि—पतली लम्बी तलवार।

ऋष्टि—दुधारी तलवार।

तोमर—चार, साढ़े चार या पाँच हाथ का, तीर की तरह तेज़ नोकदार हथियार। इस हथियार को आयस अर्थात् लोहे का लिखा है।

---

१. क्षेपणी से प्रास तक हथियारों का उल्लेख भीष्म० ७६,१४ में पाया जाता है। ऐसे ही जो श्लोकांक नीचे दिये गये हैं, वे उनसे पूर्व के अंक के नीचे और स्वयं उनसे ऊपर आये सब हथियारों के उल्लेख के प्रमाण हैं।

परिघ—डंडा जिसकी शाम लोहे की हो, या जो लोहे से मढ़ा हो।

भिन्दीपाल—बड़े फलवाला कुन्त (बरछा)।

मुशल—खैर का शूल। भीष्मपर्व ७३,३।

कर्णी—काँटेदार तीर।

नालीक—छोटा तीर। इसकी नोक के साथ दो उलटे काँटे लगे होते थे जिससे यह शरीर में घुसकर फिर निकल न सकता था।

नाराच—लोहे का तीर। इसे तैल-धौत अर्थात् तेल से साफ़ किया गया लिखा है।

भीष्मपर्व १०६, १३।

शर—सरकण्डे का तीर। इसकी नोक लोहे या हड्डी की होती थी।

क्षुरप्र—चपटे मुँह का तीर। किसी दूर खड़े शत्रु का कोई अंग काटना हो तो इसका प्रयोग होता था। अर्जुन ने भूरिश्रवा की भुजा क्षुरप्र से ही काट दी थी।

शिलीमुख—तीर।

चक्र—यह हथियार श्रीकृष्ण का विशेष था। अन्य लोग भी इसका प्रयोग तो करते हैं परन्तु कृष्ण संभवतः इसके उस्ताद थे। यह फेंका हुआ लौट आता था। आस्ट्रेलिया का बूमिराग भी कहते हैं, इसी प्रकार लौट आता है।

पट्टिश—लोहे के डंडे की तेज़ धारवाली बर्छी। कौटिल्य के टीकाकार ने पट्टस का अर्थ "उभयान्तत्रिशूल-क्षुरकल्प:" लिखा है।

कामुर्क—ताल की लकड़ी का धनुष।

खड्ग—तलवार। गैण्डे के सींग का हत्था। खड्ग के हत्थे हाथी-दाँत के भी लिखे हैं।

चाप—एक विशेष प्रकार के बाँस की कमान। एक स्थान पर इसका पृष्ठ सोने का लिखा है।

भीष्मपर्व १०३, २२-२५।

शतघ्नी—१. प्राकार पर धरा एक स्तम्भ जिसमें सब ओर से लम्बे मोटे कील निकले रहते थे, और जिसके सिरों पर पहिये लगे होते थे। २. कीलों से आच्छादित चार ताल लम्बा पत्थर। ३. एक प्रकार का फेंकने का हथियार।

परश्वध—फरसा। कुल्हाड़े के रूप का हथियार।

मुद्गर।

कम्पन—फेंकने का एक हथियार।

वत्सदन्त—एक प्रकार का तीर।

भुषुण्डी—फेंकने का एक हथियार।

अशनि—वज्र। यह भी एक फेंकने का हथियार है। इसे अष्टचक्र-युक्त कहा है। घटोत्कच ने कर्ण पर अशनि

छोड़ी थी। उसने इसे रोक कर लौटा दिया। वह शत्रु के घोड़ों, रथ आदि को भस्म कर पृथिवी में जा धँसी।

लगुड़—मोटा लट्ठ। गदा।

निस्त्रिंश—टेढ़े फल की तलवार।

शूल—तेज़ नोक का भाला।

क्षुर—छुरा।

विशिख—तीर।

(द्रोणपर्व ३०, १६-१८)

कुन्त—पाँच, छः या सात हाथ की काँटेदार बरछी।

भल्ल—अर्धचन्द्राकार फेंकने का हथियार।

अञ्जलिक—अर्जुन का बाण-विशेष।

विपाट—लम्बा तीर।

(द्रोणपर्व ३८,२२)

वज्र—अशनि।

पाषाण—अश्मगुड़, पत्थर की गोलियाँ। पहाड़ी सेनाओं को अश्म-युद्ध में प्रवीण कहा गया है। लिखा है—और लोग ये युद्ध नहीं कर सकते (द्रोणपर्व ३७,२४)। कौटिल्य में यन्त्रगोष्पण और मुष्टि पाषाणों के फेंकने के साधन बताये गये हैं।

स्थूण—स्तम्भ।

योद्धा लोग अपनी रक्षा के लिए कवच पहिनते थे। ये लोहे तथा काँसे के होते थे। हाथ में ढाल रहती थी। सिर पर शिरस्त्राण, हथेली पर तलत्र और उँगलियों पर अंगुलित्र बाँधते थे। दस्ताने (अंगुलित्र) का विशेषण एक स्थान पर गोधा चर्ममय लिखा है अर्थात् वह गोह के चमड़े का होता था।

घोड़ों की छाती पर उरश्छद, कमर पर कक्षा, पूँछ पर पुच्छत्र, गले में योक्त्र तथा और कहीं आपीड़ रहते थे। हाथी के ऊपर परिस्तोम अर्थात् झूल होती थी। यह चमड़े की भी होती थी, कपड़े की भी। अंकुशों में मणियाँ जड़ी रहती थीं। गले में घण्टे बँधे रहते थे। रथों में घूँघरू बँधे होते थे।

उपर्युक्त हथियार तो कुछ ऐसे हैं जिनका आकार तथा प्रयोग-प्रकार स्पष्ट समझ में आ जाता है। इनके अतिरिक्त अस्त्रों का वर्णन आया है। वे हमारे लिए दुर्बोध हैं। उनका प्रयोग मन्त्र-शक्ति-द्वारा होता था। मुख्य अस्त्र ये थे:—

ब्रह्मास्त्र—इसमें धनुष पर ही मन्त्र-शक्ति का प्रयोग किया जाता था। इससे असंख्य तीर एक साथ छूटते और शत्रु को नष्ट करते थे। अभ्यस्त योद्धा कई तीर एक साथ यों भी चला लेता था। यथा भीम के सात तीर इकट्ठे और वे भी भिन्न भिन्न शत्रुओं पर छोड़ने का उल्लेख है।

सम्भवत: वे एक दूसरे के पीछे इतनी शीघ्रता से छूटे होंगे कि साधारण भाषा में उन्हें एक साथ छूटा कहना अत्युक्ति न समझा जाय। परन्तु ब्रह्मास्त्र इससे भिन्न है। प्राजापत्यास्त्र भी संभवत: ब्रह्मास्त्र का दूसरा नाम हो।

ऐन्द्रास्त्र—अलम्बुष राक्षस की माया को सात्यकि ने इस अस्त्र-द्वारा भस्म किया।

सौरास्त्र—अलम्बुष ने अपनी माया से अँधेरा कर दिया। उसे अभिमन्यु ने सौरास्त्र-द्वारा हटाया।

त्वाष्ट्रास्त्र—अर्जुन ने इसका प्रयोग संशप्तकगण पर किया। वे एक दूसरे को अर्जुन समझ आपस में ही संहार करने लगे। इसी अस्त्र से हज़ारों वीर पैदा होने की बात भी आगे आई है।

आग्नेयास्त्र—यह आग लगाता और वारुणास्त्र उसे बुझा देता था। द्रोण के शिक्षणालय ही में अर्जुन वारुणास्त्र का प्रयोग गुरु का कमण्डलु शीघ्र भर देने के लिए करता था। इससे वह अपने सहपाठियों से पूर्व लौट आता और विद्याभ्यास के लिए अधिक समय प्राप्त कर लेता था। जयद्रथवध के दिन रथ के घोड़े थक गये तो उन्हें पानी पिलाने के लिए अर्जुन ने वारुणास्त्र-द्वारा तालाब खोद दिया। वह केवल पानी से ही न भर गया, किन्तु उस पर तत्काल कमल, कमलनियाँ और हंस, कारण्डव

आदि पक्षी भी उपस्थित हो गये। शर-शय्या पर पड़े भीष्म को पानी भी अर्जुन ने इसी वारुणास्त्र-द्वारा पृथ्वी से फ़ौवारा सा चलाकर पिलाया था।

नागास्त्र—इसके चलाने से सारे शत्रुओं पर साँप लिपट जाते थे। अर्जुन ने इसका प्रयोग संशप्तकों पर किया था।

सौपर्णास्त्र—नागास्त्र का प्रतिकार सौपर्णास्त्र-द्वारा किया गया।

नारायणास्त्र—द्रोणाचार्य के मरने पर अश्वत्थामा ने नारायणास्त्र चलाया। उससे हज़ारों की संख्या में दीप्ताग्र बाण प्रकट हुए। वे जलते हुए मुखोंवाले साँपों की तरह पाण्डवों का नाश करते प्रतीत होते थे। फिर कार्ष्णा-यस के गोले निकले। वे स्वच्छ आकाश में तारों की तरह चमक रहे थे। फिर चार चार चक्रोंवाली शतघ्नियाँ और गोले तथा क्षुरान्त चक्र सूर्य-मण्डलों की तरह घूमने लगे। ज्यों ज्यों पाण्डव लोग लड़ते थे त्यों त्यों यह अस्त्र बढ़ता जाता था।............ इसका प्रतिकार श्रीकृष्ण ने बताया। वह यह कि सब लोग शस्त्र डालकर घोड़ों, हाथियों तथा रथों से उतर जायँ। पृथ्वी पर खड़े न्यस्त-शस्त्र मनुष्य का यह अस्त्र कुछ न बिगाड़ेगा।

द्रोण २००, १६-२१,३८,

ब्रह्मशिरा—युद्ध के समाप्त होने पर अश्वत्थामा ने एक सींक पर मन्त्र-शक्ति का प्रयोग कर यह अस्त्र चलाया। अर्जुन ने भी इसके उत्तर में अस्त्र चला दिया। व्यास के कहने से अर्जुन ने अपना अस्त्र लौटा लिया परन्तु अश्वत्थामा में लौटाने की शक्ति न थी। उसका अस्त्र उस समय रुक गया परन्तु उसका फल आगे चलकर यह हुआ कि उत्तरा के पेट से जो पुत्र पैदा हुआ वह मरा हुआ था।

हमने इन अस्त्रों का वर्णन महाभारतकार के अपने शब्दों में दे दिया है। "मातृविलास" नामक पुस्तक में इन अस्त्रों की व्याख्या गायत्रीमन्त्र के अक्षरों के उलटे सीधे क्रम से लाखों करोड़ों बार जाप के रूप में की है। इस जाप से योद्धा में अलौकिक शक्ति आ जाती है। महाभारत में इस नियम का उल्लेख स्थान स्थान पर हुआ है कि अस्त्र का प्रयोग अनस्त्रवित् पर नहीं करना चाहिए। द्रोणाचार्य का एक अपराध इस अस्त्र-विद्या के न जाननेवालों में इन अस्त्रों का चलाना था। संभवतः इसी अपराध के कारण 'मृत्यु से पूर्व उसके अस्त्र फुरने बन्द हो गये थे। हो सकता है, इनमें से कुछ अस्त्रों में किसी यान्त्रिक विशेषता के कारण विशेष शक्ति आजाती हो। ऐषीक तथा नारायण अस्त्र—जिन रूपों में उनका वर्तमान महाभारत में वर्णन है—स्पष्ट काल्पनिक—कोई दिव्य से—हथियार हैं।

योद्धा लोग इन हथियारों—अस्त्रों तथा शस्त्रों—के प्रयोग से पूर्व तथा इनका प्रयोग करते हुए प्रेरक ध्वनियों से ख़ूब लाभ उठाते थे। प्रत्येक प्रमुख योद्धा का अपना शंख होता था। उसकी ध्वनि शत्रु के प्रति उसका आह्वान थी। दुंदुभि तथा भेरी की आवाज़ योद्धाओं को लड़ाई के लिए उकसाती थी। रथों में मृदंग बँधे रहते थे जो रथ की गति के साथ साथ बजते थे। गोमुख, पणव और आनक भी इसी प्रकार के वाद्य थे। लड़ते समय योद्धा ताली बजाते थे। उनका 'तलस्वन' भयङ्कर होता था। इससे यह भी प्रतीत होता है कि उनके शस्त्र चलाने में संगीत के ताल की सी समता रहती थी।

जयद्रथवध के दिन अर्जुन की सहायता के लिए सात्यकि को भेजने लगे हैं तो उसकी पूजा कन्याओं से कराई गई है। इससे युद्ध का प्रेरणा कितनी प्रबल और कितनी पवित्र हो जाती है, राखी-बँधा राजपूत ही इस रहस्य को समझ सकता है।

महाभारत की लड़ाई खुले मैदान में हुई थी। कई युद्ध दुर्ग-युद्ध होते थे। बड़े बड़े नगर जिन्हें पुर कहते थे, दुर्ग ही हुआ करते थे। द्वारवती की रचना का वर्णन हम किसी पिछले अध्याय में कर चुके हैं। उसे झण्डेवाली, फाटकोंवाली, योद्धाओंवाली, बुर्जोंवाली, यन्त्रोंवाली, सुरंग खोदने की सामग्री से युक्त, लोहे के कीलोंवाली, गलियोंवाली,

अट्टालिकाओंवाली, पुरद्वारोंवाली, मोर्चोंवाली, ज्वालाओं तथा अलातोंवाली, भेरियों, पणवों और आनकोंवाली, तोमरों, अंकुशों, शतघ्नियों, भुशुण्डियों, पत्थर के गोलों, लोह-चर्मों (ढालों) वाली, आग और पिघले हुए गुड़ से युक्त शिखरोंवाली और रथों इत्यादिवाली कहा गया है। यह भी लिखा है कि नगरी में बहुत से गुल्म अर्थात् बुर्ज थे। बीच के बुर्ज पर खड़े प्रहरियों ने शाल्व के आक्रमण का समाचार दिया था। इस समाचार के मिलने पर जो परिखाओं में कीलें बिछा देने आदि की तैयारियाँ की गई थीं, उनका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। (वनपर्व १५.५-८) शान्तिपर्व के ८६ वें अध्याय में भीष्म कहते हैं:—दुर्ग में लोहे, काष्ठ, बुस (भूसा), अङ्गार (कोयला), दारु (लकड़ी), शृंग (सींग), अस्थि, वेणु (बाँस), मज्जा (चर्बी), स्नेह (तेल), वसा, क्षौद्र (शहद), औषध, शण, सर्जरस (चीड़ का बेरजा), धान्य, शस्त्र, क्षार, चर्म, स्नायु, मुञ्ज, बल्वज (घास), इंधन, आदि के भण्डार रहने चाहिएं। और तालाब, बावलियाँ आदि रोक देनी चाहिएं। इन सन्दर्भों से भी उस समय की युद्ध-शैली के एक विभाग पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

उभय पक्ष की सेनाओं में जातियों के विभाग के देखने से पता लगता है कि सारा भारत इस युद्ध में सम्मिलित था। कुछ जातियाँ दोनों ओर बँटी हुई थीं। यथा दशार्ण और शैव्य प्रथम दिवस ही पाण्डवों में भी हैं, कौरवों में भी। नारायण जिनका

दूसरा नाम गोपाल था पाण्डवों की ओर से भी लड़ रहे थे, कौरवों की ओर से भी। इसका कारण कई अवस्थाओं में तो यह होगा कि कई जातियाँ भिन्न भिन्न स्थानों पर एक ही नाम से बस रही थीं। हो सकता है, उसी नाम के एक राष्ट्र ने पाण्डवों का पक्ष लिया हो, और एक और राष्ट्र ने कौरवों का। वृष्णियों की सहानुभूति, जैसे हम ऊपर कह आये हैं, दोनों पक्षों में बँटी हुई थी। नारायणसेना का कुछ भाग सात्यकि आदि के साथ पाण्डव-दल में जा मिला था। इन्हीं की गणना भीष्मद्वारा मथित सेनाओं में की गई है।[1] शेष कृतवर्मा आदि के साथ कौरवों से जा मिले थे। इन्होंने संशप्तकों से मिलकर अर्जुन को मुख्य युद्ध से अलग एक पृथक् मुठभेड़ में लगा रक्खा था। कृतवर्मा की नायकता में इनका नाम विशेष प्रकार से भी महाभारतकार ने गिनाया है।[2] मुख्य योद्धा तो प्रतिदिन लड़ते थे परन्तु सेनाओं को किसी दिन युद्ध, किसी दिन विश्राम करने दिया जाता

---

१. नारायणा बल्लवाश्च रामाश्च शतशो रणे।
अनुरक्ताश्च विजये भीष्मेण युधि पातिताः॥

कर्ण० ६,३

२. कृतवर्मा रथैस्तूर्णं वृतो भारत नावकैः।
नारायणविशेषैश्च शिविरायैव दुद्रुवे॥

कर्ण० ६५, ५

था। प्रत्येक दिन के लड़नेवाले दलों की सूचियाँ पढ़ने से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है।

साधारणतया दिन ही को लड़ाई होती थी परन्तु जयद्रथ के वध से बिगड़ उठे द्रोण ने रात को भी युद्ध जारी रक्खा था। उस युद्ध के लिए प्रदीपों का प्रबन्ध किया गया था। कौरव-दल में प्रत्येक रथ पर पाँच प्रदीप, प्रत्येक हाथी पर तीन और प्रत्येक घोड़े पर एक प्रदीप जलाया गया। पाण्डव-पक्ष में प्रत्येक हाथी पर ७, प्रत्येक रथ पर १०, प्रत्येक घोड़े पर दो, इनके अतिरिक्त आगे पीछे इधर-उधर प्रदीप ही प्रदीप दिखाई देते थे। ये प्रदीप सुगन्धित तेल से जलाये गये थे और पदातियों ने उन्हें पकड़ रक्खा था। दुर्योधन ने हथियार छुड़वा कर उनके हाथों में प्रदीप पकड़वा दिये थे।

दूत की हिंसा वर्जित थी। वह अपने राजा ही का मुख समझा जाता था और उसे अपना सन्देश निर्भीकता से सुनाने की खुली छुट्टी थी। मर रहे, संकट में पड़े, निस्सन्तान, शस्त्र-हीन, टूट गई ज्यावाले तथा मर गये घोड़ोंवाले[1] शत्रु को मारना भी निषिद्ध था। जिसके व्रण हो गया हो उसकी चिकित्सा या तो विजयी राजा के अपने ही देश में कराकर उसे छोड़ देने का या उसे उसी के अपने

---

१. निष्प्राणो नाभिहन्तव्यो नानपत्यः कथञ्चन।
भग्नशस्त्रो विपन्नश्च कृत्तज्यो हतवाहनः॥

देश में भेज देने का विधान था।[१] युद्ध में पकड़ी गई कन्या से एक वर्ष तक विवाह की बात ही न की जा सकती थी। लूट के माल का विनियोग भी एक वर्ष के बाद होता था।[२]

दो लड़ रही सेनाओं में अस्थिर शान्ति कराने का प्रकार यह था कि एक ब्राह्मण उन युद्ध-व्यस्त दलों के बीच में आ जाता। उसे देखते ही योद्धा लोग रुक जाते।[३]

इन उदात्त नियमों पर किसी टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। किसी भी युग में किसी भी जगह इन नियमों का आदर ही किया जायेगा।

---

१. चिकित्स्यः स्यात् स्वविषये प्राप्यो वा स्वगृहे भवेत्।
निर्व्रणश्च स मोक्तव्य एष धर्मः सनातनः॥
शान्तिपर्व अ० ९५ श्लो० १७, १८

२. नार्वाक् संवत्सरात् कन्या प्रष्टव्या विक्रमाहृता।
एवमेव धनं सर्वं यच्चान्यत् सहसा हृतम्॥ शान्तिपर्व ९६,५॥

३. अनीकयोः संहतयोः यदीयाद् ब्राह्मणोऽन्तरा।
शान्तिमिच्छन्नुभयतो न योद्धव्यं तदा भवेत्॥
शान्तिपर्व ९६,८

अश्वमेध

अर्थात्

पाण्डव-साम्राज्य की पुनः स्थापना

युद्ध की समाप्ति पर वैराग्यवृत्ति का उद्रेक स्वाभाविक था। युधिष्ठिर की प्रकृति में वैराग्य की वृत्ति का प्राबल्य था भी। उसे सबसे अधिक शोक हुआ। कर्ण उसका भाई था, इस बात का पता उसे अपनी माता से अभी—युद्ध के पश्चात् लगा। पर अब तो हाथ मलने के सिवाय और चारा ही क्या था? उसके चारों भाई, द्रौपदी, कृष्ण, व्यासादि सभी अपना अपना दुःख भूल गये और युधिष्ठिर को सान्त्वना देने लगे। वन जाने की अपेक्षा घर में रहना, और राज-धर्म का पालन करना श्रेष्ठ है—प्रवृत्ति-धर्म का यह गुर समझाने की उसे आवश्यकता हुई। श्रीकृष्ण ने सलाह दी कि भीष्म जब से घायल हुए हैं, कुरुक्षेत्र के मैदान ही में डेरा लगाये हुए हैं, उनके चरणों में पहुँचना चाहिए। सम्भवतः उनकी अवस्था हस्तिनापुर जाने के योग्य न थी या महाभारत के कथनानुसार उनकी अपनी इच्छा ही रणभूमि में प्राण त्यागने की थी। उनके पास जाने की मन्त्रणा देते हुए श्रीकृष्ण ने कहा:—'भीष्म ने संसार को ख़ूब देखा है। राजाओं की कई

पीढ़ियाँ उनके सामने से गुज़री हैं। नीति तथा धर्म का जितना विस्तृत और गंभीर ज्ञान वे रखते हैं, किसी अन्य को उसका एक अंश भी उपलब्ध हो सकना सम्भव नहीं। ज्ञान के इस अथाह समुद्र से कुछ कण यदि प्राप्त हो सकते हैं तो अभी। युधिष्ठिर आदि को उपदेश उन्हीं से लेना चाहिए।'

वनवास के पश्चात् युधिष्ठिर अब फिर राज्य का अधिकारी हुआ था। उसका फिर से अभिषेक हुआ और वह भीष्म के चरणों में उपदेशार्थ उपस्थित हुआ। श्रीकृष्ण तथा पाण्डव और सात्यकि आदि अभी साथ थे। भीष्म जब तक जीवित रहे, मनोहर कथाओं के रूप में अपने अनुभव का सार उक्त श्रोतृमण्डल के कर्ण-गोचर कराते रहे। भीष्म का वह उपदेश शान्तिपर्व के रूप में महाभारत के पृष्ठों में सुरक्षित है। जैसे हम एक बार पहले भी कह चुके हैं, शान्तिपर्व संसार के समाज-शास्त्र-विषयक साहित्य में ऊँचा आदर का स्थान पाने का अधिकारी है। इस समय आवश्यकता है उसे आधुनिक रीति से सम्पादन करने की।

जब तक भीष्म के मुखारविन्द से इस ज्ञान-गंगा का अटूट प्रवाह चलता था, युधिष्ठिर को भी शान्ति रही, दूसरों का धीरज भी नहीं टूटा। परन्तु भीष्म की तो उसी घायल अवस्था में मृत्यु हो गई। अब युधिष्ठिर और व्याकुल हुए। व्यास ने समझाया—तुम्हें अश्वमेध करना चाहिए। यही सम्मति श्रीकृष्ण की थी।

अश्वमेध आर्य-राजाओं का एक पुराना यज्ञ है। अश्व राज्य-शक्ति का द्योतक है। शतपथ ब्राह्मण में कहा है:—क्षत्रं वाऽश्वः (१३.२.२.१५३) जो क्षत्रिय अपने आपको सबसे अधिक बलवान् समझता है, वह एक घोड़े को आगे लगाकर सब राष्ट्रों में फिर आता है। सेनायें भी उसके साथ रहती हैं। जो राष्ट्र उसकी प्रमुखता को स्वीकार करते हैं, वे उसे बिना विरोध के अपनी परिधि में से गुज़र जाने देते हैं, उसके घोड़े की पूजा करते हैं और उसे कर देते हैं। जिन्हें उसकी वीरता का सिक्का स्वीकार नहीं होता, वे घोड़े को रोक लेते हैं। उनसे उसका युद्ध होता है। यदि वह जीत जाय तो वे उसकी अधीनता स्वीकार कर लेते हैं।

यह अश्वमेध अपनी वैयक्तिक वीरता का सिक्का बैठाने के लिए भी किया जाता है और अपने राष्ट्र का साम्राज्य अन्य राष्ट्रों पर स्थापित करने के लिए भी। युधिष्ठिर के अश्वमेध का उद्देश्य साम्राज्य की स्थापना था। महाभारत के युद्ध में विजय तो पाण्डवों ही की हुई थी। परन्तु प्रत्येक राष्ट्र की ओर से इनके सम्राट् माने जाने का अवसर इस युद्ध के साथ साथ नहीं आ सका था। राजसूय के पश्चात् पाण्डवों को वनवास मिल गया था। बना बनाया साम्राज्य झट-पट नष्ट-भ्रष्ट हो गया था। उसे फिर से स्थापित करने के लिए आवश्यक था कि फिर से दिग्विजय की जाय। अश्वमेध इसी विजय का वैधरूप था।

व्यास ने युधिष्ठिर को इस अश्वमेध के समारंभ से पूर्व हिमालय की घाटियों में छिपे एक महान् धन-कोष का पता दिया। महाभारत के भयङ्कर युद्ध ने राष्ट्र को धन-विहीन बना दिया था। वह क्षति इस कोष की प्राप्ति से सहज ही में पूर्ण हो गई।

अर्जुन ने यज्ञीय अश्व के अनुसरण की विधिपूर्वक दीक्षा ली और वह भिन्न भिन्न राष्ट्रों में सेना-समेत प्रविष्ट हुआ। राष्ट्रों की सेनायें प्रायः कौरव-दल के साथ मिलकर पाण्डव-दल से पराजित हो चुकी थीं। किरात, यवन, म्लेच्छ जो दुर्योधन की ओर से लड़े थे, वे तो अभी विरुद्ध थे ही। इनके अतिरिक्त कई आर्य राजा भी अर्जुन की शक्ति की परीक्षा लिये बिना साम्राज्य में सम्मिलित नहीं हुए।[1]

युधिष्ठिर ने अर्जुन से साग्रह अनुरोध किया था कि जहाँ तक हो सके दिग्विजय बिना रक्तपात के की जाय।[2]

---

१. किराता यवना राजन् बहवोऽपि धनुर्धराः।
म्लेच्छाश्चान्ये बहुविधाः पूर्वं ये निकृता रणे॥
आर्याश्च पृथ्वीपालाः प्रहृष्टनरवाहनाः।
समीयुः पाण्डुपुत्रेण बहवो युद्धदुर्मदाः॥

अश्वमेध अ० ७३ श्लो० २७,२८

२. स हि वीरः प्रयास्यन् वै धर्मराजेन वारितः।
हतबान्धवा न ते पार्थ हन्तव्याः पार्थिवा इति॥

अश्व० ७४,७

विशेषतया स्वयं राजाओं की हत्या न ही हो तो उत्तम है।[1] यह इसलिए कि साम्राज्य का आधार पाशविक बल नहीं, पारस्परिक प्रेम और समझौते ही को बनाना इष्ट था।

प्रायः वे आर्य राजा ही वही अर्जुन के रास्ते में बाधक हुए जिनके पिता या ज्ञाति युद्ध में पाण्डवों के हाथों मारे गये थे। उदाहरणतया त्रिगर्त्त (जालन्धर के राजा) जिन्होंने युद्ध के समय संशप्तक-दल के रूप में अर्जुन को अन्त समय तक एक अलग उलझन में उलझाये रखा था। इस समय इनका राजा सूर्यवर्मा था। अर्जुन के साथ उसका युद्ध हुआ परन्तु अन्त को सारे त्रिगर्त्त-राष्ट्र ने अपने आपको अर्जुन के चरणों में डाल दिया।

प्राग्ज्योतिष (आसाम) का राजा इस समय भगदत्त का पुत्र वज्रदत्त था। उसे अर्जुन के हाथों भगदत्त के मारे जाने का ग़ुस्सा था। उसके साथ तीन दिन मुठभेड़ रही। अन्त को अर्जुन के प्रहार से वह पृथ्वी पर जा पड़ा। परन्तु अर्जुन ने अपने बड़े भाई की आज्ञा का पालन कर उसके प्राणों की रक्षा की और उसे प्रीतिपूर्वक अश्वमेध में आने का निमन्त्रण दिया।

---

१. राजानस्ते न हन्तव्या धनञ्जय कथञ्चन।

अश्व० ७६,११।

वक्तव्याश्चापि राजानः सर्वे सह सुहृज्जनैः।

युधिष्ठिरस्याश्वमेधो भवद्भिरनुभूयताम्॥ २३॥

सिन्धुराज जयद्रथ की हत्या अर्जुन, अभिमन्यु का बदला लेते हुए कर चुका था। जयद्रथ के लड़के सुरथ का भी इससे पूर्व शोकवश प्राणान्त हो गया था। सिन्धुराष्ट्र के योद्धाओं ने अर्जुन का रास्ता रोका। उनसे भयङ्कर लड़ाई ठन गई। परन्तु सेनाओं के घोर संहार की ताब न लाकर अन्त को जयद्रथ की रानी, धृतराष्ट्र की लड़की दुःशला अपने पोते को साथ लिये अर्जुन के सम्मुख आई। अर्जुन ने गाण्डीव रख दिया। दोनों की आँखों में आँसू आ गये। दुःशला ने कहा—जैसे अभिमन्यु का लड़का परीक्षित् पाण्डव-वंश का एकमात्र अवलम्ब है, वही दशा इस सुरथ के जाये की हमारे घर में है। मैं इसके प्राणों की भिक्षा माँगती हूँ। अर्जुन ने बहिन को गले लगा लिया और जयद्रथ के पोते को दूसरे राष्ट्रों के राजाओं की तरह युधिष्ठिर का प्रेम और शान्ति का संदेश दिया।

मणिपुर की राजकुमारी चित्राङ्गदा अर्जुन की धर्मपत्नी थी। सुभद्रा से विवाह करने से पूर्व तीर्थाटन करते हुए अर्जुन मणिपुर भी पहुँचा था और चित्राङ्गदा से उसका पाणिग्रहण हुआ था। इस विवाह में शर्त यह थी कि चित्राङ्गदा रहेगी अपने पितृकुल ही में और उसकी सन्तान वहीं के राजसिंहासन की उत्तराधिकारिणी होगी। अर्थात् वह विवाह मणिपुर के राजवंश के चलाने के लिए ही हुआ था।

इस समय वहाँ का राजा बभ्रुवाहन स्वयं अर्जुन का पुत्र था। वह प्रेम-पूर्वक पिता के दर्शनार्थ अगुवाई को गया। अर्जुन ने उसे डाँटा कि तूने मेरा नाम कलंकित किया है। जब मैं विजय-यात्रा को निकला हूँ तो तुझे सशस्त्र मेरा मुक़ाबला करना चाहिए था। इस पर बभ्रुवाहन ने शस्त्र ग्रहण कर अर्जुन को ललकारा। दोनों में बड़े ज़ोरों का युद्ध हुआ। अन्त को दोनों अचेत होकर गिर पड़े। चित्राङ्गदा चिन्तित हुई, परन्तु पहले तो बभ्रुवाहन और फिर अर्जुन सचेत हो उठ खड़े हुए और उनमें सन्धि हो गई। बभ्रुवाहन ने माता-समेत अश्वमेध में आना स्वीकार किया।

मगध का राजा इस समय जरासन्ध का पोता, सहदेव का पुत्र मेघसन्धि था। उसने अर्जुन का रास्ता रोका और ख़ूब पराक्रम प्रदर्शित किया। विजय अर्जुन की रही। उसे भी अर्जुन ने क्षमा कर भाई के अश्वमेध में निमन्त्रित किया।

इसके पश्चात् अर्जुन चेदियों की राजधानी शुक्तिमती, काशी, कोशल, अंग, किरात, तङ्गण, दशार्ण, निषादराज एकलव्य के राज्य इत्यादि इन सब राष्ट्रों में प्रविष्ट हुआ। इनमें से किसी किसी जगह तो युद्ध हुआ और कहीं कहीं स्वयं राष्ट्रपतियों ने अधीनता स्वीकार कर ली। द्रविड़ों, आन्ध्रों, औड्रों, माहिष्कों और कोल्वगिरि के रहनेवालों से लड़कर अर्जुन ने इन सबको अपने पक्ष का किया। तब सुराष्ट्र से होता हुआ प्रभास पहुँचा। वहाँ से द्वारवती गया। वसुदेवसमेत, आनर्त्तराज उग्रसेन

ने अर्जुन का स्वागत कर यज्ञिय घोड़े का यथाविधि सत्कार किया।

द्वारवती से पञ्चनद और पञ्चनद से गान्धार प्रयाण कर अर्जुन ने भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर अपनी विजय-यात्रा की इतिश्री की। शकुनि के पुत्र के हृदय में अपने पिता के वध का शूल अभी विद्यमान था। वह सेना-सहित सामने आया परन्तु हार कर अश्वमेध में आना मान गया। यहाँ भी शकुनि की पत्नी ने बीच में पड़ कर शान्ति कराई। अर्जुन ने उस देवी की पूजा की और कहा—आपका लड़का मेरा भाई है। अश्वमेध से हमारा अभिप्राय पुराना शूल मिटाना है, नया वैमनस्य बढ़ाना नहीं।

वास्तव में अश्वमेधयज्ञ किया ही इसलिए गया था कि महाभारत के युद्ध से जो भारत दो भागों में बँट गया था, वह फिर से एक हो जाय। अनेक राष्ट्रों के राजाओं की हत्याओं आदि से जो पाण्डवों के विरुद्ध, असंख्य राज-वंशों के मनस्वी वीरों के हृदयों में, गहरे घाव बैठ गये थे, उन्हें सान्त्वनापूर्वक भर दिया जाय। युधिष्ठिर को इस यज्ञ-द्वारा यह दिखाना था कि पाण्डव बलवान् तो हैं, परन्तु उनका बल अत्याचार के लिए नहीं, बिखरे राष्ट्रों को मिलाने, उन्हें परस्पर प्रेम-सूत्र में पिरो कर साम्राज्यरूपी एक माला के रूप में संगठित कर देने, उनकी बिखरी शक्तियों को एक दूसरे के विरोध में नष्ट न होने देने ही नहीं, किन्तु उन

सबके संयोग से समूचे भारत को शक्तिशाली बनाने के लिए है।

जब युधिष्ठिर ने सुना कि अर्जुन यज्ञिय घोड़े-सहित भारत की प्रदक्षिणा कर हस्तिनापुर लौट रहा है, तो इन्होंने यज्ञ की तैयारी की। सोने के घड़े, कलश, पात्रियाँ, कटक, मटके, लकड़ी के यूप जिन पर ख़ूब सोना जड़ा था, इत्यादि सब सामग्री एकत्रित हुई। स्थल तथा जल दोनों विभागों के पशु लाये गये। अन्न के ढेर लग गये—गोदाम भर गये। दूध-दही तथा घी आदि की नहरें बह निकलीं।

बलदेव-समेत श्रीकृष्ण इस यज्ञ में पधारे। अभी अर्जुन यात्रा से लौट ही रहा था। द्वारवती में वह कृष्ण से मिल चुका था। युधिष्ठिर ने वृष्णिकुल के कुशल-सम्बन्धी प्रश्न पूछ कर अर्जुन का समाचार पूछा। कृष्ण ने अर्जुन की ओर से सन्देश दिया कि यज्ञ का सब ठाट समारोह-पूर्वक किया जावे परन्तु एक बात का विशेष ध्यान रहे कि राजसूय की तरह इस यज्ञ में अर्घहरण के सदृश, किसी के लिए कोई अपमान-सूचक, अनर्थ की बात न हो जाय। सब राजाओं का सत्कार पूर्ण-सावधानी से, पूर्ण विनय-पूर्वक हो। कहीं राजाओं के द्वेष से फिर प्रजाओं का नाश न हो।[1]

---

१ आगमिष्यन्ति राजानः सर्वे वै कौरवर्षभ।
प्राप्तानां महतां पूजा कार्या ह्येतत् क्षमं हि ते॥

इस चेतावनी का अर्थ स्पष्ट है। अश्वमेध वस्तुतः राजसूय के समय की गई भूलों का प्रतिशोध था। उस समय कृष्ण को अर्घ दिया जाना राजनैतिक दृष्टि से उचित न था। कृष्ण एक तो स्वयं राजा न था। राजकुल का अवश्य था और अपनी नीतिनिपुणता के कारण कई राज्यों को अपनी अँगुलियों पर नचा रहा था। उसके प्रचलित किये इस सिद्धान्त ने कि राजा कोई दैवशक्ति नहीं, यदि वह अनीति करे तो दण्डनीय है, यहाँ तक कि आवश्यकता पड़ने पर उसका वध भी किया जा सकता है, तात्कालिक राज-नीति में क्रान्ति पैदा कर दी थी। कंस को उसने स्वयं मार डाला था। जरासन्ध का वध उसने भीम के हाथों करा दिया था। दुर्योधन का साथ त्याग देने का उपदेश पहले तो विदुर ने द्यूत खेले जाने से पूर्व धृतराष्ट्र की अपनी सभा में दिया, फिर श्रीकृष्ण ने भी दूतकर्म करते करते उसकी दुष्टता का और उपाय न देख उसे क़ैद करके पाण्डवों के हवाले कर देने का प्रस्ताव स्वयं कौरवों की सभा में उपस्थित कर दिया। इसमें श्रीकृष्ण ने उदाहरण भी कंस का सिर स्वयं उतार देने का दिया।

इत्येतद्वचनाद्राजा विज्ञाप्यो मम मानद।
यथा चात्ययिकं न स्याद्यदर्घहरणेऽभवत् ॥
कर्तुमर्हति तद्राजा भवांश्चाप्यनुमन्यताम्।
राजद्वेषान्न नश्येयुरिमाः राजन् पुनः प्रजाः ॥

अश्वमेध अ० ८६. श्लो० १५,१७.

युद्ध के बीच में भी जब भीष्म पर श्रीकृष्ण ने स्वयं हथियार उठाया और उसने शस्त्र रख दिये तो कृष्ण ने उसे हठी राजा के हठ का सहायक होने का दोष दिया। भीष्म ने इस सहायता में यह हेतु बताया कि राजा "परम दैवत" है, तो कृष्ण ने कंस के वध की ओर संकेत कर कहा कि वह भी तो हमारा परम देव था। इन घटनाओं में से कुछ राजसूय से पूर्व की और कुछ उसके पश्चात् की हैं। इनका एकत्र वर्णन करने से हमारा अभिप्राय यह दिखाना है कि श्रीकृष्ण का यह क्रान्तिकर सिद्धान्त जहाँ धीरे धीरे विदुर जैसे नीतिज्ञों के हृदय में घर करता जा रहा था, वहाँ कृष्ण स्वयं उसे क्रियात्मक रूप देते चले जा रहे थे। युद्ध के क्षेत्र में भूरिश्रवा की भुजा अर्जुन के तीर से कट जाने पर भूरिश्रवा का यह कहना कि वृष्णि व्रात्य हैं—अर्थात् (पुराने राजाओं द्वारा) बहिष्कृत, इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उस समय के राजवंश श्रीकृष्ण के राजनैतिक विचार तथा व्यवहार से अत्यन्त असन्तुष्ट थे। युधिष्ठिर के राजसूय में इतने मुकुटधारी नरेशों के होते हुए एक "अराजा" ही को नहीं किन्तु राजद्रोही क्रान्तिकारी कृष्ण को अर्घ दिया जाना उन्हें क्योंकर सह्य हो सकता था ? शिशुपाल तो उस व्यापी असन्तोष का केवल प्रत्यक्ष चिह्न-मात्र ही था जो उस समय के नरेन्द्र-मण्डल में अंदर अंदर काम कर रहा था। दुर्योधन ने युधिष्ठिर की सभा से लौटते हुए जहाँ चचेरे भाइयों की

इतनी बढ़ी हुई समृद्धि और अलौकिक शान बान को देखकर अपनी पुरानी ईर्ष्या का प्रकाश किया, वहाँ यह आशंका भी प्रकट की कि यदि इस राज-घातक प्रवृत्ति का प्रतिकार न हुआ तो सभी राजाओं का वही हाल होगा जो शिशुपाल का हुआ है। शिशुपाल के वध ने वस्तुत: राजाओं के हृदयों में एक सनसनी सी पैदा कर दी थी। शकुनि ने दुर्योधन से कहा भी कि आपकी सहायता पर बाह्लीक, जयद्रथ, शल्य आदि अनेक राजा हैं। जुआ तो एक स्वांग था। वास्तव में पाण्डव-साम्राज्य स्थापित होते ही अपने विनाश के बीज अपने साथ लाया था। राजाओं के अपमान ने विद्रोह के सामान सहज ही में पैदा कर दिये थे। पाण्डवों का तेरह वर्ष का वनवास उस अपमान का कठोर प्रायश्चित्त था और महाभारत का युद्ध उस अनीति का घोर परिणाम।

इन्हीं बातों को लक्ष्य में रख अश्वमेध करते समय प्रथम तो अर्जुन ही को सावधान किया गया कि वह राजाओं का वध न करे। फिर युधिष्ठिर को श्रीकृष्ण ही की ज़बानी चेतावनी मिली कि यज्ञ में उपस्थित होनेवालों की मान-मर्यादा का विशेष ध्यान रखा जाय। और शिशुपाल के वध जैसा कोई उपद्रव फिर से न होने दिया जाय।

वास्तव में राजाओं में आई बुराइयों का संशोधन तो महाभारत के युद्ध ने ही पर्याप्त मात्रा में कर दिया था। सिंहासन उलट-पलट गये थे। राज्य-पद्धतियों की काया-पलट हो

गई थी। इस समय भड़कती आग पर पानी डालने की आवश्यकता थी और वह पानी इन सावधानताओं द्वारा यथेष्ट मात्रा में डाल दिया गया। क्रान्तियों का तात्कालिक अन्त तो उनके उद्देश्य के सोलहों आने अनुकूल नहीं होता। हाँ! उनका प्रेरकभाव, उनके मूल में काम कर रहा नैतिक—सदाचारिक—उद्देश्य बहुत अंशों में सफल हो जाता है। क्रान्ति कुरीतियों की प्रतिक्रिया होती है। यदि कुरीतियों का नाश हो जाय तो समझो, क्रान्ति सफल है।

अश्वमेध की दक्षिणा में युधिष्ठिर ने सारा राज्य ही ब्राह्मणों को दे दिया। ऋत्विजों ने वह राज्य फिर लौटा दिया। इस क्रिया का अर्थ यह था कि युधिष्ठिर का साम्राज्य ब्राह्मणों की देन है। ब्राह्मण तपस्वी पण्डितों को कहते थे। यह संज्ञा उन ज्ञानियों की होती थी जो विद्या के संसार के तो सम्राट् थे ही, फिर उनका आर्थिक जीवन भी स्वतः अंगीकृत निर्धनता का होता था। ब्राह्मण, प्रजा की आवाज़ ही नहीं, उनका भावना-भावित हृदय भी थे। युधिष्ठिर ने उनके दान से, भिक्षा-दान से, सम्राट् हो अपने आपको उन्हीं का ऋणी क्या बनाया, दूसरे शब्दों में प्रजा के हृदयों की भावनाओं का अमानतदार बना, उनकी इच्छाओं के अनुकूल आचरण करने की प्रतिज्ञा की। साम्राज्य प्रजा की अमानत थी।

इसके पश्चात् अन्य बहुमूल्य दक्षिणायें ऋत्विग्वर्ग को भेंट की गई। व्यास यज्ञ के ब्रह्मा थे। उन्होंने अपनी भेंट कुन्ती

को दे दी। पाण्डु व्यास के वीर्य से विचित्रवीर्य का क्षेत्रज था। इस सम्बन्ध से कुन्ती इनकी पुत्रवधू थी। इनका अपनी पुत्रवधू को युधिष्ठिर की दी हुई दक्षिणा अर्पण करना भारतीय कुल-मर्यादा—परंपरागत शील का एक दिव्य दृश्य था। दक्षिणायें उलट-पलट कर फिर फिर आ वहीं रही थीं परन्तु प्रत्येक उलट-फेर से उनकी शोभा—भावुकता की मंडी में उनका भाव—द्विगुणित त्रिगुणित होता जा रहा था।

युधिष्ठिर के राजसूय ने संपूर्ण भारत के जिस साम्राज्य की आधार-शिला एक नये रचे नगर इन्द्रप्रस्थ के उथले तल पर रख झट उस पर कुदाल का प्रहार भी साथ साथ कर दिया था, उसे भरत-भूमि की प्राचीन राजधानी हस्तिनापुर की, युग-युगान्तरों की कोख की, अथाह गहराइयों में फिर से स्थापित करने और प्रजाओं तथा राजाओं—दोनों की प्रीति की दृढ़ चट्टान पर आगे के लिए अचल रूप से सुरक्षित कर देने के लिए अश्वमेध का समारम्भ हुआ। अब के सारा नरेन्द्र-मण्डल प्रफुल्लवदन गया। द्वेष तथा वैमनस्य का कोई स्थान ही न था। पुराने साम्राज्यों के जराजीर्ण शरीरों का काया-कल्प हुआ। नये साम्राज्य की स्थापना नई उमंगों, नई आशाओं, नये संकल्पों से की गई। श्रीकृष्ण को अब के अर्घ्य नहीं मिला परन्तु उनके जीवन का यह उद्देश्य कि सम्पूर्ण भारत एक ऐसे साम्राज्य-सूत्र में गूँथा जाय, जिसमें प्रत्येक राष्ट्र अपनी आन्तरिक राजनीति में स्वतन्त्र हो, पूर्ण हो गया।

विधाता की ओर से उन्हें यह दिव्य अर्घ मिला। उनके जीवन भर का परिश्रम सफल हुआ। अब कोई जरासंध किसी कंस को यादवों के से किसी सङ्ग पर ठूंस न सकेगा। साम्राज्य की स्थापना तो श्रीकृष्ण भारत के आर्थिक, राजनैतिक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए आवश्यक समझते थे। परन्तु उनके साम्राज्य का लक्ष्य तदन्तर्गत अवान्तर राष्ट्रों का उनकी अपनी आन्तरिक परम्परागत प्रवृत्तियों तथा शक्तियों के अनुसार विकास करना था, न कि एकरूपता के लोहे के साँचे में बन्द कर उनकी नैसर्गिक शक्तियों को निगृहीत तथा स्तब्ध कर देना। जरासन्ध भी सम्राट् था, युधिष्ठिर भी। परन्तु जरासन्ध का लक्ष्य तो सभी राष्ट्रों को एकसत्तात्मकता (Monarchy) के डंडे से हाँकना था। इसके विपरीत युधिष्ठिर, या सच पूछिए तो श्रीकृष्ण, प्रत्येक राष्ट्र को अपनी प्रतिभा का प्रकाश उसके अपने यहाँ की रीति-नीति के अनुसार पूर्ण स्वतन्त्रता से करने देना चाहते थे।

आज कोई कुन्ती के हृदय में घुस कर देखे। व्यास की दक्षिणा मानों उसके सारे जीवन की आशाओं का मूर्तरूप धारण कर सहसा उसकी झोली में आ पड़ी। बाल-काल में माता-पिता ने छोड़ दिया। यौवन में पति ने वनवास ले लिया। तदनन्तर पुत्रों की आपत्तियों की लपेट में वह स्वयं भी एक लम्बी आपत्ति का शिकार रही। तेरह वर्ष विदुर के घर मेहमान बन कर रहना

पड़ा। इस वीराङ्गना के सन्देश ने ही अर्जुन के बाहुओं को बलवान् बनाया। आज उसे वह दिन प्राप्त हुआ जिसके लिए उसके अपने कथनानुसार एक क्षत्रिय माता पुत्र-प्रसव की पीड़ा सहती है। उसकी कुक्षि सफल हुई। उसके रोम रोम से अर्जुन के लिए फूट फूटकर आशीर्वादों के स्रोत उमड़ रहे थे—हाँ! अर्जुन के लिए और उसके सारथि कृष्ण के लिए।

———

यादव-वंश का नाश

जवनिका-पतन

श्रीकृष्ण ने अपने जीवन का उद्देश्य अपनी आँखों के सामने पूरा होता देख लिया। महाभारत के युद्ध के पश्चात् छत्तीस वर्ष ये और जीते रहे। युद्ध की क्षतियों को इस दीर्घ समय में देश की नैसर्गिक शक्ति ने पूरा कर ही लिया होगा। इस विषय पर महाभारत-द्वारा कोई प्रकाश नहीं पड़ता। हमारे विचार में महाभारतकार का इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य अश्वमेध पर आकर सिद्ध हो चुका है। काव्य-शास्त्र के नियमानुसार काव्य की समाप्ति सुखान्त होनी चाहिए। और अश्वमेध पर महाभारत की समाप्ति सुखान्त ही है। परन्तु न जाने क्यों, आगे के पर्वों में शोक की, दुःख की, निर्वेद की पराकाष्ठा पाई जाती है। महाभारत का यह भाग सर्व-संहार, वस्तु-मात्र के प्रलय का रोमाञ्चकारी दृश्य चित्रित करने के लिए लिखा गया प्रतीत होता है। सम्पूर्ण महाभारत के अध्ययन से जो उत्साह—प्रवृत्ति-परक धर्म की लगन पैदा होती है, वह अन्त के पर्वों में सब पदार्थों, सब वैभवों को नाशोन्मुख देखकर उत्साहहीन नैष्कर्म्य ही में परिवर्तित हो जाती है। नाश होनेवाले कुलों में यादवों का आपस में लड़कर नष्ट हो

जाना एक हेतुयुक्त घटना है। जब तक जरासन्ध का डर था तब तक यादव योद्धाओं में परस्पर प्रेम था, सुशीलता थी, सज्जनता थी, सुहृद्-भाव था। द्वारवती में सुरक्षित होते ही धीरे धीरे इनका जीवन भोगमय होने लगा। निर्भीकता आलस्य लाई। युधिष्ठिर के साम्राज्य ने इन्हें और भी निश्चिन्त कर दिया। स्वतन्त्रता का जो प्रेम पहले राष्ट्र की रक्षा में उपयुक्त होता था, अब राष्ट्र की रक्षा के लिए प्रयत्न की अपेक्षा न रहने से उस स्वतन्त्रता-प्रेम का उपयोग आपस के कलह, वैयक्तिक जीवन की उद्दण्डता, सामाजिक नियन्त्रण के विरुद्ध विद्रोह, राष्ट्र के नियमों के खुले अतिक्रमण में होने लगा। युद्ध के दिनों में इस कुल के आचार-व्यवहार की प्रशंसा इन शब्दों में की गई थी :—

"वृद्धों की आज्ञा में चलते हैं। अपने सजातीयों का अपमान नहीं करते।.........ब्राह्मण, गुरु और सजातीयों के धन के प्रति अहिंसा-वृत्ति रखते हैं।......धनवान् होकर भी अभिमान-रहित हैं। ब्रह्म के उपासक तथा सत्यवादी हैं। समर्थों का मान करते हैं। दीनों को सहायता देते हैं। सदा देवोपासना में रत, संयमी और दानशील रहते हैं। डींगें नहीं मारते। इसी लिए वृष्णिवीरों का राज्य नष्ट नहीं होता"।[1] इसके विपरीत एक चौथाई शताब्दी ही के अन्तर पर हम

---

१. न ज्ञातिमवमन्यन्ते वृद्धानां शासने रताः।
ब्रह्मद्रव्ये गुरुद्रव्ये ज्ञातिद्रव्येऽप्यहिंसकाः॥

वृष्णिकुमारों को ऋषिगणों का उलटा उपहास करते देखते हैं। एक पुरुष के पेट में मूसल बाँध ऋषियों से वे पूछते हैं—इस देवी के लड़का पैदा होगा या लड़की ?[१]

ज्यों ज्यों समय बीता त्यों त्यों यादव अधिकाधिक उच्छृंखल होते चले गये। किसी भी पाप के करने में उन्हें लज्जा न रही। ब्राह्मणों, देवताओं, वृद्ध, पितृगणों तथा गुरुओं का अपमान करने लगे। पति-पत्नियों में प्रेम तो क्या, एक दूसरे का लिहाज़ ही न रहा।[२]

अर्थवन्तो न चोत्सिक्ताः ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः।
समर्थानपि मन्यन्ते दीनानभ्युद्धरन्ति च॥
नित्यं देवपरा दान्ता दातारश्चाविकत्थनाः।
तेन वृष्णिप्रवीराणां चक्रं न प्रतिहन्यते॥
द्रोणपर्व १४४, २४-२८

१. महाभारत में यादवों के नाश का मुख्य कारण इस उपहास से क्रुद्ध हुए ऋषियों के इस शाप को बताया है कि कृष्ण के पालित पुत्र शांब के पेट से मूसल पैदा होगा और वह यादवों का नाश करेगा। मूसल पैदा हुआ और उसे चूर्णीभूत कर समुद्र में डाल दिया गया। पारस्परिक युद्ध के दिन समुद्र में से उसी मूसल के एक एक टुकड़े ने पूर्ण मूसल का रूप धारण कर यादवों को मार डाला। यह कथा स्पष्ट कथा ही है। ब्राह्मणों के उपहास की प्रवृत्ति यादवों के नाश का कारण हुई। मूसल तो उसका एक उपलक्षण था।

२. एवं बहूनि पापानि कुर्वन्तो वृष्णयस्तदा।
प्राद्विषन् ब्राह्मणांश्चापि पितॄन् देवांस्तथैव च॥
गुरूंश्चाप्यवमन्यन्त न तु रामजनार्दनौ।
पत्न्यः पतीनुच्चरन्ते पत्नींश्च पतयस्तथा॥ मौसल २,१०-११

मद्यपान की यादवों को बड़ी लत थी। सौभनगर के राजा शाल्व की चढ़ाई के समय इसकी मनाई कर दी गई थी। एक बार फिर आहुक, बभ्रु, कृष्ण और बलराम—इन सबके नामों से राष्ट्र भर में विज्ञप्ति कराई गई कि मद्य-निर्माण राजाज्ञा-द्वारा वर्जित है। आज के पीछे जो मद्यपान करेगा उसे बान्धवों-सहित प्राण-दण्ड दिया जायगा[1]। इस विज्ञप्ति से कुछ समय तक मद्य का प्रयोग रुक गया। परन्तु पीछे से उच्छृंखल यादवों ने इस व्यसन का अभ्यास और बढ़ा लिया। एक दिन प्रभास नगर में--जो द्वारका का तीर्थ था--सभी यादव इकट्ठे हुए समुद्र के किनारे बैठे नाच, रंग देख रहे थे। शराब का दौर चल रहा था। इतने में सात्यकि ने कृतवर्मा पर यह कह कर फबती उड़ाई—"रात के समय सोयों का संहार करनेवाले बहादुर ये हैं।" प्रद्युम्न ने इस फबती को दोहरा दिया। कृतवर्मा ने उत्तर में कहा—"योगावस्थित का सिर काटनेवाले

---

१. अघोषयंश्च नगरे वचनादाहुकस्य च।
जनार्दनस्य रामस्य बभ्रोश्चैव महात्मनः॥
अद्य प्रभृति सर्वेषु वृष्ण्यन्धककुलेष्विह।
सुरासवो न कर्तव्यः सर्वैर्नगरवासिभिः॥
यश्च नो विदितं कुर्यात् पेयं कश्चिन्नरः क्वचित्।
जीवन् स शूलमारोहेत् स्वयं कृत्वा स बान्धवः॥
ततो राजभयात् सर्वे नियमञ्चक्रिरे तदा।
नराः शासनमाज्ञाय रामस्याक्लिष्टकर्मणः॥
मौसलपर्व १,२८-३१

ये हैं।" सात्यकि अपने आपे में तो था नहीं। उसने झट तलवार उठाई और कृतवर्मा का सिर काट कर रख दिया। इस पर दो पक्ष हो गये। अन्धक और भोज सात्यकि के विरुद्ध हो गये। प्रद्युम्न ने सात्यकि का पक्ष लिया। दम के दम में दोनों दलों ने तलवारें सूँत लीं और एक दूसरे पर टूट पड़े। इस मुठभेड़ ही में सारे कुल का नाश हो गया।

कृष्ण यादवों की उच्छृंखलताओं से तंग तो रहते ही थे।[१] यह भी उन्हीं की नीति-निपुणता का फल था कि यादववंश का ऐसा भयंकर अन्त इससे पूर्व न हुआ, हमेशा टलता ही रहा। अब श्रीकृष्ण ने पानी सिर से गुज़रता देखा। हस्तिनापुर में ये साम्राज्य तो स्थापित कर ही चुके थे। सुभद्रा की सन्तान अभिमन्यु का लड़का परीक्षित् पैदा होकर युधिष्ठिर का उत्तराधिकारी निश्चित हो चुका था। श्रीकृष्ण अपने वंश का नामलेवा भी उसी परीक्षित् ही को समझ सन्तुष्ट थे।[२] जरासन्ध से यादवों की रक्षा की जा चुकी थी। जरासन्ध के झूठे साम्राज्य के स्थान पर युधिष्ठिर का मृदु सुन्दर साम्राज्य स्थापित कर दिया

---

१. इनके दो दल बना लेने तथा प्रत्येक के अभिमान में चूर रहने की शिकायत कृष्ण ने नारद से की थी। उसका उल्लेख प्रथम अध्याय में किया जा चुका है।

२. वज्र नाम से एक वृष्णिकुमार रह गया था। उसे युधिष्ठिर ने इन्द्रप्रस्थ का राज्य दे दिया।

गया था। उसकी छत्र-छाया में यादवों का संघ फलफूल सके, मुरझा न जाय, इसका प्रबन्ध पूर्णतया किया जा चुका था। परन्तु यदि यादवों की करनी ही कुछ ऐसी हो कि पाशविक बल का साम्राज्य हो तो भी, और अपने अधीन प्रत्येक राज्य को प्रीतिपूर्वक आत्म-निर्णय का अधिकार प्रदान करनेवाला धार्मिक साम्राज्य हो तो भी, इनका नाश होना अवश्यंभावी हो तो कृष्ण की बुद्धिमत्ता इसमें क्या करे ?

इस प्रकार एक अंश में पूर्ण सफल और दूसरे अंश में पूर्ण निराश, अर्थात् दोनों अंशों में पूर्ण प्रयत्न कर—सम्पूर्ण साध्य संकल्पों से निवृत्त हो, श्रीकृष्ण ने वानप्रस्थ ले लिया और ज्ञान-ध्यान में मस्त रहने लगे। इसी अवस्था में एक दिन किसी दूर खड़े शिकारी के तीर से घायल हो प्राण छोड़ने को उद्यत[१] ही थे कि वह बेचारा भ्रान्ति का मारा

---

१. स संनिरुद्धेन्द्रियवाङ्मनास्तु शिश्ये महायोगमुपेत्य कृष्णः।
जराऽथ तं देशमुपाजगाम लुब्धस्तदानीं मृगलिप्सुरुग्रः॥
स केशवं योगयुक्तं शयानं मृगाशंकी लुब्धकः सायकेन।
जराऽविध्यत् पादतले त्वरावांस्तज्ञानितस्तज्जिघृक्षुर्जगाम॥
अथापश्यत् पुरुषं योगयुक्तं पीताम्बरं लुब्धकोऽनेकबाहुम्॥
मत्वात्मने त्वपराद्धं स तस्य पादौ जगृहे शङ्कितात्मा।
आश्वासयंस्तं महात्मा तदानीं गच्छत्यूर्ध्वं रोदसी व्याप्य लक्ष्म्या॥

मौसलपर्व ४, २१.२४

चरणों में आपड़ा। उसे पश्चात्ताप था कि किस महात्मा को मृग समझ, उसके पवित्र प्राणों का घातक हुआ हूँ। श्रीकृष्ण ने हँसते हँसते उसे अभय-दान दिया, उसका अनजाने में किया अपराध क्षमा किया और इस उदारतम मनोवृत्ति को धारण किये प्राण त्याग दिये। यह मनोवृत्ति उनके अपने कहे गीता के आदर्श के सोलहों आने अनुकूल थी। वे पूर्ण स्थितप्रज्ञ थे। जिये तो शत्रुओं पर विजय पाते रहे। मरे तो मृत्यु पर विजय पाई। हैं? क्या सचमुच श्रीकृष्ण की मृत्यु हुई? वे तो अमर हैं। इतिहास के पन्नों में, भक्तों के हृदयों में, देश-विदेश की पीढ़ी-पर-पीढ़ी चल रही देवमालाओं की अद्‌भुत कथाओं में श्रीकृष्ण अमर हैं। भारत की संस्कृति के साथ साथ, राजा प्रजा दोनों की हितसाधक साम्राज्य-नीति के साथ साथ, वे अमर हैं। जहाँ राजाओं के "परम दैवत" होने के सिद्धान्त का खण्डन होगा, वहाँ कृष्ण का नाम आयेगा। जहाँ ऐसे राज्य की चर्चा होगी जिसके नीचे प्रत्येक राष्ट्र अपनी आन्तरिक नीति में स्वतन्त्र हो, वहाँ कृष्ण की पुण्य स्मृति को अर्घ दिया जायगा। कृष्ण ने यह सब कुछ तो किया ही, सारे साम्राज्य के कर्ता-धर्ता कृष्ण ही थे परन्तु उनका महत्त्व इन सारी सफलताओं से अधिक इस बात में था कि आरम्भ से अन्त तक सारी लीला का सूत्रधार होते हुए भी स्वयं लीला से अलग थलग खड़े साक्षी बने साधारण

जनों की तरह तमाशा देखते रहे। पूजा के अधिकारी वे इस पराकाष्ठा के थे कि उनका नाम ही अपने पूर्वजों की तरह दाशार्ह—अर्घ देने लायक़—हो गया था। परन्तु जब अश्वमेध के समय साम्राज्य की नींव पक्की हुई, उसका भव्य भवन अविचल रूप से खड़ा हो गया, तो अर्घ दिये जाने का विरोध उन्होंने स्वयं कर दिया और इस विरोध में भी पूर्वाभ्यास के अनुसार अर्जुन के एलची हुए। निर्मम होने का श्रेय भी तो नहीं लिया। यह वास्तविक निर्ममता की पराकाष्ठा थी। फिर यदि शिकारी को अपने प्राणों की हत्या के लिए क्षमा कर दिया हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? क्षत्रिय के लिए वन में मरना उतना ही श्रेयस्कर है जितना रणक्षेत्र में। शास्त्रानुसार यह गति भी वीरगति ही है।

अर्जुन ने उनके देह का दाह कराया[1]। चन्दन और विविध प्रकार के सुगन्धित द्रव्य चिता पर डाले गये। इससे चिता महक उठी। परन्तु कृष्ण की विशेष महक उनके सत्कार्यों की अमरकीर्ति थी, जो अब तक चारों ओर

---

१. ततः शरीरे रामस्य वासुदेवस्य चोभयोः।
अन्विष्य दाहयामास पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ ३१ ॥
अदहच्चन्दनैश्चैव गन्धैरुच्चावचैरपि ॥ २५ ॥
मौसलपर्व ७

फैल रही है। और संसार में धार्मिक शासन की आवश्यकता के साथ साथ फैली रहेगी।[1]

---

१. श्रीकृष्ण की आयु उनके देहावसान के समय क्या थी, इसका ठीक पता लगाना कठिन है। श्रीमद्भागवत में यादवों के नाश से पूर्व ब्रह्मदेव श्रीकृष्ण से कहते हैं।

यदुवंशेऽवतीर्णस्य भवतः पुरुषोत्तम।
शरच्छतं व्यतीयाय पञ्चविंशाधिकं प्रभो॥

श्रीमद्भागवत ११,६,२५

"हे पुरुषोत्तम! हे प्रभो! यदुवंश में अवतार लिये आपको १२५ वर्ष हो गये।"

यदि ब्रह्मदेव के इस कथन और श्रीकृष्ण के शरीर छोड़ने के समय में अधिक अन्तर न पड़ा हो तो उनकी आयु उनके निर्वाण के समय १२५ वर्ष तो होगी ही। हम ऊपर बता चुके हैं कि महाभारत के युद्ध के ३६ वर्ष पश्चात् श्रीकृष्ण ने परलोक प्रस्थान किया था। स्त्रीपर्व में गान्धारी कहती है:—

त्वमप्युपस्थिते वर्षे षट्त्रिंशे मधुसूदन।
कुत्सितेनाप्युपायेन निधनं समवाप्स्यसि॥

स्त्रीपर्व २५,४४

यदि भागवत में आया ब्रह्मदेव का उपर्युक्त कथन ठीक माना जाय तो युद्ध के समय श्रीकृष्ण की आयु १२५-३६ = ८९ वर्ष होगी। परन्तु स्वयं महाभारत में द्रोण को मरते समय—

आकर्णपलितः श्यामो वयसाशीतिपञ्चकः।

द्रोणपर्व १९४,४३

अर्थात् कानों तक सफेद बालोंवाला श्याम-वर्ण का तथा पचासी बरस का कहा है। अन्यत्र इन्हीं द्रोण को युद्ध के बीच में कर्ण ने

आचार्यः स्थविरो राजन् शीघ्रयाने तथाऽक्षमः ।
बाहुव्यायामचेष्टायामशक्तस्तु नराधिप ॥

"स्थविर" अर्थात् बूढ़ा "शीघ्र चलने में असमर्थ" तथा "बाहुओं की कसरत में अशक्त" कहा है। श्रीकृष्ण युधिष्ठिर से छोटे थे और युधिष्ठिर द्रोण का शिष्य था। इसलिए उस युद्ध के समय जब द्रोण की आयु ८५ वर्ष की थी, कृष्ण की आयु ८६ वर्ष मानना असंभव है। कृष्ण तो न उस समय बूढ़े थे और न अर्जुन आदि के गुरुओं से बड़े ही। वे अर्जुन के सखा थे। जो खुला हेल-मेल उनका युधिष्ठिर से न था, वह अर्जुन से था। यह बात संभवतः उनकी तथा अर्जुन की आयु बराबर होने के कारण थी।

ब्रह्मपुराण तथा विष्णुपुराण में निम्नलिखित श्लोक मिलता है:—

भारावतारणार्थाय वर्षाणामधिकं शतम् ।
भगवानवतीर्णोऽत्र त्रिदशैः संप्रसादितः ॥

विष्णुपुराण अंश ६ अ० ३७ श्लोक १७

अर्थात् "देवताओं की प्रार्थना से भगवान् पृथिवी का भार उतारने को एक सौ वर्ष से अधिक अवतीर्ण रहे।"

टीकाकार सौ वर्ष से अधिक का अर्थ "पंचविंशाधिकम्" करता है। इसमें उसका प्रमाण उपर्युक्त भागवत का श्लोक ही है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ब्रह्म-पुराण तथा विष्णु-पुराण भागवत-पुराण से प्राचीन हैं। इसलिए उनका अर्थ करने में भागवत निश्चायक प्रमाण नहीं हो सकता। सौ वर्ष से अधिक का साधारण अर्थ साधारण भाषा में १०० से दो ही चार वर्ष ऊपर किया जाता है।

उद्योग-पर्व में अर्जुन के खाण्डव-दाह का वर्णन करते हुए कहा है:—

त्रयस्त्रिंशत् समाः सूत खाण्डवेऽग्निं समर्पयत् ।

उद्योग० ५१, १०

अर्थात् "(अर्जुन) ३३ वर्ष खाण्डव में आग लगाता रहा।" परन्तु स्वयं खाण्डव-दाह के प्रकरण में अग्नि-काण्ड का सारा काल १५ दिन बताया गया है, यथाः—

तद्वनं पावको धीमान् दिनानि दश पञ्च च ।
ददाह कृष्णपार्थाभ्यां रक्षितः पाकशासनात् ॥

आदिपर्व २३०-४४

प्रतीत यह होता है कि उद्योग-पर्व के उक्त श्लोक का पाठ "त्रयस्त्रिंशत् समाः" के स्थान में "त्रयस्त्रिंशत्समः" अर्थात् "३३ वर्ष की आयु का (अर्जुन)" होगा। इसी समय उसे गाण्डीवधनुष की प्राप्ति हुई थी।

विराट-पर्व में बृहन्नला के वेष में अर्जुन गाण्डीव का प्रदर्शन करता हुआ कहता है:—

पार्थस्तु पञ्च षष्टिञ्च वर्षाणि श्वेतवाहनः ।

विराट ४३,८।

अर्थात् "अर्जुन ने इसे ६५ वर्ष धारण किया।" यदि खाण्डव-दाह से विराट-नगर में जाने तक अर्जुन को ६५ वर्ष व्यतीत हो गये हों तो उस समय उसकी आयु ३३+६५ होगी अर्थात् ९८ साल। युद्ध इसके पश्चात् हुआ है। दूसरे शब्दों में अर्जुन अपने आचार्य से कम-से-कम १२ साल बड़ा हो जायगा। यह भी असंभव है। और यदि खाण्डव-दाह के समय इसकी आयु २० वर्ष भी हो, जो द्रौपदी का स्वयंवर जीतने आदि की पूर्व-घटित घटनाओं को ध्यान में रखते हुए बहुत थोड़ी है, तो भी युद्ध में यह २०+६५=८५ वर्ष का होगा अर्थात् आचार्य्य का समवयस्क। इससे खाण्डव-दाह से लेकर विराट-नगर में निवास करने तक तो क्या, युद्ध तक भी अर्जुन के गाण्डीव-धारण का समय ६५ वर्ष नहीं हो सकता। प्रतीत यह होता है कि महाभारतकार ने अर्जुन के गाण्डीव-धारण का सारा समय

अर्थात् खाण्डव-दाह से श्रीकृष्ण के निर्वाण तक का काल बृहन्नला के मुख से कहलवा दिया है। इस उक्ति के स्थान तथा समय के औचित्य का ध्यान उसे नहीं रहा। ऐसी अवस्था में ९८ वर्ष अर्जुन की लगभग सारी आयु हो सकेगी। और श्रीकृष्ण की आयु इससे दो एक वर्ष ऊपर अर्थात् ब्रह्म-पुराण और विष्णु-पुराण के अनुसार १०० वर्ष से कुछ ही अधिक होगी। युद्ध के समय इस हिसाब से अर्जुन ६२ वर्ष का, और कृष्ण ७० से नीचे के होंगे। आचार्य की आयु से अर्जुन का अन्तर २३ वर्ष का और कृष्ण का इससे कुछ कम का होगा। यह आयु विश्वस्य भी है और ब्रह्म-पुराण तथा विष्णु-पुराण के उल्लेखों के अनुकूल भी।

पुराणों का बाल-गोपाल

श्रीकृष्ण का चरित पुराणों में वर्णित है। परन्तु महाभारत के कृष्ण-चरित्र और पुराणों के कृष्ण-चरित्र में बहुत कम समानता पाई जाती है। जैसे हम भूमिका में कह आये हैं, महाभारत में श्रीकृष्ण के सार्वजनिक जीवन को लिया गया है। युधिष्ठिर के साम्राज्य की स्थापना श्रीकृष्ण के जीवन का लक्ष्य था। उस लक्ष्य की सिद्धि ही श्रीकृष्ण के जीवन का चमत्कार था। पुराणकारों की दृष्टि से यह लक्ष्य समय के दीर्घ अन्तर ने ओझल कर दिया है। किसी चमत्कारी पुरुष के बाल-काल की साधारण घटनाओं में भी आगे जाकर चमत्कार प्रतीत होना स्वाभाविक है। स्वयं महाभारत में इन घटनाओं की ओर संकेत हैं। शिशुपाल इनकी जी खोल कर हँसी उड़ाता तथा अवहेलना करता है, जिससे स्पष्ट प्रकट होता है कि कुछ लोगों को महाभारत-काल में ही इन घटनाओं में कुछ अद्भुत विभूति प्रतीत होने लगी थी। इसके विपरीत पुराणों का मुख्य विषय ही कृष्ण का बाल-काल है। वे इसी की विभूति पर मस्त हैं। दृष्टिकोणों के इस स्पष्ट भेद को ध्यान में रखते हुए श्रीकृष्ण के चरित्र-लेखक को इन दोनों कथा-स्रोतों का प्रयोग करना आवश्यक है। वस्तुतः

महाभारत और पुराण श्रीकृष्ण के जीवन-वृत्तान्त के सम्बन्ध में एक दूसरे की पूर्त्ति करते हैं। श्रीमद्भागवत में इन दोनों कथा-विभागों को मिलाने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु पुराणकार आख़िर पुराणकार ही तो है । वह महाभारत के उदात्त मानव आदर्श को सम्मुख न रख कर देव-लीलाओं की अलौकिक कल्पनाओं के आकाश में बिना पंख के उड़ गया है। पार्थिव साम्राज्य पुराणकारों के समय में कोई महत्त्व की वस्तु था ही नहीं। राजनीति, और जाति तथा देश का संगठन, व्यवहारी मनुष्यों का व्यापार था। श्रीकृष्ण देवता थे। उनकी विभूति मानवेतर कार्यों ही में प्रकट हो सकती थी। पौराणिक वृत्तान्त की विशेषता यही मानवेतरता है। तो भी जैसे हमने कहा, वर्णन-शैली की इस विशेषता को ध्यान में रखते हुए इस अलौकिक वृत्तान्त में भी एक विज्ञ पाठक कुछ वास्तविक घटनाओं की झाँकी पा सकता है।

श्रीकृष्ण का जीवन निम्नलिखित पुराणों में वर्णित है:—

(१) ब्रह्मपुराण—अध्याय १८१ से आगे।

(२) विष्णुपुराण—अंश ५, अध्याय १-३८

विष्णुपुराण में ब्रह्मपुराण से कुछ अधिक प्रकरण हैं। शेष इन दोनों पुराणों का वृत्तान्त एक से ही शब्दों में एक ही प्रकार से वर्णित है।

(३) पद्मपुराण—उत्तरखण्ड अ० २७२-२७९

(४) हरिवंश—अध्याय ५१-१९०

(५) ब्रह्मवैवर्त्तपुराण—श्रीकृष्ण जन्म-खण्ड

(६) भागवतपुराण—स्कंध १०,११

(७) वायुपुराण—अध्याय ९६

(८) देवीभागवतपुराण—स्कन्ध ४ अध्याय १८-२५

(९) अग्निपुराण—अध्याय १२

(१०) लिङ्गपुराण—अध्याय ६०

जैसे हम ऊपर कह आये हैं, ब्रह्मपुराण और विष्णुपुराण के तो शब्द ही प्राय: एक से हैं। शेष पुराणों में घटनायें चाहे साधारणतया एक सी हैं परन्तु घटनांश सब एक से नहीं। पुराणों का आधार महाभारतोत्तरकाल की जनश्रुतियाँ हैं। जनश्रुतियों में विभिन्नता होनी स्वाभाविक थी। यही विभिन्नता पुराणों के वृत्तान्त में पाई जाती है। हम नीचे पुराण-कल्पित कतिपय घटनाओं को लेकर भिन्न भिन्न पुराणों में उल्लिखित उन घटनाओं के भिन्न भिन्न स्वरूपों का दिग्दर्शन-मात्र करायेंगे। यह इसलिए कि पाठक कृष्ण-चरित्र के मूल-स्रोतों की वर्तमान अवस्था से परिचित हो सकें और लेखक के उक्त परिणामों की यथार्थता को अनुभव कर सकें।

पुराणों में किसी भी अवतार के जन्म से पूर्व पृथिवी को देवसभा में जाना तथा अपने दु:खों की पुकार करनी होती है। भगवान् का अवतार इसी पुकार का परिणाम होता है। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में भी यह घटना हुई है।

परन्तु प्रत्येक पुराण की इस अवतरणिका का घटना-क्रम कई अंशों में भिन्न है। संभवतः प्रचलित रीति का अनुसरण-मात्र ही लक्ष्य में रखकर प्रत्येक लेखक ने अपनी कल्पना की उड़ान का रास्ता स्वतन्त्र निश्चित किया है।

ब्रह्मवैवर्त, श्रीकृष्ण के किसी मानवी माता के गर्भ में आने को सहन नहीं कर सका। उसके कथनानुसार देवकी के गर्भ में "वात" का आवास था। देवकी की मूर्च्छा में "वायु" के निकलते ही श्रीकृष्ण उसके सम्मुख आ खड़े हुए। इसके विपरीत भागवत, ब्रह्म, विष्णु, पद्म, हरिवंश तथा देवीभागवत भगवान् के मानवीय ढंग के जन्म ही का वर्णन करते हैं।[1]

ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, वायुपुराण, पद्मपुराण, भागवत, अग्नि और लिङ्ग जन्मकाल में श्रीकृष्ण को चतुर्भुज कहते हैं परन्तु ब्रह्मवैवर्त्त में इन्हें द्विभुज और मुरलीहस्त कहा गया है।[2] ब्रह्मपुराण तथा विष्णुपुराण में श्रीकृष्ण का परिवर्त्तन नन्द

---

१. निस्ससार च वायुश्व ७.१-७४, १७३
ब्रह्म १८१. ३२-१८२. ११ विष्णु १.७५-३.७
पद्मपुराण २७२. २५-३८ हरिवंश ५७-६०
वायु ९६.१९२-२०२ देवीभागवत ५३. २३-२१

२. श्रीकृष्ण के जन्म का वर्णन ब्रह्माण्डपुराण १८१. ३२-१८२-११ विष्णु १. ७५-३. ७, पद्म २७२. २५-३८, हरिवंश ५७-६०, ब्रह्म-वैवर्त्त ७. १-७४ भागवत १. २७-३. ८, वायु ९६. १९२-२०२, देवी-भागवत २०. ५३-२३.२१, अग्नि १२. ४-६, लिंग ६९. ४६-४८ में है।

की तत्काल उत्पन्न हुई कन्या योगमाया से यशोदा की मूर्छा-दशा में वसुदेव ने स्वयं कर लिया है। परन्तु देवीभागवत में नन्द के दरवाज़े पर खड़ी एक सैरंध्री यह पुण्य-कार्य करती है। वायुपुराण तथा विष्णुपुराण में यह घटना यशोदा के ज्ञान से होती है।[1]

अन्यपुराणों में योगमाया को कंस पटक कर मार देते हैं। परन्तु ब्रह्मवैवर्त्त में इसे उसके माता पिता को लौटा देते हैं और वह कृष्ण के रुक्मिणी के साथ विवाह के समय उपस्थित होती है।

हरिवंश में पूतना कंस की धात्री है। उसका रूप पक्षी का है। ब्रह्मवैवर्त्त में वह कंस की बहिन है। और उसका रूप ब्राह्मणी का है।[2]

ऊखल से बाँधे जाने का कारण ब्रह्मवैवर्त्त तथा पद्म में श्रीकृष्ण का मक्खन खाना है, परन्तु भागवत में यशोदा से ऐसे समय जब कि वह दही बिलो रही थीं, दूध पीने की याचना करना है।[3]

---

१. श्रीकृष्ण के गोकुल ले जाये जाने का वर्णन ब्र० १८२. १२-३२, वि० ३, ८-२९, पद्म २७२.३९-५८, हरिवंश ६०, ब्र० वै० ७. ७५-१३२, भागवत ३. ६-४-१३, वायु ९६, २०३-२१०, दे० भा० २३-२२-४८, अ० १२. ७-१३, लि० ६९. ४९-६१ में है।

२. पूतना की घटना ब्र० १८४. ७-२१, वि० ५. ७-२३, प० २७२. ७४-८२, ब्र० वै० १०, भा० ६, ह० ६३ में दी है।

३. ऊखल की घटना ब्र० १८४,२१-४२, वि० ६,१८-२०, प० २७२, ८९-९७, ह० ६४, ब्र० वै० १४, भा० ६-१० में वर्णित है।

ब्रह्म और विष्णुपुराण में व्रज से वृन्दावन प्रस्थान करने के पश्चात् कृष्ण और बलराम सात वर्ष के हुए। हरिवंश के अनुसार व्रज ही में इनकी आयु सात वर्ष की थी।[१]

ब्रह्मवैवर्त्त में प्रलम्बासुर एक बैल है। ब्रह्म, विष्णु और हरिवंश में मनुष्य।[२]

ब्रह्मपुराण तथा विष्णुपुराण में रास-लीला का वर्णन है। हरिवंश में केवल गोपियों की इच्छा का उल्लेख है। और पद्म-पुराण तो भगवान की सर्व-व्यापकता के आश्रय उनके परस्त्री-संसर्ग में दोष ही नहीं देखता। ब्रह्म-वैवर्त्त श्रीकृष्ण के "किशोर-चरित" की समाप्ति उनके एक मास भर की उक्त क्रीड़ा के साथ कर देता है।[३]

अन्य पुराणों का कहना है कि वृषासुर को श्रीकृष्ण ने, उसका अपना सींग उखाड़ कर और उसी से उस पर प्रहार कर, मार दिया। पद्मपुराण इस प्रहार का साधन एक ताड़ के वृक्ष को बताता है। ऐसा ही भेद अश्वासुर के मारने के प्रकार में भी पाया जाता है।

---

१. वृन्दावन-प्रस्थान की घटना ब्र० १८४. ४२-६०, ह० ६५

२. प्रलम्बासुर की घटना ब्र० १८७. १-३०, वि० ६. १-३०, प० २७२. १४०-१४३, ह० ७१, ब्र० वै० १६. १४-१६, भा० १८. १७-३२

३. रासलीला ब्रह्माण्ड १८६. १-४५, वि० १३, प० २७२. १५८-१८०, ह० ७७, ब्र० वै० २८-५३, भा० २६-३३

ब्रह्म, विष्णु तथा हरिवंश में श्रीकृष्ण के सन्दीपनि के पास अध्ययन का काल चौंसठ दिन लिखा है। श्रीकृष्ण ने गुरु-दक्षिणारूप में सान्दीपनि का मरा हुआ बालक जिला दिया है। ब्रह्मवैवर्त्त में शिक्षा का काल एक मास है और गुरु-पुत्र के संजीवन का उल्लेख है ही नहीं।[1]

रुक्मिणी ने विवाह का सन्देश पद्म-पुराण के लेखानुसार पुरोहित-पुत्र के हाथ भेजा था, ब्रह्मवैवर्त्त के अनुसार सुधर्मा नाम ब्राह्मण के हाथ यह सन्देश रुक्मिणी के पिता भीष्मक ने भेजा था। कुण्डिनपुर के द्वार पर श्रीकृष्ण का रुक्मी के साथ युद्ध हुआ। रुक्मी हार गया। भीष्मक ने उसका उचित स्वागत कर उसके साथ रुक्मिणी का विवाह कर दिया। परन्तु अन्य पुराणों में इस विवाह को "राक्षस-विवाह" कहा है।[2]

ब्रह्म, विष्णु तथा हरिवंश में केवल रुक्मिणी के पेट से पैदा हुए लड़कों के नाम दिये हैं। परन्तु अन्य पुराणों में अन्य

---

१ सान्दीपनि के पास अध्ययन —

ब्र० १६४. १८-२२, वि० ८१. १८-३१, प० २७३. १-५, ह० ६०, ब्र० वै० ६६. १०२, भा० ४५. २६-५० ।

२. विवाह—ब्र० १६६. १-११, वि० २६. १-११, प० २७४. १३-२७५. १६, ह० १०४-१०६, ११७-११८, ब्र० वै० १०५-१०६, भा० ५३. १६-५४. ६० ।

स्त्रियों की सन्तानें भी बताई हैं। उन सन्तानों की संख्या बहुत अधिक हो गई है।

सुदामा के साथ सखित्व का वृत्तान्त भागवत ४१ ब्र० वै० ११३-४० तथा पद्मपुराण में दिया गया है। ये सभी पुराण नवीन हैं। इनसे पुरानी पुस्तकों में इस सखित्व का वर्णन नहीं है। भागवत में इस मित्र का नाम कुचेल है। सुदामा मथुरा के एक मालाकार का नाम है।

इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन से पता लगता है कि श्रीकृष्ण का बाल-चरित अनिश्चित जनश्रुतियों के रूप में ही पुराणकारों को प्राप्त हुआ था। उन्होंने उसी को अपनी कल्पना के आलोक में चमका कर जनता की मुग्ध श्रद्धा का पात्र बना दिया। फलत: भक्तों का ध्यान श्रीकृष्ण के साम्राज्य-संस्थापन जैसे महान् तथापि मानव-कार्य से हट कर उनकी मानवेतर बाल-काल की अलौकिक लीलाओं पर ही जम गया।

वंकिम पुराणोक्त कथाओं की यथार्थता स्वीकार नहीं करते। ये महानुभाव श्रीकृष्ण को ईश्वर का अवतार मानते हैं परन्तु महाभारत की पहली तह में जिसे इन्होंने श्रीकृष्ण की जीवनी के सम्बन्ध में सबसे अधिक प्रामाणिक कृति माना है, इनका कहना है कि—

"पहली तह में कृष्ण ईश्वर या विष्णु के अवतार कहीं नहीं माने गये हैं। उन्होंने स्वयं भी अपना ईश्वरत्व कहीं

नहीं माना है। कृष्ण ने मानुषी शक्ति के अतिरिक्त दैवी-शक्ति से कहीं कोई काम नहीं लिया है।"

हमने इस विषय को इस ग्रन्थ में नहीं छेड़ा। संभवतः इसका उपयुक्त स्थान गीता की व्याख्या में हो।

पुराणकार उपर्युक्त घटनाओं का वर्णन बड़ा धूम-धाम से करते हैं। हमारे संक्षिप्त संकेतों में संभवतः पुराण-कथित बाल-गोपाल को कथा का पूरा तो क्या अधूरा उल्लेख भी नहीं हो सका। बीज-रूप में संभवतः ये घटनायें ऐतिहासिक हों, परन्तु इनका विस्तार, जैसे स्वयं भिन्न भिन्न पुराणों में आये वृत्तान्तों के पारस्परिक भेदों से स्पष्ट है, काल्पनिक ही है। इन कल्पनाओं का स्थान किसी उपन्यास में हो सकता है, इतिहास में नहीं। कुछेक कल्पनायें वस्तुतः बहुत मधुर—अत्यन्त मनोहर हैं।

———

देश-विदेश के बाल-गोपाल

बाल कृष्ण का पौराणिक चरित्र इतना सर्वप्रिय हुआ है कि भारत तो भारत, अन्य देशों में भी इसे पूरी आस्था से अपनाया गया है। या तो पुराणकार सभी देशों के एक ही ढङ्ग से सोचते हैं, एक सी कथायें गढ़ते हैं, या फिर एक देश की मनोरम कल्पना का प्रतिबिम्ब सभी देशों की देवगाथाओं के आईने पर पड़कर सर्वत्र एक समान चमक उठा है।

(१)

फारिसियों का पहला राजा सैरस, मीड राजा आस्टेजिस का दोहता, उसकी पुत्री मैंडेस का पुत्र था। आस्टेज को कंस की भाँति देववाणी ने सचेत किया था कि मैंडेस की सन्तान तेरा राजसिंहासन तुझसे छीन लेगी। उसने मैंडेस का विवाह एक साधारण पुरुष से कर दिया। देववाणी उसे फिर हुई। अब मैंडेस को गर्भ हो चुका था। जब उसके पुत्र का जन्म हुआ तो उसे मार डालने पर महामन्त्री की नियुक्ति हुई। परन्तु उसने राजकन्या के पुत्र को स्वयं मारने के स्थान में इस कार्य का भार एक ग्वाले के कंधों पर डाल दिया। ग्वाले के घर एक मरा हुआ बालक पैदा हुआ था। ग्वालिन ने अपना मरा हुआ

बच्चा पति को दे दिया और उसके स्थान में राजा के दोहते से अपनी शून्य गोदी को हरा-भरा किया। वज़ीर को मरा हुवा बच्चा दिखा दिया गया और वह सन्तुष्ट होकर वापस लौट आया। राजा आस्टेज दूसरा कंस और यह ग्वालिन दूसरी यशोदा ही तो है।

(२)

रोम नगर के संस्थापक दो यमज-भाई थे—रोम्यूलस और रेमस। ये न्यूमिटर की कुमारी लड़की की सन्तान थे। लड़की ने वेस्टा देवता की पुजारिन बनकर आयु-पर्यन्त कुमारी रहने का व्रत लिया था। परन्तु मार्स देवता ने उसके गर्भाधान कर दिया। लड़की के पिता को उसके भाई ने राज-सिंहासन से च्युत कर प्रवासित कर दिया था। वर्तमान राजा को जो लड़की का चाचा था, भतीजी के सन्तान हो जाने पर क्रोध आया। उसने इन्हें सन्दूक़ में बंद करा कर टैबर नदी में डाल दिया। समय गुज़रने पर ये एक गड़रिये के हाथ में जा पड़े। उसने इनका पितृवत् पालन-पोषण किया। राजा को पता लगा तो उसने इन्हें पकड़वा मँगाया। परन्तु इन्होंने कुछ तो अपने पराक्रम से, और कुछ मित्रों की सहायता से स्वयं राजा को मार डाला और अपने प्रवासी नाना का खोया हुआ राज्य उसे फिर दिला दिया, जैसे श्रीकृष्ण ने उग्रसेन को दिलाया था। इनका बाल-काल वर्तमान रोम के आस-पास बीता था। वहाँ इन्होंने नगर बसा कर अपनी राजधानी वहीं स्थापित की।

(३)

पुराने प्रतिज्ञा-पत्र में वर्णित मूसा का वृत्तान्त भी श्रीकृष्ण के शिशु-काल के वृत्तान्त से मिलता-जुलता सा है। मिस्र के राजा की आज्ञा से उसे एक किश्ती में डालकर नील दरिया में फेंक दिया जाता है। वह राजा की पुत्री के हाथ जा पड़ता है। स्वयं राज्ञी उसका पालन करती है। बड़ा होने पर उसके पार गुज़र जाने के लिए नील नदी दो टूक हो जाती है। इस कथा में घटनाओं का क्रम बदल गया है। परन्तु मुख्य मुख्य घटनायें, यथा घर से प्रवास और दरिया का दो टूक होना, हैं वही, जो कृष्ण के बाल-काल में घटी थीं।

(४)

वर्तमान लेखक अपनी अफ़्रीका-यात्रा में युगांडा नाम प्रान्त में पहुँचा। वहाँ के सम्बन्ध में एलबर बो० लायड ने स्वरचित पुस्तक "युगांडा से ख़र्तूम" में एक कथा लिखी है जो श्रीकृष्ण के चरित से मिलती-जुलती है। कथा यह है:—

बन्योरो राजा बन्दूदू ने नियम बनाया था कि उसकी किसी कन्या का विवाह न होगा। उसके एक लड़की हुई नीनंवीरो। उसके घर के चारों ओर बाड़ लगा दी गई। उस बाड़ में आने-जाने का कोई रास्ता न था। नृदेव ईसिंव्वा उस बाड़ के ऊपर से नीनंवीरो के पास गया

और चार दिन उसके पास रहा। नीनंवोरो के बच्चा हुआ जिसे उसने एक दासी द्वारा एलबर्ट झील में फेंकवा दिया। लड़के का नाम न्दाहुरा था। उसे किसी ग्वाले ने पाला। उसी ग्वाले के पास राजा की गायें रहती थीं। एक दिन राजा अपनी गायों को देखने गया। वहाँ न्दाहुरा ने अवसर पाकर उसे मार डाला और स्वयं राज-सिंहासन पर बैठ गया। उसके समय राज्य को बड़ी समृद्धि प्राप्त हुई।

———

इन कथाओं में पौराणिक बाल-गोपाल की प्रतिकृति स्पष्ट है। मूल-कथा का जन्म कहीं हुआ हो, उसकी मनोहरता में सन्देह नहीं है। श्रीकृष्ण के बाल-चरित के कुछ भागों की सुन्दरता सार्वभौम है। भारत का विशेष कृष्ण जिसको किसी ने चुराया नहीं और जिसकी नक़ल हो सकनी असंभव है, महाभारत का कृष्ण है। बाल-कृष्ण कविता की वस्तु है, प्रौढ़ तथा वृद्ध कृष्ण वास्तविक जीवन की। हमारा नमस्कार दोनों को है। इस जीवनी में हमने दोनों अंशों का यथायोग्य समन्वय कर दिया है। पाठक अपनी अपनी रुचि के अनुसार कृष्ण की स्वाभिमत विभूति को अर्घ्य दें। इन दो विभागों में कोई विरोध नहीं। ये विभाग तो जैसे हम ऊपर कह आये हैं, एक दूसरे के पूरक हैं। इनका समन्वय हो सकता है और वही हमने किया है।

हमारा अर्घ उस श्रीकृष्ण को है जिसने युधिष्ठिर के अश्वमेध में अर्घ स्वीकार नहीं किया। साम्राज्य की स्थापना फिर से कर दी है, परन्तु स्वयं उससे निर्लेप, निस्संग रहा है। यही वस्तुतः योगेश्वर श्रीकृष्ण का योग है।

अनुक्रमणिका

(मुख्य नामों, विषयों, परिभाषाओं, उद्धृत ग्रन्थों और उनके लेखकों की)